समकालीन पाश्चात्य दर्शन

सम्पादक

यशदेव शल्य

चांदमल शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान : जोधपुर

एकाधिकारी वितरक

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-पटना

प्रथम सस्करण १,००० प्रतियाँ

जून-१९७०

मूल्य २० रुपये

प्रकाशक : दर्शन प्रतिष्ठान, जोधपुर

मुद्रक : हिमालय प्रिण्टर्स, खाण्डा फलसा जोधपुर

आभार-प्रदर्शन

इस संकलन में संकलित किये गये लेखो के अनुवाद प्रकाशित करने के लिये अधिकार देने के लिये हम निम्नलिखित प्रकाशको के प्रति आभारी हैं

फ्रेगे के "ऑन सेंस एंड रेफरेंस" (फिलासफी ऑफ गेट्टलॉब फ्रेगे) राइल के 'सिस्टमेटीकली मिस्लीडिंग एक्सप्रेशन्स" (लोजिक एंड लेंग्वेज, भाग १) तथा ऑस्टिन के "अदर माइंड्ज" (लोजिक एंड लेंग्वेज, भाग २) के लिये बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड के प्रति, क्वाईन के "ऑन व्हाट देयर इज" तथा 'टू डाग्माज ऑफ एम्पिरिसिज्म" (फ्राम ए लोजिकल प्वाईंट आफ व्यू) के लिये हार्वार्ड यूनीवर्सिटी प्रेस के प्रति, मूर के 'ए डिफेंस ऑफ कामन सेंस" (कांटेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी, भाग २) तथा रसल के 'लोजीकल एटोमिज्म" (कांटेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी, भाग २) के लिये ज्योर्ज एलन एंड अन्विन, लंदन के प्रति, मूर के "रिफ्यूटेशन आफ आइडियलिज्म" (फिलासफीकल स्टडीज) के लिये रटलज एंड केगन पॉल, लंदन के प्रति तथा हाईडेग्गर के "आन दि एस्सेंस ऑफ ट्रूथ" तथा "वाज फस्ट मैटाफिजीक्स ?" (एग्जिस्टेंस एंड बीइंग) के लिये वियन प्रेस, लंदन के प्रति।

यशदेव शल्य

चांदमल शर्मा

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्रस्तुत सकलन की योजना प्रो० दयाकृष्ण ने १९६५ मे तैयार की थी और मुझे लिखा था कि यदि इन निबन्धो का हिन्दी में अनुवाद करवा कर इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा सके तो इससे विद्यार्थियों का बहुत हित होगा । वे यह सकलन राजस्थान विश्वविद्यालय की दशन की स्नातकोत्तर कक्षा के पाठ्यक्रम में रखना चाहते थे । मैंने उनका यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया और इसके प्रकाशन तथा सम्पादन का सब दायित्व, उनकी इच्छानुसार, अपने ऊपर ले लिया । किन्तु क्रमश मैंने अनुभव किया कि यह दायित्व उससे कहीं अधिक गुरुतर था जितने की कल्पना मैंने की थी। प्रकाशकों से इन लेखों के अनुवादाधिकार प्राप्त करने का सम्पूर्ण दायित्व दयाजी ने लिया, जो कि अपने आप में पर्याप्त श्रमसाध्य काय था। किन्तु अनुवाद करवाना और उसकी जाच करना, सम्पादकीय लिखना तथा प्रकाशन की व्यवस्था करना, ये काम मेरी व्यस्तता की उस स्थिति मे मेरे सामथ्य से अधिक थे । परिणामत मैंने चादमलजी के सहयोग का आह्वान किया, जोकि निस्सकोच उन्होंने मुझे दिया । इस प्रकार यह सकलन तीन के परिश्रम का फल है, यद्यपि उतना सुफलित यह तब भी नहीं कहा जा सकता जितना ऐसी अवस्था में इसे होना चाहिये था। इसमे सब लेखो के अनुवाद मैं नहीं देख सका हूँ, इसलिये अनुवाद में किसी भी त्रुटि के लिये मैं ही उत्तरदायी रहूँगा ।

एक त्रुटि लेखो की व्यवस्था में भी रह गयी है जे एल आस्टिन का लेख "अन्य मनस" हाइडेग्गर के लेखों से पूर्व होना चाहिये था, किन्तु यह लेख जिसे अनुवाद के लिये प्रथमत दिया गया था उसने न केवल अनुवाद विलम्ब से करके दिया बल्कि असन्तोषजनक भी किया। परिणामत प्रकाशन में विलम्ब को बचाने के लिये, जो कि पहले ही बहुत अधिक हो गया था, हाइडेग्गर के लेख आस्टिन के लेखो से पहले रख दिये गये ।

इस सग्रह में हाइडेग्गर के लेख असमजस भी प्रतीत हो सकते हैं । किन्तु इनका समावेश अस्तित्ववाद को प्रतिनिधित्व देने के लिये किया गया है, अपर्याप्त प्रतिनिधित्व ही चाहे यह हो ।

जैसाकि स्पष्ट है, इस पुस्तक के अस्तित्व में आने का मुख्य श्रेय दयाजी को ही है, और जिस प्रकार उन्होंने इसके प्रकाशन तक इसमे निरन्तर रुचि ली और एक लेख का अनुवाद तक किया, उसके लिये उनके प्रति विशेष अनुगृहीत अनुभव करना स्वाभाविक ही है। और तत्पश्चात् मेरा आभार चादमलजी के प्रति है जिन्होंने सम्पादन का उत्तरदायित्व वहन करने का मेरा प्रस्ताव सहज भाव से स्वीकार किया ।

फरवरी २८, १९७०

यशदेव शल्य

प्रवेश

समकालीन पाश्चात्य दर्शन : सर्वेक्षण

इस पुस्तक में संकलित सभी निबन्ध, हाइडेगर के अपवाद के साथ समकालीन आंग्ल अमरीकी दर्शन परंपरा के प्रमुखतम सम्प्रदाय के प्रतिनिधि हैं। इनके लेखक इस परम्परा के प्रमुखतम दार्शनिकों में से हैं। किन्तु बहुत से अन्य प्रमुख दार्शनिक तथा इस परम्परा के अन्य पक्षों के प्रतिनिधि निबन्ध इस संकलन में नहीं लिये जा सके हैं। वास्तव में इस दृष्टि से एक पर्याप्त संकलन का कलेवर इस संकलन से कम से कम तीन गुना होना आवश्यक होगा। विट्गिंस्टाईन, श्लिक, कार्नप, फाइग्ल, वेजमान, यूराथ, स्ट्रासन, हैम्पल, राइखनबाख और कॉल-पोपर प्रभृति बहुत से महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के निबन्ध इस संकलन में नहीं हैं। वास्तव में यह सूची इससे काफी बड़ी है। इतनी बड़ी सूची से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह एक दर्शन सम्प्रदाय कितना समृद्ध सम्प्रदाय है। यदि बीसवीं शताब्दी यूरोप के अन्य महत्त्वपूर्ण दर्शन-सम्प्रदायों और उनके प्रमुख दार्शनिकों की भी गणना की जाय तो यह सूची बहुत बहुत बड़ी होगी। इतने छोटे महाद्वीप में इतने थोड़े समय में—कहना चाहिये, दो ही पीढ़ियों में—इतने प्रमुख दार्शनिकों का आविर्भाव एक अद्भुत बात है।

आधुनिक यूरोप में, जिसके प्रवर्तक डेकार्ट कहे जाते हैं, दो विरोधी विचारधाराओं के बीच निरन्तर तनाव रहा है। ये हैं यथार्थवादी और आदर्शवादी विचारधाराएँ। 'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' संज्ञक कोई दर्शन सम्प्रदाय वास्तव में नहीं हैं इन नामों का प्रयोग हमने दो प्रकार की अभिवृत्तियों (एटीट्यूड्स के लिये किया है, जो विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में द्योतित होती हैं। स्वयं इन अभिवृत्तियों में किसी एक के व्यंजक दो सम्प्रदायों में परस्पर बहुत अन्तर है। उदाहरणतः आदर्शवादी धारा के अन्तर्गत कांट, लाइब्निज, हेगल, रूसो और बर्गसाँ में बहुत मूलगामी अन्तर है और दूसरी ओर रसल-पर्यन्त आंग्ल अनुभववादी परम्परा, अमरीकी प्रयोजनवादी (प्रेग्मेटिस्ट) परम्परा तथा यूरोपीय ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादी सम्प्रदाय तथा उत्तर विट्गिं-स्टाइनीय लोक-भाषावादी सम्प्रदायों में बहुत अन्तर है। यथार्थवादी धाराओं में रसल-पर्यन्त आंग्ल परम्परा और महाद्वीपीय (कांटीनेंटल) प्रत्यक्षवादी परम्पराओं में बहुत सामीप्य है, इतना अधिक कि इनकी तत्त्वमीमांसा प्रायः अभिन्न है, दर्शन का प्रयोजन तो दोनों एक ही मानते हैं—विज्ञान तथा लोक संज्ञान का विवेचन-विश्लेषण। रसल के शब्दों में—दार्शनिक का उद्देश्य "विज्ञान तथा दैनिक व्यवहार के संसार की व्याख्या करना होना चाहिये।" और कार्नप, जो कि आधुनिक प्रत्यक्षवाद के

प्रवर्तक दार्शनिकों मे प्रमुख हैं, दर्शन का कार्य विज्ञान की भाषा के तार्किक व्याकरण का अध्ययन मानते हैं। (द्रष्टव्य लॉजीकल साइटेक्स ऑफ लेंग्वेज, भूमिका) मूर यद्यपि विज्ञान के प्रति इतने चिन्तित नही थे, उन्होंने अपने आपको लोक सज्ञान तक सीमित रखा था, किन्तु इसमे सन्देह नही हो सकता कि लोक सज्ञान के आगे उनके लिये विज्ञान ही विचारणीय विषय हो सकता था। उन्होने लोक सज्ञान के जिन पक्षों को दर्शन के लिये विचारणीय पाया वह था ऐन्द्रिय विषय और नीति। नीति का अर्थ उनके लिये कोई धार्मिक-पारलौकिक सिद्धी साधना नही है, नीति यहाँ साधारण आचरण मे सत् असत् का निर्णय है। यह देखना रोचक बात है कि 'सत्" (गुड) को उन्होंने "पीत" के समान एक गुण माना—उससे भिन्न प्रकार का किन्तु तब भी उसके अनुरूप।

इग्लैड मे मूर और रसल के विद्यार्थी काल मे विश्वविद्यालयो मे हेगलवाद का बोल-बाला था। ये दोनो दार्शनिक भी पहले-पहल इसी के प्रभाव मे थे, किन्तु बहुत शीघ्र उन्होने इस सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होने अपने इस विद्रोह को निमुक्ति कहा है। उन्हे लगा जैसे मानो वे अज्ञान के कारावास से निकले हैं। परिणामत उनके आरभिक लेखो में इस मुक्ति का आनन्द और उत्साह झलकता हैं। मूर का यह उत्साह उनके भौतिक वस्तुओ की सत्ता को सिद्ध करने के लिये दिये गये नाटकीय तर्क में स्पष्ट झलकता है। उन्होने अपना हाथ उठाकर कहा, "यह मेरा हाथ है यह सिद्ध है और परिणामत बाह्य विषयो का ज्ञान निस्सन्दिग्ध हैं।" रसल का यह उत्साह उनके प्रत्येक लेख मे झलकता है और वह अब तक उतना ही उग्र है। उन्होने १९१४ मे लिखा था—"मेरे विचार मे सब दर्शन-सम्प्रदायो ने दर्शन की समस्याओ तथा विधि को गलत समझा था। इसकी बहुत सी पारपरिक समस्याएँ ऐसी हैं जो हमे उपलब्ध ज्ञान के साधनो से सुलझानी असभव हैं, जबकि कुछ दूसरी हैं जो यद्यपि कम महत्त्वपूर्ण नही हैं किन्तु तब भी जो दार्शनिको द्वारा उपेक्षित रही है, इन्हे अधिक कुशल विधि से धैर्य पूर्वक विचार कर उतने ही सम्यक् और निश्चित रूप से सुलझाया जा सकता है जितनी सम्यक्ता सर्वाधिक विकसित विज्ञानो मे हम पाते हैं।"[1] रसल के अनुसार ज्ञान के साधन ज्ञानेन्द्रिया हैं और कोई ज्ञान का साधन मनुष्य को उपलब्ध नही है। शायद वे बुद्धि को भी ज्ञान का साधन मानते हैं, किन्तु सब अनुभववादियो के समान इसे स्वीकार करने मे कठिनाई का अनुभव करते हैं। जो भी हो, दार्शनिक विधि के आदर्श के रूप में वे "सवेद के अनगढ प्रदत्तो और गाणितिक भौतिकी के देश, काल तथा भूत द्रव्य (मैटर) के बीच सम्बन्ध के विवेचन" को देखते हैं और गाणितिक भौतिकी, सवेद्य प्रदत्तो का प्रतीत होने से, बुद्धि का विषय ही हो सकती है। किन्तु तब भी रसल बुद्धि को ज्ञान का साधन नही मानते। वे गणित को निगमनात्मक, और इस प्रकार पुनरुक्त्यात्मक अवस्था मानते हैं।

रसल, मूर तथा अनुगामी अनुभववादियो (विट्गिंस्टाईन तथा तार्किक प्रत्यक्षवादियो)

---

१ बर्ट्रेंड रसल—आवर नोलेज आफ दि एक्स्टर्नल वर्ल्ड, पृ १३।

की ज्ञान के साधनों के प्रति इस दृष्टिकोण की परम्परा लॉक से आरम्भ होती है और ह्यूम में प्रौढता प्राप्त करती है। ह्यूम का दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण उनके एक अति प्रसिद्ध उदाहरण मे बहुत स्पष्ट और साहित्यिक ढग से प्रतिपादित मिलता है 'यदि हम इन सिद्धान्तो के प्रतिपादक ग्रथो से सकुल पुस्तकालयो पर विहगम दृष्टिपात करें तब क्या नाश-लीला हमें करेंगे ?—यदि हमारे हाथ अध्यात्म विद्या अथवा पारर्पा व तत्त्वमीमासा की पुस्तक पडेगी तब हम अपने से प्रश्न करेगे—क्या इसमे मात्रा-परिमाण अथवा सख्या विषयक कोई अमूर्त्त विचार है ? नहीं। क्या इसमे वस्तु-तथ्य तथा अस्तित्व विषयक प्रयोगाधारित विचार है ? नही। तब हम इसे आग में झोंक देंगे, क्योकि तब इसमे वाग्जाल और भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।" (इन्क्वायरी इन्टू ह्यूमन अडरस्टैंडिग)।

किन्तु तब भी रसल तत्त्वमीमासा के इस प्रकार विरोधी नहीं थे यद्यपि वे दूसरे दार्शनिकों में तत्त्वमीमासात्मक प्रतिपादना को उपहास और व्यग्य से ही अधिकाशत देखते थे। उन्होने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को तार्किक अणुवाद की सज्ञा दी। यहा 'तार्किक' विशेषण का प्रयोग वीयेना सम्प्रदाय के 'तार्किक प्रत्यक्षवाद मे प्रयुक्त तार्किक का पर्याय नही है, यह 'अणु' को वैज्ञानिक अणु से पृथक करने के लिये है। वे गणित तथा तर्क के क्षेत्र में अपनी सफलताओं से बहुत गर्वित और उल्लसित थे और इस उल्लासपूर्ण उत्साह मे उन्होंने समझा कि उनकी वह विधि, निष्कर्ष तथा प्रतीक-भाषा विश्व के रहस्य की कुजी हैं। इसलिये वे तत्त्वमीमासा को आग में झोंकने योग्य नही समझते थे। वे यद्यपि दर्शन का कार्य विज्ञान तथा दैनिक जीवन की व्याख्या करना ही मानते थे किन्तु इस व्याख्या के लिये वे लोक धारणा का अनुसारी होना आवश्यक नही मानते थे। न वे मूर के समान लोक-धारणा की सत्यता को ही स्वत सिद्ध मानते थे। इस दृष्टि से उन्हे मूर की अपेक्षा अधिक सगत कहा जा सकता है, क्योकि रसल के समान मूर भी भौतिक विषयो सम्बन्धी लोक-धारणा को सवेद वाक्यो मे विश्लेष्य मानते थे। किन्तु लोक-धारणा के लिये भौतिक विषयो का सवेद प्रदत्तों में विश्लेषण उतना ही विस्मय कारक है जितना मैक्टैगार्ट का काल का विश्लेषण, या शायद उससे भी अधिक। तब यह कैसे कह सकते हैं कि आप लोक सज्ञान के अनुसारी हैं ? मूर लोक सज्ञान को असदिग्ध मानते थे, केवल विश्लेषण को बहुत कठिन तथा अनिश्चयात्मक कार्य मानते थे। किन्तु लोक सज्ञान की सत्यता का क्या अर्थ है ? क्योंकि यह तो विश्लेषण से ही तय होगा कि लोक सज्ञान को क्या अभिप्रेत है, अथवा कहें, किसकी सत्यता-असत्यता खोजी जा रही है। उदाहरणत 'भाई' प्रत्यय का विश्लेषण पुस् सहोदर' है या कुछ और है ? यदि इसका विश्लेषण 'पुस् सहोदर जिसके प्रति अगाध प्रेम हो' हो तब 'य र का भाई है, वाक्य का अर्थ उससे बहुत भिन्न हो जायगा यदि इसका विश्लेषण केवल 'पुस सहोदर' किया जाय और परिणामत सत्यासत्य मे भी भेद हो जायगा। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि 'जिसके प्रति अगाध प्रेम हो' वाक्याश तथ्यात्मक नहीं है, केवल मानसिक सस्कार है। किन्तु तब लोक सज्ञान सस्कार के अतिरिक्त और क्या है ? जो दार्शनिक भौतिक विषयों की सत्यता का निषेध करते हैं उनका यही दावा तो है कि 'य

मेज है' कथन मे सवेद की अन्तर्वस्तु ही तथ्य है, शेष केवल सस्कार है। बर्ट्रैंड रसल ने भौतिक विषयो में विश्वास को स्वत सिद्ध सत्य नही माना था, इस सम्बन्ध मे उनकी स्थिति अधिकाशत बकले के अनुरूप रही, और जब उन्होने बकले की स्थिति को छोड़ा तब उन्होने सवेद-प्रदत्तो की सवेद से पृथक सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया बल्कि भौतिक अस्तित्व को ही, सवेद्य अस्तित्व से परे, स्वीकार किया।

इस प्रकार मूर और रसल के दार्शनिक लक्ष्यो में पर्याप्त अन्तर था किन्तु तब भी दोनो एक सामान्य भडार मे से अपनी सामग्री प्राप्त कर रहे थे—दोनो ब्रेड्ले परम्परा के, और सब प्रकार के प्रत्ययवाद-अध्यात्मवाद के, विरोधी थे और इस प्रकार की विचार-धाराओ के प्रति घोर असन्तोष से परिचालित थे, दोनो दर्शन का कार्य विश्लेषण मानते थे और यह समझते थे कि सत् सरल वस्तुओ का तन्त्र है जो श्लिष्ट होकर ज्ञान के तत्र को जन्म देती हैं, परिणामत दर्शन का काम विश्लेषण कर सत् के स्वरूप का (मूर के लिये, अवधारणाओ के स्वरूप का) उद्घाटन करना है।

यहा पुन रसल और मूर मे अन्तर है। रसल ने इस "सरल" की अवधारणा को अधिक गभीरता से लिया और इसके परिणामो को स्वीकार करने मे कोई सकोच नहीं किया। उसके अनुसार सरल वह है जो अणु वाक्यो का वाच्य है और अणु-वाक्य वह है जो अपने से सरलतर वाक्यो मे अन्तर्भाव्य नही है।

इन वाक्यो को वे इस प्रकार परिभाषित करते हैं —

१ यह अनिवार्यत किसी सवेद्य घटना द्वारा उत्पादित होनी चाहिये,

२ इसका रूप (फोर्म) अनिवार्य रूप से ऐसा होना चाहिये कि अन्य कोई मूल वाक्य (अणु वाक्य) इसका प्रत्याख्यान नही हो सकें।'[२]

इन सरल वाक्यो के उदाहरण उन्होने "मैं गर्म हूँ", "वह लाल है" आदि दिये हैं। अब यहाँ दो तरफ से खींचातानी है। आप केवल भाषा को देखकर यह निर्धारित नही कर सकते कि अणु-वाक्य क्या होंगे, उसके लिये सरल अस्तित्वो का पहले से निर्धारण आवश्यक है। उदाहरणत 'मैं दुखी हूँ' वाक्य अणु-वाक्य है या नही ? यह 'मैं दुखी हूँ' इस तथ्य को देखकर ही निर्धारित किया जा सकता है। रसल इस वाक्य को अणु वाक्य नही मानेंगे क्योंकि वे 'मैं' द्वारा व्यक्त वस्तु को सरल वस्तु नही मानते। किन्तु यदि कोई वाक्य अविश्लेष्य हो और उसके अनुरूप तथ्य दिखाई नही दें, तब ? तब वे उस वाक्य के अनुरूप तथ्य की विद्यमानता मानने को बाध्य होंगे। किन्तु इसकी एक निश्चित सीमा है। 'सब य काले

---

२ इन्क्वारी इनटू मीनिंग एड ट्रुथ पृ १३८।

हैं वाक्य, उनके अनुसार, तर्कत अविश्लेष्य है क्योंकि यह वाक्य '$य_1$ काला है', $य_2$ काला है', '$य_3$ काला है', आदि में अन्तर्भाव्य नहीं है। इस वाक्य की अनन्तर्भाव्यता तर्क से निर्धारित होती है इसी प्रकार 'य काला नहीं है' भी अनन्तर्भाव्य है, किन्तु इसकी अनन्तर्भाव्यता पूरी तरह से तर्क से निर्धारित नहीं होती, यह मनोविज्ञान से निर्धारित होती है। सो, उन्होंने इन वाक्यों की अविश्लेष्यता से इनके वाच्य तथ्यों को भी स्वीकार कर लिया। ये तथ्य हैं साधारण तथ्य और निषेधात्मक तथ्य। अब सब कव्वे" तथा "काला नहीं" दृश्य प्रकार की सत्ताएँ नहीं हैं, परिणामत इन्हें अनुभववादी स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु रसल ने इन्हे अनुभववाद से बाहर जाकर भी स्वीकार कर लिया। न रसल ज्ञान को ही अनुभव तक सीमित मानते हैं। उदाहरणत वे मानते हैं कि हम किसी 'अ इ, आदि को व्यक्तिश जाने बिना भी' सब अ, इ हैं' तथा "अ वस्तुओं का अस्तित्व है" जान सकते हैं।[3]

हमारे लिये यहां यह प्रश्न विवेच्य नहीं है कि यह प्रतिपादन कहा तक उपयुक्त है और कहा तक इसे अनुभववादक का अतिक्रमण कहा जा सकता है। हमारे लिये यहा केवल यह द्रष्टव्य है कि उनका यह अतिक्रमण प्रत्ययवाद अथवा अध्यात्मवाद की दिशा मे नहीं है—यद्यपि स्पष्टत इसका आधार तर्क है—बल्कि यथार्थवाद और भौतिकवाद की दिशा मे है। इसलिये वे अनुभव और तर्क (प्रत्ययवादी युक्ति) का वहीं तक आश्रय लेते हैं जहा तक यह उनकी यथार्थवादी-भौतिकवादी रुचि का समर्थन करता है। वे कहते हैं, 'मैं काट के समान नैतिक नियम को उसी धरातल पर नहीं रख सकता हू जिस पर तारकित नभ को। विश्व के मानवीकरण का प्रयत्न, जो कि आदर्शवाद* कहे जाने वाले दर्शन मे अन्तर्निहित है इस बात को सर्वथा स्वतन्त्र रूप से मुझे अप्रिय है कि यह सत्य है या असत्य है। मुझे यह कल्पना तक अप्रिय लगती है कि विश्व हेगल के, अथवा उसके दिव्य आदि रूप के, विलष्ट विचार का परिणाम है। मेरे विचार मे, यद्यपि इसमे मैं पूर्णत निश्चित नहीं हूँ, किसी भी आनुभविक विषय-वस्तु का मूलगामी ज्ञान होने पर उसके कारण नियमों का अन्तर्भाव भौतिक विज्ञान के कारण नियमो मे सभव है। किन्तु विषय वस्तु अधिक जटिल होने की स्थिति मे ऐसा अन्तर्भाव करने मे व्यावहारिक कठिनाइयां है।"[4]

इस उद्धरण में प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद के प्रति उनकी अरुचि स्पष्ट है। वास्तव मे उनके लेखों से जितने चाहें ऐसे उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनमें उनकी यह अरुचि झलकती है। यह नैतिक नियम और तारकित नभ के बीच उनकी तुलना रोचक है। 'तारकित नभ' से उन्हें एक ओर भौतिक सत्ता अभिप्रेत है और दूसरी ओर विराट् सौन्दय,

---

३ माई फिलासफीकल डिवलपमेंट, पृ १३१।

* यहां मैंने 'आइड्यलिज्म' का अनुवाद 'आदर्शवाद' किया है जबकि अन्यत्र 'प्रत्ययवाद' किया है। इस प्रसग मे रसल को यही अभिप्रेत प्रतीत होता है, 'प्रत्ययवाद' नहीं।

४ वहीं पृ १३१।

दूसरे शब्दो में, भौतिक सत्ता का विराट सौन्दर्य। नही तो 'मेज', 'कुर्सी', 'पेन' अधिक सहज उदाहरण हो सकते थे। हमारे इस कथन की पुष्टि 'मिस्टीसिज्म एण्ड लोजिक" पुस्तक मे सकलित उनके लेख "फ्री मैन्स् वर्शिप" से भी होती है। स्पष्टत यह कोई दार्शनिक युक्ति नही है, यह रुचि की बात है कि आपको "नैतिक नियम" अधिक आकर्षक लगता है या कि "भौतिक सत्ता की विराट्ता।" किन्तु काट ने सौन्दर्य के आकर्षण से 'नैतिक नियम' की प्रतिष्ठा को स्वीकार नही किया था, उसने नैतिक वस्तुस्थिति की व्याख्या के लिये उसे स्वीकार किया था। किन्तु उसमे "कैटेगोरीकल इम्पेरेटिव" की सार्वभौमता सत्तात्मक सार्वभौमता नही है, सत्ता केवल अतिक्रामी आत्मा की है। इस प्रकार वह "तारकित नभ" से तुलनीय नही है। रसल को यह ज्ञात नही हो, ऐसी बात नही है, किन्तु वे यह मानते हैं कि आदर्शवादी दर्शन का उत्स रुचि और सुख-कामना है, तर्क नही, इसलिए शायद उन्होने कोई भी उदाहरण उपयुक्त माना। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, वे स्वय इस दोष के अधिक शिकार हैं। इसकी पुष्टि के लिए हम एक उद्धरण और इसी पुस्तक से देंगे। "प्रत्यक्ष" पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि जब हम एक तारे को देखते हैं तब हमारी दृक्-तन्त्रिका (ऑप्टिक नर्व) मे एक प्रक्रिया घटित होती है किन्तु तारक का अनुभव एक बहुत भिन्न प्रकार की घटना है। परिणामत "मन तथा भूत के बीच एक खाई मानी जाती है, और यह समझा जाता है कि यह एक रहस्य है जिसका निराकरण करना एक अपवित्र कार्य है। किन्तु मेरा विश्वास है कि इसमे उससे अधिक रहस्य नहीं है जितना रेडियो द्वारा विद्युत्चुम्बकीय तरगो के ध्वनि में रूपातरण मे है। मेरे विचार मे इस रहस्य का कारण भौतिक विश्व की भ्रान्त धारणा तथा यह भय है कि कही इससे हम मानस के उत्कर्ष को भौतिक के स्तर पर लाकर निकृष्ट नही करदें।'[५]

यहा स्पष्ट है कि रसल मन और भूत की समस्या के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ विचारणीय नही मानते कि यह एक भावुकता का परिणाम है। यह सही है कि कुछ दार्शनिको ने मन को उत्कृष्ट और भूत को निकृष्ट भी कहा है, किन्तु उन्होने न तो इस द्वैध को भावुकता के कारण स्वीकार किया था और न इस द्वैध को स्वीकार करने के पक्ष मे उनकी युक्तिया निर्बल हैं। इसके विपरीत, रसल केवल अभौतिक के प्रति अरुचि के कारण उस सम्बन्ध में कुछ विचार नही करते और एक स्पष्ट वस्तुस्थिति से इन्कार करने का कोई कारण नही देते। यहा दृक्-तन्त्रिका मे घटित भौतिक प्रक्रिया के "दिखाई देना" मे रूपातरण अनुरूपता रेडियो द्वारा विद्युत्चुम्बकीय तरगो के ध्वनि तरगो में रूपातरण से देखने में निहित दृष्टि-दोष इस अरुचि के कारण ही हो सकता है। निश्चय ही उन्होंने 'ध्वनि-तरग' शब्द का प्रयोग नही कर 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु यह केवल दूसरो में दृष्टि-दोष उत्पन्न करने के प्रयत्न का द्योतक ही हो सकता है, क्योकि रेडियो विद्युत्चुम्बकीय तरगो

---

५. माई फिलासफीकल डिवेलपमेंट, पृ २२।

का ध्वनि में रूपांतरण नही करता, ध्वनि तरगो मे रूपातरण करता है जिनके ध्वनि मे रूपातरण के लिए सवेद्यता की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी ही प्रकाश-किरणो के और दृक्तन्त्रिका के अन्तगत घटित अनुगामी प्रक्रिया के दृष्टि मे रूपातरण के लिए।

उन्होंने तटस्थ अद्वैतवाद (न्यूट्रल मोनिज्म) की वकालत की है और उसके लिए आदर्श उदाहरण सवेद प्रदत्त को लिया है—एक देश-बिन्दु जहा विभिन्न तारक दिखाई देत हैं वह एक प्रदेश है, और ऐसे अनेक विन्दु जिस एक विन्दु में सहावस्थित हो सकते हैं, वह दूसरा प्रदेश है। प्रथम स्थान वह है जहा तारक दिखाई देने की घटना घटित होती है और दूसरा वह जहां तारक स्वय है। इसे वे परिप्रेक्ष्यो का सिद्धात (थीयरी आव पर्स्पेक्टिव्ज) कहते हैं और अपनी मौलिक सूझ मानते हैं। किन्तु इससे तो मन और भूत विषयक प्रश्न का समाधान नही होता, क्योकि बोध, या सवित्, को यहा छोड दिया गया है। यदि परिप्रेक्ष्य इसके उतने अश का काम चला भी सकते हो जितना भौतिक विषय-ज्ञान मे आवश्यक है और शेष अनावश्यक हो, तो कल्पना, सुख दुख आदि का आप क्या करेंगे ? रसल ने इसका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है और एक स्मृत्यात्मक कारणता (नेमिक काजेशन) को अविश्लेष्य अभ्युपगम के रूप मे स्वीकार कर मन से छुट्टी पाने का प्रयत्न किया है। यहा हम इस विवाद मे आगे नही जायेंगे कि यह कहा तक सम्भव है, कि तु यदि कोई स्मृत्यात्मक कारणता को पर्याप्त नही मान कर चेतना को भी अनन्तर्भाव्य मानना आवश्यक देखता है तो उसे **निकृष्ट काय करने वाला** क्यो कहा जाय ? और फिर आप कारणता मे द्वैत मान कर क्या मानसिकता को स्वीकार नही कर रहे हैं, इस स्वीकृति को जितना भी चाहें आप धीमी आवाज में व्यक्त क्यों न करें ?

मेरा अभिप्राय यहा यह दिखाना नही है कि मन और भूत का द्वैत अनिवाय है, किन्तु यह दिखाना है कि न तो रसल ने इस द्वैत को अयुक्त दिखाने के लिये कोई पुष्ट तर्क दिये हैं और न इस द्वैत को स्वीकार करने वाले फूहड (स्टुपिड) ही थे, जैसा कि रसल उन्हें कहते हैं।

मूर रसल की अपेक्षा अधिक नम्र और शालीन थे। उनका आग्रह केवल इतना ही था कि लोक-सज्ञान की धारणाओं को हमे अधिक आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। किन्तु इसके विपरीत मत रखने वालो को वे उपहासास्पद नही मानते थे और उनके मत को दुराग्रह तथा निकृष्ट सुख की खोज पर आधारित नहीं समझते थे। इसीलिए वे जिस मत का प्रतिवाद करते थे उसे पूरी गम्भीरता से समझने का प्रयत्न करते थे और उसके पुष्टतम तर्कों की दुर्बलता दिखाने के लिये उसका विश्लेषण करते थे। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उनके कोई पूर्वाग्रह नहीं थे। उनके वे सभी पूर्वाग्रह थे जो उनके बौद्धिक परिवेश के पूर्वाग्रह थे। उदाहरणात उन्होंने लोक सज्ञान मे केवल दृश्य वस्तुओ की सत्यता में लोक विश्वास को ही देखा जब कि लोक सज्ञान की कोई सीमा नही है—कम से कम, उसमें लोकेत्तर और लोकोत्तर मे विश्वास उतने ही बद्धमूल मिलते हैं।

मूर ने अपने दो लेखो से आंग्ल दार्शनिक समाज को लगभग अभिभूत कर लिया था। ये लेख थे "लोक सज्ञान के समर्थन मे" तथा 'प्रत्ययवाद का खण्डन"। इनमे भी प्रथम लेख विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है—इसलिये नही कि इसमे कोई महत्त्व की बात कही गयी है, जो कि निश्चय ही नही कही गयी है, बल्कि इसलिये कि यह मूर के दर्शन मे आधारभूत कही जा सकती है और लोगो द्वारा इसे इतना महत्त्व दिया जाना उस समय के, और आज के भी, आंग्ल-मानस का द्योतक है। इस लेख मे उन्होने एक प्रकार की प्रतिज्ञाओ को, जिन्हें वे लोक सज्ञान की प्रतिज्ञाए कहते थे, अविवाद्य सत्य माना है। ये प्रतिज्ञाए हैं—मेरा एक शरीर है, मैं कुछ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था, पृथ्वी के धरातल पर रहता हू और यह पृथ्वी मेरे उत्पन्न होने से बहुत पहले से विद्यमान है, आदि। मूर के अनुसार, उन्हे इनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा की सत्यता के सम्बन्ध मे असन्दिग्ध ज्ञान है। यह लेख जब उन्होने दार्शनिक मडली में पढा था तब बडे जोश से अपना हाथ उठा कर कहा था कि "यह मेरा दाया हाथ है और यह बाया हाथ है और इसलिये मेरे से पृथक् भौतिक विषयो का अस्तित्व है और उसका हमें ज्ञान होता है, आदि। बिल्कुल सही, किन्तु तब दिक्कत क्या है? यहां दार्शनिक चर्चा समाप्त हो जानी चाहिये! तब जॉनसन का पत्थर के ठोकर मार कर कहना कि "इससे यह सिद्ध होता है कि पत्थर है" भी बिल्कुल सही था! ऐसी अवस्था में मूर ने नया क्या कहा? मूर ने नया यह कहा था कि "जब कि इन प्रतिज्ञाओ की सत्यता असंदिग्ध हैं, इनका विश्लेषण क्या होगा, यह कहना बहुत सन्दिग्ध है।" किन्तु यदि वे सचमुच ही इस सम्बन्ध में अनिश्चित होते तब कोई दिक्कत नही थी, तब वे या तो विश्लेषण करते ही नही या फिर वैकल्पिक विश्लेषण देते। वास्तव मे वे अनिश्चित इस बात मे नही थे कि विश्लेषण क्या होगा, बल्कि इस बात में थे कि जो विश्लेषण वे कर रहे हैं वह सम्यक् कैसे होगा? इस प्रकार, न केवल वे कुछ प्रतिज्ञाओ की सत्यता के सम्बन्ध में ही निश्चित थे, बल्कि उनका विश्लेषण क्या होगा, इस सम्बन्ध मे भी निश्चित थे। किन्तु इस विश्लेषण के सम्बन्ध में उनके निश्चय का क्या आधार था? अर्थात्, वे यह कैसे जानते थे कि भौतिक विषयो सम्बन्धी प्रतिज्ञाए विश्लेष्य हैं और यह विश्लेषण सवेद-प्रदत्तो की पदावली में ही उपयुक्त है? 'यह मेज है' वाक्य स्वत यह सकेत नही देता कि यह ऐसे वाक्यो की किसी निश्चित या अनिश्चित सख्या के बराबर है जिसके विधेय सवेद-प्रदत्तो के वाचक पद हो। कम से कम, यह दावा कोईनहीं कर सकता कि लोक-सज्ञान 'यह मेज' प्रतिज्ञा को सवेद-प्रदत्त वाचक प्रतिज्ञाओं की असख्य शृखला के बराबर देखता है। अब, यदि यह दावा नही किया जा सकता तब मूर के इस विश्लेषण का क्या औचित्य है, सिवाय मूर की या उसके पूर्वज बकले की दार्शनिक दृष्टि के? किन्तु तब मूर लोक-सज्ञान की सत्यता को असन्दिग्ध मानकर नही चल सकते, क्योकि वाक्य की प्रतिज्ञा क्या है, यह तो विश्लेषण से ही तय हो सकता है अर्थात् उन सरल प्रतिज्ञाओ से जो 'यह मेज है' वाक्य की दायी और समीकरण चिह्न के साथ रखी जायगी। किन्तु इन समीकृत सरल प्रतिज्ञाओ का लोक-सज्ञान के अनुकूल होना आवश्यक नही है, जैसाकि स्वय मूर की ही सरल प्रतिज्ञाए नही हैं। किन्तु वे सरल प्रतिज्ञाए हैं जो विश्लेष्य या श्लिष्ट प्रतिज्ञा के अभिप्राय को स्थिर करती हैं, और यदि श्लिष्ट प्रतिज्ञा का

अभिप्राय, या कहे स्वरूप, सरल प्रतिज्ञाओ से अभिन्न है तब किसी प्रतिज्ञा को तब तक लोक-सज्ञान परक प्रतिज्ञा नहीं कहा जा सकता जब तक लोक सज्ञान विश्लेपण को प्रमाणित नही करे। और जैसा कि हमने ऊपर कहा, मूर का विश्लेपण लोक-सज्ञान को स्वीकृत नही हो सकता, उसे परिचित भी नही लग सकता, परिणामत यह नही कहा जा सकता कि मूर लोक-सज्ञान की प्रतिज्ञाओ को स्वत सिद्ध सत्य मान रहे थे।

हमारी उपरोक्त आपत्ति शायद कुछ लोगो को दूर की कौडी लाने जैसी बात लगे, किन्तु थोडा गभीरता से देखने पर ऐसा नही लगेगा। 'मेरे हाथ मे पैन है' वाक्य लें। लोक-सज्ञान के अनुसार यह कथन या तो सत्य है अथवा असत्य है। किन्तु यहा कथन क्या है जो सत्य या असत्य है, यह प्रश्न विश्लेपण को प्रेरित करता है। अब, इस कथन के स्वरूप का निश्चय किये बिना सत्यता का प्रश्न तय नही हो सकता। किसी के लोक सज्ञान का समर्थक होने का अर्थ है कि वह लोक सज्ञान को स्वीकार्य कथन का अनुसन्धान करे। किन्तु मूर अनुसन्धान कर जो कथन लाये हैं वह ऐसा है जैसे कथन को उचित बताने के लिये रसल अवसर पहले यह कहते हैं कि "लोक-सज्ञान (मूढ़तावश ?) यहा समझता है कि कुछ पैन-वस्तु है ''आदि। रसल यहा बिल्कुल ठीक है, लोक-सज्ञान यही समझता है, और जिसे लोक सज्ञान का समर्थन करना है उसे विश्लेपण की बात कह कर जो चाहे कहने का अधिकार नही है।

यह आपत्ति जितनी मूर के ऐन्द्रिय विषयो के विश्लेपण पर लागू होती है उतनी ही, या शायद उससे भी अधिक, नैतिक प्रसग के विश्लेपण पर लागू होती है। किन्तु यहा हम उसकी चर्चा नहीं करेंगे। यहा यह द्रष्टव्य है कि लोक-सज्ञान का समर्थन मूर के अतिरिक्त किसी ने इस रूप मे नही किया, अन्यों ने केवल लोक-सज्ञान को, विज्ञान के अतिरिक्त, दार्शनिक विचार का—आलोचना का—विषय माना, समर्थन का नहीं।

रसल और मूर के प्रकर्ष काल में ही वियेना में एक नये दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिसका नाम लॉजीकल पॉजिटिविज्म (तार्किक प्रत्यक्षवाद) रखा गया। यहा 'सम्प्रदाय की स्थापना' पद का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। वियेना मे अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व कुछ दार्शनिकों, वैज्ञानिको तथा गणितज्ञो ने सम्मिलित होकर एक सम्प्रदाय का निर्माण किया जिसे 'वियेना सर्कल' नाम दिया गया और सम्प्रदाय की दर्शन प्रणाली अथवा दृष्टिकोण को विशेपित करने के लिए इसका नामकरण तार्किक प्रत्यक्षवाद (लॉजीकल पॉजिटिविज्म) किया गया। १९२९ मे इस सम्प्रदाय का एक घोषणा पत्र निकाला गया जिसका शीर्षक था "वियेना सर्कल इसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण।" यह सम्प्रदाय रसल-विट्गिंस्टाइन का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है, किन्तु यह उनसे बहुत अधिक उग्र और सकुचित है। ह्यूम और रसल के समान यह ज्ञान का स्रोत केवल ऐन्द्रिय अनुभव को ही मानता है, और दूसरा आदर का स्थान केवल तर्क और गणित को देता है। किन्तु तर्क को और गणित को भी, जिसे यह तार्किक मानता है, यह ज्ञानात्मक नही मानता, अर्थात् इसके

अनुसार तर्क के वाक्य अथवा प्रतिज्ञाए कोई नयी जानकारी नही देती, ये केवल पुनरुक्त्यात्मक होती हैं ? अर्थात् इस प्रकार की—सब कंवारे अविवाहित हैं। किन्तु इसमे भी, कहा जा सकता है कि "य कंवर है" प्रतिज्ञा तो पुनरुक्त्यात्मक नही है। इसका उत्तर यह है कि इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञा की सत्यता और सार्थकता 'य कंवारा है" प्रतिज्ञा की सत्यता और सार्थकता पर निर्भर करती, यह 'कंवारा' और 'अविवाहित' को पर्याय शब्द मानने पर निर्भर करती है। इनके अनुसार तर्क और गणित की सब प्रतिज्ञाए इसी प्रकार की हैं। शेष एकमात्र सार्थक वाक्य वे वाक्य हैं जो आनुभविक प्रतिज्ञाओ को व्यक्त करते है। जो आनुभविक प्रतिज्ञाए, विट्गिस्टाईन के शब्दो में, अणु-तथ्यों की चित्र होती हैं, अथवा संवेद्य तथ्यो का वर्णन करने वाले वाक्य आनुभविक तथ्यो के वाचक होते हैं। अन्य सब वाक्य अणु वाक्यो के तार्किक प्रकार्य (ट्रुथ फक्शस्) होते हैं। इनको रसल मॉलीक्यूलर वाक्य कहते हैं, अर्थात् ऐसे वाक्य जो एक से अधिक अणु-वाक्यो को तार्किक सयोजको—और, अथवा आदि—के द्वारा सयुक्त करने से बनते हैं। विट्गिस्टाईन के ही शब्दो मे—

४ १ एक प्रतिज्ञा अणु तथ्यो के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्रकट करती है।

४ ११ सत्य प्रतिज्ञाओ का साकल्य सकल भौतिक विज्ञान है।

१ १३ तार्किक देश मे स्थित तथ्य ही विश्व है।

२ जो भी वस्तु स्थिति है, तथ्य है, वह अणु-तथ्यो का अस्तित्व है।

विश्व तथा भाषा के सम्बन्ध मे अनुभववादी सिद्धान्त का यह स्पष्टतम प्रतिपादन है। किन्तु यह, तथा इसी प्रकार रसल का प्रतिपादन भी, तत्त्वमीमासात्मक प्रतिपादन हैं। ये विश्व अथवा सत्ता के स्वरूप के बारे मे, तथा ज्ञान और भाषा के सत्ता से सम्बन्ध के बारे मे, प्रतिपादन हैं। किन्तु इसकी कुछ अनिवार्य अर्थापत्तिया हैं जिन्हें विट्गिस्टाईन ने देखा और स्पष्टतम शब्दो मे ट्रैक्टेटस मे कहा। यह अर्थापत्ति थी। भाषा के कथनात्मक प्रयोग की सीमा का बहुत सकुचित निर्धारण इस सीमा निर्धारण के अनुसार स्वय दार्शनिक प्रतिपादन भी असम्भव हो जाता था, क्योंकि यह कहना कि "भाषा और तथ्य मे सम्बन्ध स है" न तो अणु तथ्य का चित्रण है और न अणु-वाक्यो का तार्किक सयोग है, यह चित्रण के स्वरूप के सम्बन्ध मे कथन है, जोकि "अकथ्य" है। इसलिये—

६ ५३ दर्शन की उपयुक्त विधि यह होगी। जो कहा जा सकता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहना, अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञाओं (के अतिरिक्त), अर्थात् उसके अतिरिक्त जिसका दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है, और तब सदैव, जब कोई अन्य कुछ तत्त्वमीमासात्मक कथन करना चाहे, तब उसे दिखाना कि उसने अपनी प्रतिज्ञाओ मे कुछ चिह्नो का कोई अर्थ नहीं दिया है। यह विधि अन्य के लिये सन्तोषप्रद नहीं होगी—उसे ऐसा नहीं लगेगा कि हम उसे दार्शनिक बात कह रहे हैं—"किन्तु यही एकमात्र सही विधि है"।

विट्गिंस्टाईन का यह प्रतिपादन एक विचित्र विरोधाभास से पूर्ण है यह एक तत्व-मीमांसात्मक सिद्धान्त था, क्योंकि यह विश्व के ज्ञान के स्वरूप की, और विश्व के साथ भाषा के सम्बन्ध की कल्पना पर प्रतिष्ठित था । इस विरोधाभास का समाधान यही हो सकता है कि तत्वमीमांसा सत्य है, किन्तु तत्वमीमांसात्मक कथन सम्भव नही हैं। तार्किक प्रत्यक्षवादियो ने ट्रक्टेटस के इस सम्पूर्ण सिद्धात को, इसकी तत्वमीमांसा का परित्याग करते हुए, अपना लिया । तत्वमीमांसा का प्रत्याख्यान उनका मुख्य लक्ष्य था जो इस "अवाच्यता" और "निरर्थकता" से बहुत बढ़िया सिद्ध होता था । सो, उन्होने यह कहने के बजाय कि "भाषा तथ्य का चित्रण है, और तथ्य का यह स्वरूप है अत भाषा का यह स्वरूप है" यह कहा कि 'वाक्य का अर्थ उसकी प्रमाणीकरणीयता मे होता है", और प्रमाणीकरण का एक विशिष्ट सिद्धात दिया । इस सिद्धान्त के अनुसार, भाषा के मूल वाक्य प्रत्यक्षात्मक प्रकार के वाक्य होते हैं और अन्य सब वाक्य इन मूल वाक्यो के तार्किक प्रकार्य (लाजीकल फंक्शन्स्) हैं । इस प्रकार उनके अनुसार 'अ लाल है', 'अ क आकार का है', 'अ लाल तथा क आकार का है' आदि प्रकार के वाक्य ही सार्थक हो सकते हैं । किन्तु यह इसलिये नही कि ये किसी प्रकार के तथ्यों के चित्र हैं, बल्कि इसलिये क्योंकि यह हमारे प्रत्यक्षो के विवरण हैं ।

किन्तु किस प्रकार के विवरण प्रत्यक्षो के विवरण हैं ? विट्गिंस्टाईन ने इस सम्बन्ध में अपने अभिमत का कोई संकेत नहीं दिया था, उसने केवल आकारिक स्थिति का प्रतिपादन ही किया था, किन्तु रसल, और मूर भी, इस सम्बन्ध मे स्पष्ट थे, वे संवेद-प्रदत्तो को प्रत्यक्षात्मक वाक्यो का विषय मानते थे । किन्तु तार्किक प्रत्यक्षवादियो में इस प्रश्न को लेकर मतभेद था, कुछ इन्हें संवेद प्रदत्तो की सूचनाएं मानते थे जबकि अन्य सार्वजनिक भौतिक घटनाओ की सूचनाएं मानते थे । इसी प्रकार कुछ इन्हे अप्रमाणीय मानते थे और कुछ प्रामाण्य अप्रामाण्य की सम्भावना से परे मानते थे । किन्तु सब इस बात मे सहमत थे कि इन वाक्यो की तथ्यात्मक अन्तवस्तु इन प्रत्यक्षमूलक अनुभवो से ही उपलब्ध होती है और यह अन्तवस्तु ही इनको अर्थ प्रदान करती है । यही प्रमाणीकरण सिद्धात था, जिसके अनुसार "किसी प्रतिज्ञा का अर्थ उसके प्रमाणीकरण की विधि है ।"

किन्तु यदि वाक्य का अर्थ उसके प्रमाणीकरण की विधि है और प्रमाणीकरण ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों से उपलब्ध होता है तब अर्थ और प्रमाण दोनो व्यक्तिगत हो जायगे । क्योंकि क के प्रत्यक्ष की अन्तवस्तु ख के प्रत्यक्ष की अन्तवस्तु नही हो सकती, न क और ख परस्पर इनकी तुलना कर सकते हैं, वास्तव मे क ख के लिये और ख क के लिये एक ऐन्द्रिय विषय मात्र है । इस कारण तार्किक प्रत्यक्षवाद के सम्मुख व्यक्ति-केन्द्रितता (सोलिप्सिज्म) की समस्या उत्पन्न हुई । कार्नप ने १९२८ मे 'लोजीकल स्ट्रक्चर ऑफ दि वर्ल्ड' में सम्पूर्ण आनुभविक वैज्ञानिक अवधारणाओं का ताना बाना व्यक्ति केन्द्रित आधार पर पुनारचित करने का प्रयत्न किया । पीछे उसने अनुभव किया कि यह प्रयत्न सफल नही हो सकता, और परिणामत उसने मूल वाक्यों के वाच्यो के रूप मे व्यक्तिगत संवेदो या अनुभवो का परित्याग कर मूल वाक्यो

के वाच्यो के रूप में स्वीकार किया। कार्नेप का, और उसके साथ न्यूराथ का, यह परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण था। सार्वजनिक भौतिक घटनाओ को मूल वाक्यों का वाच्य मानने पर सवेद-प्रदत्त स्वय भौतिक घटनाओ के रूप में ही ग्राह्य हो सकते थे। पहले जहां 'वह क्रुद्ध है' का अर्थ था "आकार-वर्ण व मुक्त मे क्रोधानुभव की स्मृति का उद्दीपक है", अब 'मैं क्रुद्ध हूं' का अर्थ हो गया "देश-काल क पर स्थित शरीर ऐसा ऐसा व्यावहार कर रहा है" अथवा "इस शरीर में इस-इस प्रकार की रासायनिक-भौतिकीय घटनाए घटित हो रही है।' कहने की आवश्यकता नही कि तार्किक प्रत्यक्षवाद की ये दोनो उपजातिया वस्तुस्थिति की सन्तोष-जनक व्याख्या नही करती। किन्तु यहां एक और महत्त्वपूर्ण बात द्रष्टव्य है, और वह यह कि इस आधारभूत अन्तर के वावजूद ये दोनो उप जातियो की दार्शनिक प्रेरणा एक ही थी और इसी कारण ये उप जातियां हैं। इसका कारण यह है कि इनके लिये दार्शनिक सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नही होकर सांस्कृतिक पूर्वाग्रह महत्त्वपूर्ण था, और यह पूर्वाग्रह था कि विज्ञान ही ज्ञान है और प्रामाणिक ह। इस मान्यता के स्वीकृत होने पर प्रश्न केवल यह रह जाता है कि इसका सही विवेचन कैसे करें—'यह पैन है" "वस्तुए पृथ्वी की ओर बराबर वेग (विलॉसिटी) से गिरती है" सार्थक वाक्य हैं, देखना केवल यह ह कि इनकी सार्थकता का कैसे निरूपण किया जाय। इसी प्रकार "कम भवब ध के कारण हैं' निरथक वाक्य है, देखना केवल यह है कि इनकी निरथकता का निरूपण कैसे किया जाय! तब जो कसौटी इन दो उद्देश्यो मे एक साथ सफल हो सकती है वह सही कसौटी है। इसीलिये इन दार्शनिको ने वाक्य विषयक पूर्वोक्त दो विकल्पो को (जो विकल्प अन्यथा इन्हे पृथक् दार्शनिक सम्प्रदाय बताते) वैकल्पिक भाषावाद कहा-अर्थात् अपने मूल वाक्यो के लिये चाहे जो भी रूढि स्वीकार कर लें, दोनो उचित हैं, प्रश्न केवल सुविधा का है।

किन्तु कार्नेप तथा न्यूराथ का भौतिक घटना वाचक वाक्यो को मूल वाक्यों के रूप मे स्वीकार करना उतना निरीह नही था जितना "सुविधा का प्रश्न" तथा "वैकल्पिक" कहने से प्रतीत होता है, क्योकि मूल वाक्यो को भौतिक घटनाओ के वाचक वाक्य मानने का अथ है मूल वाक्यो के रूप में उनकी विशिष्टता स्वीकार करना। वास्तव में उन्होंने इन वाक्यो की विशिष्टता स्वीकार करना। वास्तव में उन्होने इन वाक्यों की विशिष्ट स्थिति पूर्णत और स्पष्टत अस्वीकार कर दी, क्योंकि उनके अनुसार, किसी या किन्ही मूल वाक्यों का किसी उच्चतर स्तर के कथन से, किसी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना से, विरोध होने पर, उनमें से किसी पर भी सन्देह किया जा सकता है। किन्तु स्पष्टत मूल-वाक्यों को वैज्ञानिक प्राक्कल्पना अथवा सिद्धान्त के स्तर पर रखने का अथ है वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओ को तथ्य तथा अनुभव (प्रत्यक्ष) पर आधारित नही मानना और इस प्रकार विज्ञान की सत्यता के सम्बन्ध मे समजसता का सिद्धान्त स्वीकार करना। किन्तु यह कहा जा सकता है कि कार्नेप तथा न्यूराथ कुछ वाक्यो को तो मूल-वाक्य मानते ही थे, और ये वाक्य अनिवायत प्रत्यक्षात्मक प्रकार के थे। इस प्रकार, वे समजसतावादी होने पर भी समजसता की धुरी के रूप में प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते थे। किन्तु वास्तव में यह भी सही प्रतीत नही होता। क्योंकि भाषा का तथ्य के साथ

सम्बन्ध स्वीकार करने का अर्थ या तत्वमीमांसा की सीमा में अतिक्रमण, जो कि उनके लिये सबसे अधिक वर्जित क्षेत्र था। अन्य प्रत्यक्षवादियों ने इस कठिनाई के समाधान के अनेक असफल प्रयत्न किये, किन्तु कानप और यूराथ को ये सब समझौते स्वीकार नहीं थे। कानप ने दर्शन को तार्किक व्याकरण कहा और इस कथन की अर्थापत्तियों को पूर्ण रूप से स्वीकार किया। उनके अनुसार "किसी भाषा विशेष के स्वरूप निरूपण के लिये इसका शब्द कोश तथा व्याकरण देना आवश्यक है, अर्थात् जो शब्द इसमें प्रयुक्त होते हैं तथा वे नियम जिनके अनुसार (१) उन शब्दों से वाक्यों का निर्माण किया जा सकता है तथा (२) ये वाक्य उसी भाषा के अथवा अन्य भाषा के अन्य वाक्यों में रूपान्तरित किये जा सकते हैं (अनुवाद के नियम तथा अनुमान के नियम)। किन्तु क्या यह आवश्यक नहीं है कि शब्दों का अभिप्राय समझने के लिये शब्दों के अर्थ भी बताए जाय? नहीं, वस्तु विधा (मैटीरियल मोड) में इस प्रकार की गयी माग ऐसे आकारात्मक नियम देने से पूरी की जा सकती है जो नियम कि इसके व्याकरण का निर्माण करते हैं। क्योंकि किसी शब्द का "अर्थ" या तो अनुवाद के द्वारा दिया जाता है अथवा परिभाषा के द्वारा। अनुवाद शब्दों को एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपान्तरित करने के नियमों को कहते हैं। यह बात तथाकथित शाब्दिक परिभाषाओं (उदाहरणार्थ 'हाथी' 'उसी प्रकार का पशु जिस प्रकार का कि इस देश-काल-स्थिति में पशु') के लिये भी सही है, जिस बात को कि प्राय ही भुला दिया जाता है। दोनों परिभाषाए शब्दों के अनुवाद हैं।"[६]

यहा हम इस प्रतिपादन की उपयुक्तता अनुपयुक्तता पर विचार नहीं करेंगे, यहा हम केवल इस बात की ओर सकेत करना चाहते हैं कि कानप किस प्रकार तत्वमीमांसा से बचने के लिये अनुभववाद से भी दूर जा पडा। किन्तु यह प्रतिपादन तार्किक प्रत्यक्षवाद के लिये बहुत तर्कोचित है क्योंकि यदि विट्गिन्स्टाईन के अवाच्यता विषयक निष्कर्ष को सत्य और तत्वमीमांसा की सत्यता विषयक सिद्धान्त को असत्य मान लिया जाय, जैसा कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने माना तब वाक्यों के वाच्य केवल अन्य वाक्य ही हो सकते हैं। क्योंकि यदि तत्वमीमांसात्मक वाक्य असत्य होने पर भी सार्थक हो तब भाषा का वाक्य शब्द-बाह्य हो जायगा। किन्तु अनुभववाद तत्वमीमांसा से नहीं बच सकता क्योंकि उसके लिये यह बताना आवश्यक है कि क्यों अनुभव और ज्ञान का उसका निरूपण ही सही है और यह बताने के लिये आवश्यक है कि वह तत्व या विश्व के स्वरूप की चर्चा करे। यदि प्रत्यक्षवादी इससे बचना चाहते हैं तब उनके लिये कानप न्यूराथ के पक्ष का अवलम्बन करना एक उपाय है, यद्यपि यह एक मात्र उपाय नहीं है, किन्तु निश्चय ही उनके लिये वे रास्ते खुले नहीं हैं जो श्लिक, बर्गमान, एयर और क्वाईन तथा गुडमान आदि ने अपनाए।

कानप के इस अतत्वमीमांसात्मक अनुभववादी सिद्धान्त की मुख्य कठिनाई यह है कि

---

६ यूनिटी ऑफ साईंस (साईके मिनियेचर्स), पृ २८। यहा जे ओ उमसन की पुस्तक फिलासफीकल एनेलेसिस, पृ १२३ से उद्धृत।

यह इतने शिल्प कौशल के बावजूद, जो कि उन्होने सब वाक्यो को आकारी विधा (फामल-मोड) मे रूपान्तरित करने मे उन्होने प्रदर्शित किया है, कुछ भी उपलब्ध नही कर पाता, सिवाय यह दिखाने के कि यह रूपान्तरण सम्भव है। किन्तु इस रूपान्तरण का क्या औचित्य है ? क्या यह औचित्य स्वय इस विधा के रूपान्तरण द्वारा स्थापित किया जा सकता है ? तत्त्वमीमासा मे क्या दोष है, क्या यह बताने के लिये अर्थ का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त, अथवा काटीय अभ्युपगम-कि विशुद्ध प्रत्यय को अनुभव से सम्बद्ध होना चाहिये--आवश्यक नही है ? किन्तु यह कहने के लिये वस्तुओं और वस्तुस्थितियो की चर्चा आवश्यक है।

कानप ने पीछे तार्किक व्याकरण के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और अर्थ-विज्ञान (सिमेंटिक्स) की उपयुक्तता को स्वीकार किया। अर्थ-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण काय भाषा तथा उसके वाच्य विषयो मे सम्बन्ध का विवेचन करना है। किन्तु इस विवेचन के लिये यह आवश्यक नही है कि कोई तत्त्वमीमासात्मक सिद्धान्त स्वीकार किया जाय, इसमे एक तटस्थ दृष्टि भी हो सकती है जो एक ओर तत्त्वमीमासा से रक्षा करती है और दूसरी ओर भाषागत वस्तुस्थिति का उपयुक्त निरूपण सभव करती है। और यदि इसे दार्शनिक सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय तब यह पूर्णत भार-मुक्त कर निर्द्वन्द्व विहार का आनन्द देती है। भाषा के सम्बन्ध में कार्नप की इस नवीन दृष्टि मे यह उन्मुक्तता हमे भरपूर मिलती है। यदि हम तत्त्वमीमासात्मक रूप से प्रतिबद्ध नही हो तब हमारा वाच्यो के चुनाव में कोई आग्रह नहीं हो सकता। भाषा स्वय मे न तो सामान्यो की असत्ता और विशिष्टो की सत्ता के पक्ष मे कोई आधार हमे देती है और न अदृश्य से दृश्य को अधिक सत् मानने के लिये कोई आधार देती है। इसलिये हम सब प्रकार के वाक्यो का प्रयोग उपयुक्त रूप से कर सकते हैं--तब सख्याए, वर्ग, सामान्य, प्रत्यय आदि उतनी ही सद्वस्तुए हैं जितने सवेद-प्रदत्त, विशिष्ट या व्यष्टि। दार्शनिक के लिये करणीय केवल यह है कि वह प्रत्येक वाच्य-क्षेत्र के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार उपयुक्त भाषा-व्यवस्था की रचना करे क्योंकि सामान्य भाषा में ये रचना नियम पूर्णत व्यवस्थित नही हैं। इस प्रकार कार्नप ने रचनात्मक व्यवस्थाओ का निर्माण किया, अर्थात् विभिन्न वाच्य-सन्दर्भो में निहित सरचनाओ (स्ट्रक्चस) को व्यक्त किया। इस उन्मुक्त दृष्टि का दार्शनिक औचित्य उन्होने अपने एक लेख "एम्पीरीसिज्म, सिमेंटिक्स एण्ड ओंटोलोजी" (अनुभववाद, अर्थ-विज्ञान तथा सत्तामीमांसा) में बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। इसमे उन्होने दार्शनिक प्रश्नों को दो वर्गों मे बाटा है--आन्तर और बाह्य। उनके अनुसार सत्ता-विषयक प्रश्न बाह्य प्रश्न होते हैं, जैसे "क्या सख्याओ का अस्तित्व है ?" प्रश्न गणित का आन्तर प्रयत्न नही है, यह बाह्य प्रश्न है, क्योंकि गणित सख्याओं के अस्तित्व पर विचार नहीं करता, वह इनका उपयोग करता है (इन्हें सद मान कर !) आन्तर प्रश्न उस व्यवस्था के अपने नियमों की जाच से सम्बन्ध रखते हैं। उनके अनुसार, बाह्य प्रश्न अनुचित प्रश्न हैं और आन्तर उचित।

इस स्पष्ट सापेक्षतावादी प्रतिपादन के बावजूद न केवल यही कि कार्नप इस उन्मुक्त

सिद्धान्त की अर्थापत्ति दिखाने के लिये अपने आपको गणित तथा तर्क तक सीमित रखते हैं वलिक अन्यो लेखो में इसके स्पष्टतः विपरीत भी जाते हैं। यदि सापेक्षतावाद सही है और "वस्तुओ का अस्तित्व" उस वाक्-व्यवस्था पर निर्भर करता है जिसके अन्तर्गत शब्दो का प्रयोग हो रहा है तब 'यह मेज है' जितना प्रत्यक्ष विषय-परक वाग्व्यवस्था में तथा 'एक सम-संख्या है' जितना गणितीय वाग्व्यवस्था मे उचित वाक्य है उतना ही ईश्वर सर्व शक्तिमान है' वाक्य भी होना चाहिये, क्योकि यह धार्मिक वाग्व्यवस्था का वाक्य है।[७] कार्नप के उक्त लेख से तर्क का अनुसरण करते हुए तो इसके विरुद्ध केवल यही आपत्ति की जा सकती है कि यह धार्मिक वाक् प्रयोग के सन्दर्भ मे उचित वाक्य नही है, जो कि वे सिद्ध नही कर पाएंगे। किन्तु वे तो वास्तव में धार्मिक सन्दर्भ को ही उचित मानने को तैयार नही हैं जो कि उस सन्दर्भ वाग्व्यवस्था पर बाह्य आपत्ति है। अपने एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेख "मैथोडोलोजीकल केरेक्टर ऑफ साईंटीफीक कान्सेप्ट्स" मे कार्नप ने भाषा के रचना और अनुवाद-नियमो का प्रतिपादन कर पहले भौतिक विज्ञान के ऐसे वाक्यो का प्रत्यक्षमूलक वाक्यो में रूपान्तरण करने का प्रयत्न किया है जोकि अन्यथा प्रत्यक्षमूलक नही हैं और तत्पश्चात् मानसिक अवस्थाओ के वाचक वाक्यों का भौतिक अवस्थाओ के वाचक वाक्यो मे रूपान्तरण किया है। अब, यह रूपान्तरण भौतिकतावादी (फिजिकलिस्टिक) सिद्धान्त के अनुसार है और यह अथवा अन्य कोई ऐसा सिद्धान्त तब तक सभव नही है जब तक कि बाह्यता परक आलोचक नही बना जाय। क्योकि ऐसा सिद्धान्त समग्रात्मक होना आवश्यक है और परिणामत इसके लिये सब आयामो (रैल्म्स्) तथा वाक्य-क्षेत्रो का एक आयाम तथा वाच्य-क्षेत्र मे अन्तर्भाव आवश्यक है। कार्नप से भी बढ कर क्वाईन सापेक्षतावाद के समर्थक हैं और उन्होने इसका प्रतिपादन अपने लेख "अनुभववाद की दो पूर्वमान्यताए" में बहुत स्पष्ट और विदग्ध रूप से किया है।[८] उनका यह सापेक्षतावाद कार्नप से अधिक मूलगामी है, क्योकि इसे वे भाषा (वाच्य-क्षेत्र की सापेक्षता) तक सीमित नही रखते बल्कि इसे "अवधारणात्मक सापेक्षता" कहते हैं। यह अवधारणात्मक सापेक्षता यद्यपि भाषा मे भी लक्षित होती है किन्तु यह उससे व्यापकतर है। इसकी यह व्यापकतरता एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की असभवता से प्रकट होती है जिसका अर्थ है कि भाषा का वाच्य उससे परे होता है। इस प्रश्न पर उन्होने अपनी पुस्तक "शब्द तथा विषय" (वर्ड एण्ड ऑब्जेक्ट) में विचार किया है।

किन्तु इसके बावजूद ये अस्तित्वमीमांसात्मक हैं और इस अस्तित्वमीमांसा मे लाघव के पक्षपाती हैं। इन्होने, तथा गुडमैन[९] ने, पूर्णत विशिष्टतावादी-भौतिकवादी अस्तित्व-

---

७ मिन्नेसोटा स्टडीज इन फिलसफी ऑफ साईंस, सम्पादक फाइग्ल तथा सैल्लर्स, जिल्द १

८ आगे सकलित।

मीमासा को स्वीकार किया है । इसके लिये क्या औचित्य है, इस सम्बन्ध मे कोई तर्क इन्होने नही दिया है । शायद वे इसकी आवश्यकता भी नही समझते, उनके लिये समस्या केवल यही है कि भाषा में प्रयुक्त ऐसे वाक्यों का, जिनमे सामान्यवाचक अथवा मानसिक-वस्तुवाचक पद प्रयुक्त होते हैं, अनुवाद ऐसे वाक्यो मे कैसे किया जाय जिनमे केवल विशिष्टता वाचक अथवा भौतिक वस्तुवाचक शब्द घटित होते हैं। क्वाईन के शब्दो मे "भौतिक घटनाओ का अस्तित्व तो सिद्ध है ही, तब दूसरी कोटि को क्यो लाया जाय ? इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अ तर्दर्शन (इन्ट्रोस्पॅक्शन) अपनी भीतरी शारीरिक अवस्थाओ को देखना है, जैसे मेदे के तेज़ाब को ।"[१०] किन्तु इस लाघव को दर्शन का प्रमुखतम आदर्श नही बनाया जा सकता, यह केवल तार्किक-आकारिक व्यवस्थाओं का ही लक्ष्य हो सकता है। हमारे यहा यह वैयाकरणो का लक्ष्य रहा है, दार्शनिको का नही। यदि लाघव को दर्शन का आदर्श होना ही है तब फिर विशिष्ट और भौतिक के पक्ष में ही यह लाघव क्यो किया जाय, सामान्य और मानसिक के पक्ष में क्यो नही किया जाय ? और पुन , यह वास्तव लाघव भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि इस अवस्था में प्रत्येक घटना एक पृथक सत्ता होगी । इन घटनाओ को 'विशिष्ट' या 'भौतिक' कह कर इन्हे उपयुक्त रूप से कोटिकृत नही किया जा सकता, क्योंकि इस अवस्था के अन्तगत कोटिकरण (केटेगोराइजेशन) वदतोव्याघात होगा।

किन्तु उपरोक्त आलोचना से इन दार्शनिको के वास्तव कृतित्व का अनुमान नही हो सकता। इन्होने इस अनुभववादी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये कि सब सार्थक कथन या तो प्रत्यक्षमूलक हैं अन्यथा केवल आकारिक हैं सब प्रकार की कथन विधाओ (मोड्स ऑफ स्टेटमेंट्स) का विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन किया। इस प्रकार आकारिक तर्क तथा व्याकरण और अर्थ विषयक प्रश्नो के विवेचन के लिये शिल्प-कौशल का जो विकास हुआ वह अभूतपूर्व है। इस प्रकार की दर्शन-प्रणाली प्रकृष्टतम रूप मे कार्नप की "लोजीकल साइंटेक्स ऑफ लैंग्वेज", 'मीनिंग एड नेसेसिटी', क्वाईन की 'फ्राम ए लॉजीकल प्वाइंट ऑफ व्यू' 'वर्ड एड ऑब्जेक्ट" और गुडमैन की "स्ट्रक्चर ऑफ अपीयरेंस" तथा स्ट्रासन की "इंडीविड्अल्स" पुस्तको में प्रखरतम रूप मे फलीभूत हुई है। इन पुस्तको के दृष्टिकोणो तथा विधियो में बहुत अन्तर है, किन्तु तब भी ये भाषा तथा आकारिक तर्क के प्रति अपने आग्रह में समान हैं। स्ट्रॉसन निश्चय ही आकारिक तर्क का आश्रय नही लेता है, वह इसके विरुद्ध भी है, किन्तु व्याकरण की कोटियो के विश्लेषण को दार्शनिक समस्याओ की कुंजी उसने माना है।

३

आधुनिक अनुभववादी-प्रत्यक्षवादी दर्शन की तीसरी मुख्य शाखा को विश्लेषणवाद, लोक-भाषा-विश्लेषणवाद, उपचारवाद (थिरेप्यूटिज्म) इत्यादि बहुत से नाम दिये गये हैं। इसका प्रथम प्रवर्त्तक कुछ मूर को भी मानते हैं, किन्तु यह केवल वंश-परपरा को ओर

---

१० क्वाईन वर्ड एड ऑब्जेक्ट, पृ २६४।

अधिक प्राचीन बनाने के विचार से। अन्यथा इस विशेष विधि स्वरूप और औचित्य पर सर्वप्रथम विट्गिंस्टाईन ने विचार किया। विट्गिंस्टाईन के विचार उसकी मरणोपरान्त प्रकाशित पुस्तक "फिलोसोफीकल इन्वेस्टीगेशस्" मे सकलित हैं। इस सम्प्रदाय के मुख्य दार्शनिक विज्डम, राईल, ऑस्टिन तथा वेजमान हैं।

यद्यपि इस सम्प्रदाय के दार्शनिक इस सम्प्रदाय को तार्किक प्रत्यक्षवाद की अथवा अनुभववाद की भी, एक शाखा नही मानते, बल्कि उन्हें इस विशेषण से चिढ है, किन्तु तब भी दूसरे देखते हैं कि 'कुल सपूत जान्यो परत लखि सुभलच्छन गात"। इस सम्प्रदाय मे तथा ऊपर चर्चित दो सम्प्रदायो में वास्तव मे ही निकट बंधुता का सम्बन्ध है। यह बंधुता इनके तत्त्वमीमांसा-विरोध में, भाषा विश्लेषण को दर्शन की इतिकर्त्तव्यता मानने में, तथा लोक-धारणाओं और विज्ञान की प्रमाणिकता की पराकाष्ठा मानने मे, निहित है किन्तु तब भी इनमे गम्भीर अन्तर है। यह अन्तर विधि तथा लक्ष्य दोनो मे है। जैसाकि हमने ऊपर देखा इस सम्प्रदाय का एक नाम उपचारवाद भी है। इस नामकरण का कारण विट्गिंस्टाईन द्वारा दर्शन का कार्य स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करना है कि स्वत कोई दार्शनिक समस्याए नहीं होती, ये समस्याए कुछ लोगो द्वारा कुछ भाषा-प्रयोगो का स्वरूप ठीक-ठीक नही समझ पाने के फलस्वरूप उत्पन्न भ्रम के कारण होती हैं। उसके अनुसार, "दार्शनिक समस्या का स्वरूप इस प्रकार का होता है—मुझे रास्ता नही सूझ रहा है।" उसके अनुसार, "जब हम दार्शनिक चिन्तन में प्रवृत्त होते हैं तब हम उन असभ्य-आदिम लोगों की भूमिका में होते हैं जोकि सभ्य लोगो द्वारा बोले गये वाक्य सुनते हैं और उनसे विचित्र निष्कर्ष निकालते हैं।" पुन "दर्शन में आपका क्या उद्देश्य होता है ? बोतल मे फँसी मक्खी को बाहर निकलने का रास्ता दिखाना।" ये दो उद्धरण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विरोध का परिहार इस प्रकार है कि प्रथम में दार्शनिक चिंतक को जबकि "बोतल में फँसी मक्खी" के रूप में देखा गया है, दूसरे में उसे "बोतल में फँसी मक्खी को बाहर निकालने का रास्ता दिखाने वाले के रूप में।" ये दोनों स्थितियां दार्शनिक की ही होनी हैं क्योंकि लोक-साधारण न अकारण उलझन में पडता है और न उसे निकलने की आवश्यकता होती है। दार्शनिक भाषा को गलत समझने के कारण उलझन में पडता है और ये उपचारवादी दार्शनिक एक ही कोटि के नहीं होते हैं। प्रथम प्रकार के दार्शनिक वे हैं जिनको "बुद्धि भाषा (लोक-भाषा) के द्वारा व्यामोहित (विचिछ्न) होती है", जो "व्याकरण मूलक भ्रांतियों से विभ्रान्त होते हैं", जो "हमारी भाषा की वाक्य रचनाओ की गलत व्याख्या" के कारण तत्त्वमीमांसा की भूलभुलैया मे फसते हैं। और दूसरे प्रकार के दार्शनिक वे हैं जो "हमारी भाषा के वास्तव व्यापार को स्पष्ट करते हैं और विपरीत आकर्षण होने पर भी, इस वास्तव व्यापार को पहचानने के लिये हमें बाध्य करते हैं।"

यह दार्शनिक व्यामोह या विभ्रान्ति कैसे उत्पन्न होती है ? 'ट्रैक्टटस लोजीको फिलासफीकस" पुस्तक में विट्गिंस्टाईन ने भाषा का कार्य तथ्य-चित्रण कहा था। इस कारण

उसके लिये आवश्यक हो गया कि वह ऐसे सब वाक्यो, जो प्रकटत किसी तथ्य का चित्रण नही करते हैं, ऐसे वाक्यो मे अन्तर्भाव करे जो यह चित्रण करते हैं। परिणामत जो वाक्य इस प्रकार अन्तर्भूत नहीं किये जा सकते थे उन्हे उसने निरथक कहा।

अब, इन्वेस्टीगेशस् मे, उसका मत था कि भाषा का कोई एक ही काय नही है। शब्द और वाक्य विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं और विभिन्न प्रयोजन सिद्ध करते हैं। सो, दर्शनिक का प्रथम काय यह देखना है कि ये कितने विभिन्न प्रकारो के हैं। 'हथियारो की सन्दूकडी में पडे हथियारो की ओर जरा ध्यान दो, इसमे हथौडा होता है पेचकस होता है, आरी होती है, फुट्टा रहता है, बर्मा होता है, और पेच तथा कीलें आदि होती हैं। शब्दो के प्रकार्य उतने ही भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं जितने इन हथियारो के। दार्शनिक चिन्तन करते हुए हम शब्दो के किसी एक व्यापार को उनका एकमात्र व्यापार मानने लगते हैं, किन्तु ऐसा कोई भी एक विवरण बेकार है, उतना ही बेकार जितना बेकार हथियारो का कोई एक कार्य मान कर दिया गया विवरण होगा। यदि हम कहें "सब हथियारो का काय कुछ घडना है" तब इससे क्या लाभ होगा ? यह हमें हथियारो के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान नहीं देगा। इसी प्रकार "वाक्य कितने प्रकार के हैं ? कहेंगे, कथनात्मक, प्रश्नात्मक और विध्यात्मक—किन्तु वास्तव में ये असंख्य प्रकार के हैं जिन्हे हम 'शब्द", 'प्रतीक", "वाक्य" कहते हैं उनके असख्य प्रकार के उपयोग हैं।" क्रीडाओ को लें। "इन सब मे क्या सामान्य है ?—यह कहना उचित नही है कि कुछ अवश्य सामान्य होगा अन्यथा उन्हे क्रीडाए नही कहा जायगा—किन्तु देखो और जाचो कि क्या वास्तव मे इनमे कुछ भी सामान्य है ? क्योंकि यदि तुम इन पर दृष्टिपात करोगे तब पाओगे कि इनमे कुछ भी सामान्य नही है, बल्कि केवल अनुरूपताए हैं, सम्बन्ध हैं, और इनकी एक पूर्ण शृंखला इनमे है। सो "विचारो नही, देखो।" (डोंट थिंक बट लुक)।

यहा हमने अत्यन्त सक्षेप में विट्गिस्टाईन के नवीन विचारों का विवरण दिया और इस प्रसग मे उसके कुछ चमत्कारी वाक्प्रयोग उद्धृत किये। इनसे इगलैंड का युवक बहुत चमत्कृत हुआ और उसने इन्हे श्रुति-वचनो के समान ग्रहण कर इन पर मनन और निदिध्यासन आरम्भ किया। इस पुस्तक मे हमने राईल का एक लेख "व्यवस्थित रूप से भ्रामक अभिव्यक्तिया" सकलित किया है जो इन नवीन प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि लेख समझा जाता है। जैसाकि इस लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें लेखक ने कुछ वाक्यो का विश्लेषण किया है, जिनके सम्बन्ध मे राईल का विचार है कि दार्शनिक इन या ऐसे वाक्यो के व्याकरण-रूप को सत् का द्योतक रूप मानने के कारण भ्रमित हुए हैं। उसके अनुसार, वाक्यों का न तो कोई स्थिर अर्थ होता है और न ये सत् के चित्र होते हैं। वाक्यो का अर्थ उनके प्रयोग के सन्दर्भ मे समझना चाहिये।

उनका यह लेख अधिकाश मे बर्ट्रंड रसल के "ऑन् डिस्क्रिप्शस्" लेख की अनुकृति जैसा लगता है, और बहुत कुछ वह वैसा है भी, किन्तु अपनी मूल दृष्टि मे यह उससे बहुत

भिन्न है । रसल यह मानते हैं कि भाषा का एक मूल ढाचा है जिसके वाक्य संज्ञा और सम्बन्धवाचक पदों से रचित होते हैं । यह ढाचा सत् के ढाचे के अनुरूप है और संज्ञा तथा विधेय पद सत् के द्योतक होते हैं । 'स्वर्ण-पर्वत का अस्तित्व नही है" जैसे वाक्यो मे "स्वर्ण-पर्वत" वास्तव मे संज्ञा पद नही होकर वर्णनात्मक पद है, जो किसी का वर्णन नही करता । इसके विपरीत राईल कोई ऐसी मूल संज्ञाओ, "मूल विधेयो" और 'मूल-वाक्यों" को नही मानते । अपने इस लेख का निष्कर्ष बताते हुए वे लिखते हैं

इस प्रकार मेरे विचारों में, "यह प्रश्न करने अथवा कहने मे भी कि 'इस कथन का क्या अर्थ है' एक तुक है । क्योकि जब कोई अभिव्यक्ति किसी तथ्य के वास्तव रूप को छिपाती हो अथवा उपयुक्त रूप से प्रकट नही करती हो, तब यह प्रश्न करना उचित ही है कि वाच्य तथ्य का वास्तव रूप क्या है । और इस तथ्य का हम नवीन पद योजना द्वारा कथन कर सकते है, जो कथन कि उसे प्रकट कर देता है जिसे कि प्रथम पद-योजना प्रकट नही कर रही थी । इस समय मैं सोचता हूं कि यही दार्शनिक विश्लेषण है और यह दर्शन का एकमात्र कार्य है । किन्तु क्योकि अपने पाप की स्वीकृति आत्मा के लिये श्रेयस्कर है, इसलिये मुझे यह स्वीकार करना ही चाहिये कि मुझे वे निष्कर्ष, जिनकी ओर कि ये निष्कर्ष संकेत करते हैं, बहुत रुचिकर नही हैं । मैं दर्शन को भाषा मे दोषपूर्ण वाक्य-रचनाओ तथा भ्रान्त सिद्धान्तों के स्रोत खोजने से उत्कृष्टतर कार्य देना चाहूंगा । किन्तु इसमें मुझे सन्देह नही है कि दर्शन का कम से कम यह कार्य तो है ही ।"

अपने इस लेख के निष्कर्षों का उन्होने अपनी पुस्तक "दि कांसेप्ट आफ माईंड" में अनुसरण किया है और उन विभिन्न शब्दो के विभिन्न प्रयोग-प्रसग दिखाये हैं जो मानसिक स्थितियो के वाचक समझे जाते हैं । इस पुस्तक का लक्ष्य यह दिखाना है कि मन-संज्ञक कोई सत्ता या वस्तु नहीं है जो व्यवहार और क्रियाओ से भिन्न और अतिरिक्त कुछ है । यह केवल हमारे (दार्शनिको के ?) आदिम विश्वासो का अवशेष है जो हम व्यवहारों और क्रियाओं के पीछे किसी सत्ता की खोज करते हैं, जैसे आदिम लोग मशीन को चलते देख कर उसमे भूत की कल्पना करते हैं । उनका यह दृष्टिकोण विट्गिंस्टाईन द्वारा प्रवर्तित इस दार्शनिक मत के अनुरूप ही था कि अर्थ का वाक्यो या शब्दो से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है । वे अर्थ को प्रयोग सन्दर्भ का व्यापार मानते हैं । दूसरे शब्दों में, अर्थ शब्द-प्रयोग का सन्दर्भ है । इस प्रतिज्ञा का अनुसरण करने पर यह निष्कर्ष सहज है कि मन मनःक्रियाएं और व्यवहार ही है—'राम क्रुद्ध है' का यह अर्थ नही है कि "राम के भीतर क्रोध संज्ञक कोई स्थिति विशेष है ।" यह राम के वर्तमान व्यवहार और सम्भाव्य व्यवहार के सम्बन्ध में कथन है ।

यह प्रतिपादन उतना अनुपयुक्त नही है जितना यह प्रथम दृष्टि मे प्रतीत होता है । ऐसा प्रतीत होने का कारण यह है कि राईल का झुकाव बहुत कुछ भौतिकवादी वैज्ञानिकवादी है । इसकी पुष्टि उनकी 'मशीन में भूत" की उपमा से भी होती है । किन्तु इस प्रतिपादन

की मूल प्रतिज्ञा के लिये यह आग्रह न केवल आवश्यक ही नही है बल्कि अनुपयुक्त भी है। अर्थ को "शब्द प्रयोग का व्यापार" कहने के लिये आवश्यक है कि शब्द को सगम ध्वनि माना जाय और प्रयोग को एक सगर्भ सन्दर्भ । 'सगम' से यहा यह अभिप्राय नही है कि अथ सज्ञक कोई वस्तु है जो ध्वनि में अन्तर्हित है यहा कहने का अभिप्राय यह है कि यह ग्रामोफोन रिकार्ड से ध्वनित और टेपरिकार्डर से श्रुत से बहुत अधिक कुछ है । पुन, अथ उतना ही प्रयोग-निभर है जितना प्रयोग अथ-निभर, दोनो एक ही वस्तुस्थिति के दो पक्ष हैं। इसी प्रकार मन के लिये भी "मुझे ज्ञात है कि यह मेज है" का यह विश्लेषण बहुत अधिक समीचीन है कि यहा कोई मन सज्ञक वस्तु मे किसी घटना के घटित होने के सम्बन्ध मे कथन नही है, यह दौड की प्रतियोगिता में जीत के जैसा है जिसमे जीत सज्ञक कोई वस्तु या स्थिति नही होती । किन्तु इसमे एक बडी महत्त्व की बात छोड दी गयी है जब मैं कहता हू कि "मैं जानता हू " तब जानना अवश्य ही अन्यान्य स्थितियो का व्यापार है, किन्तु जान पाने और जान पाने मे असफल रहने के बीच कुछ सामान्य भी है और यह मात्र मेज के होने से मूलत भिन्न है, इसकी उपेक्षा नही की जा सकती । इसे व्यवहार, क्रिया या इनकी सभावना से पृथक् मत मानिये, किन्तु तब आप व्यवहार क्रिया आदि को भी मशीन की पदावली मे नही समझ सकते ।

ऐसा नही है कि इस सम्प्रदाय के सभी दार्शनिक राईल के समान ही व्यवहारवाद के प्रतिपादक हैं स्वय विट्गिंस्टाईन ही नही थे, और न वेजमान ही हैं, किन्तु तब भी इस सम्प्रदाय मे ऐसी प्रवृत्तियो की ओर ही झुकाव दिखाई पडता है जिनसे व्यवहारवाद-भौतिकता वाद को बल मिलता है । हमारे इस कथन की पुष्टि इस सम्प्रदाय के दार्शनिको की नीति-मीमासा से होती है । वे नीति-वाक्यो को आदेश-वाक्यो आवेग व्यजक वाक्यों आदि मे अन्तर्भाव्य मानते हैं । यद्यपि वे इस आपत्ति को स्वीकार नही करेंगे, क्योकि उनका तो मत है कि वे नैतिक वाक्य-प्रयोग का ही स्वरूप दिखा रहे हैं, स्वय वाक्य-प्रयोग के ही द्वारा, किन्तु 'क उत्कृष्ट है' का अनुवाद (जैसाकि अन्तर्भाव को वे कहते हैं) 'मैं' क को स्वीकार करता हू' अथवा 'क मुझे रुचिकर है' मे न तो स्वत होता दिखाई देता है और न उत्कृष्ट है' के प्रयोग-सन्दर्भो को देखने से ऐसा कुछ प्रतीत होता है ।[११] उदाहरणत 'नैतिक अन्वापन' एक प्रयोग है और इसका पसन्द-नापसद की पदावली मे अनुवाद सभव दिखाई नहीं देता, केवल अन्तर्भाव ही सभव हो सकता है ।

जैसाकि हमने पीछे देखा, विट्गिंस्टाईन ने दशन का काय दार्शनिक के भाषा-जन्य व्यामोह का निरास करना कल्पित किया था और परिणाम स्वरूप इन अनुयायी दार्शनिको

---

११ द्रष्टव्य हमारा लेख नैतिक मूल्य, सस्कृति मानव कर्तव्य की व्याख्या पुस्तक मे । इसमें मैंने नैतिकता की अनन्तर्भाव्यता की व्याख्या की है ।

ने अपना कर्त्तव्य व्यामोहित दार्शनिकों का उपचार करना मानकर समकालीन तार्किक अणुवाद और तार्किक प्रत्यक्षवाद की आलोचना की। विज़डम की तो एक पुस्तक का नाम है "तत्त्वमीमांसा और मनोविश्लेषण" (मैटाफिज़ीकल्स एंड साइकोएनेलेसिस)। इसमें उन्होंने तत्त्वमीमांसा और मनोग्रंथियों का परिणाम माना है और उसका मनोविश्लेषण किया है। किन्तु विज़डम के विपरीत वेज़मान जोकि इस सम्प्रदाय के एक बहुत स्वस्थ और उदार दार्शनिक हैं, तत्त्वमीमांसा को इस प्रकार व्यामोह और मनोव्याधि का परिणाम नहीं मानकर उसे "हमारी अवधारणाओं में गहरे झांक कर ऐसी तहें देखने वाला" मानते हैं जिन अवधारणाओं को कि सामान्य लोग ऊपर से ही देखते हैं और इसलिये कोई उलझन उन्हें दिखाई नहीं देती।"[१२] उनकी यह उदारता उनके भाषा विषयक दृष्टिकोण में भी परिलक्षित होती है। इस प्रसंग में उनका लेख "लैंग्वेज स्ट्राय" द्रष्टव्य है। इसमें से एक उद्धरण यहां समीचीन होगा

'यह तथ्य कि भाषा ऐन्द्रिय संवेद के स्तर से उठकर मानसिकता के स्तर पर आरोहण करती है, एक विचित्र वस्तुस्थिति को जन्म देता है बहुत बार हम एक शब्द के पीछे एक अन्य अभिप्राय की जोकि गहनतर तथा अर्ध-गुह्य होता है, झलक देखते हैं, और एक अन्य अर्थ के दबे पांव प्रवेश की आहट अनुभव करते हैं, जिसमें तथा जिसके साथ कि दूसरे अर्थ भी ध्वनित हो उठते हैं, और ये सब शब्द के मूल अर्थ के साथ घंटी के अनुरणनों के समान गुंजारित होते हैं।"[१३] यहां शब्द और अर्थ के सायुज्य और शब्द और अर्थ की प्रयोग-निर्भरता का बहुत ही सुन्दर वर्णन है और साथ ही साथ शब्द की अध्यात्म स्वरूपता विस्पष्ट है। भाषा तथा मानसिकता के प्रति यही दृष्टिकोण किनूहोल्म के लेख "इंटेंशनल इनेग्ज़िस्टेंस" (उनकी पुस्तक "पर्सीविंग" परिशिष्ट में संकलित) में भी है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का कोई निश्चित दार्शनिक मत नहीं है, सिवाय इस बात के कि ये तत्त्वमीमांसा और रचित भाषा-व्यवस्थाओं के विरुद्ध हैं।

× × ×

फाइग्ल ने मिन्नेसोटा स्टडीज़ इन फिलासी ऑफ साईंस की जिल्द के प्रवेश में रसल मूर से लेकर राइल ऑस्टिन तक सबको प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत ही रखा है और इन तीन सम्प्रदायों को तीन शाखाएं कहा है, इसी प्रकार एयर ने "तार्किक प्रत्यक्षवाद" पुस्तक में रसल तथा राइल और वेज़मान के लेख भी संकलित किये हैं। इनमें क्या सामान्य है, यह

---

१२ हाउ आई सी फिलासफी, एयर द्वारा संपादित लॉजीकल पॉज़िटिविज़म पुस्तक में संकलित।

१३ फ्लू द्वारा संपादित "एस्सेज़ ऑन लॉजिक एंड लैंग्वेज", जिल्द २ में संकलित, पृ. १३।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाना चाहिये । इनमे मतभेद वास्तव मे ऐकमत्य के अन्तगत है। यह ऐकमत्य मूल दृष्टिकोण मे है--सभी तत्त्वमीमासा विरोधी हैं, सभी दर्शन को विशिष्ट प्रश्नो पर विचार करना मानते हैं और एक समग्र व्यवस्था के निर्माण में विश्वास नही करते, सभी अध्यात्म, मृत्यु, जीवन का लक्ष्य और अथ की समस्याओ का वर्जित मानते हैं । इस प्रकार यह निश्चित रूप से एक दशन प्रणाली है ।

दूसरी मुख्य दशन प्रणाली अस्तित्त्ववाद है जिस पर सक्षेप मे हम यहा विचार करेंगे ।

अस्तित्ववाद की परिभाषा देना बहुत कठिन है । कठिनाई का मुख्य कारण यह है कि जिन दार्शनिको को अस्तित्ववादी माना जाता है उनके दाशनिक विचारो मे पारस्परिक भिन्नता इतनी अधिक है कि उन सबको एक ही वाद मे सम्मिलित करने के औचित्य के बारे मे कभी कभी सन्देह होने लगना है । इस प्रकार के सन्देह का निराकरण दो बातो से होता है । एक तो सभी अस्तित्ववादी दाशनिको ने कुछ सामान्य विषय-वस्तुओ के बारे मे चिन्तन किया है । दूसरा, सभी अस्तित्ववादी दाशनिको की चिन्तन प्रक्रिया मे एक ऐतिहासिक सान्तत्य पाया जाता है आकस्मिक नही है । यहाँ अस्तित्ववाद की सामान्य प्रवृत्तियो तथा अस्तित्ववादी दार्शनिकों द्वारा चाचर्त विषयों का सक्षिप्त विवरण उपादेय होगा । अस्तित्व-वाद का निम्नाकित विवेचन प्रस्तुत सकलन मे समाविष्ट हाईडैगर के निबन्धो को समझने मे सामान्यत सहायक होगा ।

अस्तित्ववाद के चिन्तन का विषय प्रधानत मनुष्य है । वैसे हाईडैगर और सात्र ने दावा किया है कि उन्होने परम्परागत सत्ता शास्त्र के स्थान पर एक नये सत्ता-शास्त्र की स्थापना की है । उनका कहना है कि उनके दर्शन का उद्देश्य व्यापक 'सत्' का निरूपण करना है, न कि केवल मानव अस्तित्व की व्याख्या । हाईडैगर ने तो स्पष्ट शब्दो मे अपने दर्शन-तन्त्र के विरुद्ध मानवीकृतीयता की आपत्ति को भ्रान्तिपूण बताया है । वे कहते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मानव की विशिष्ट परिस्थितियो की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त किये जाने से यह भ्रम हो जाता है कि ये सिद्धान्त मानवनिष्ठ है जिनका कोई तात्त्विक महत्त्व नही है । पर हाईडैगर और सात्र ने सत्ता की व्याख्या करने मे मानव-सवर्गों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। हाईडैगर के निबन्धो मे उद्वेग, चिन्ता, जिज्ञासा, मृत्यु से त्रास, सकल्प आदि पदो की प्रत्यावृत्ति मिलती है । सार्त्र भी अपने लेखो मे चेतना, त्रास, परिप्रश्न, कुत्सित निष्ठा आदि व्यजको को मुक्त हस्त प्रयोग करते हैं । व्यापक सत्ता शास्त्र की स्थापना करने का दावा करते हुए अपने दशन की मानव केन्द्रीयता की सफाई हाईडैगर और सात्र दो युक्तियो द्वारा दे सकते हैं । एक तो यह कि ससीम 'सत्' मानव वातायन है जिसमें से असीम सत् की झाँकी मिलती है । दूसरा, असीम का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता मनुष्य मे नही है । अत उसे अपनी सत्ता विषयक जिज्ञासा को अपने ही अस्तित्व के स्वरूप के निरूपण तक सीमित रखनी चाहिये । हाईडैगर और सार्त्र कहाँ तक एक नये सत्ता-शास्त्र

को स्थापित करने मे सफल हुए हैं इस प्रश्न पर विचार किए बिना यहां इतना ही कहना प्रासगिक है कि अस्तित्ववाद की विशेषता और महत्त्व इसी मे निहित है कि वह मानव-अस्तित्व का, न कि नि सीम सत्ता का, अपूर्व विश्लेषण करता है।

अस्तित्ववाद का चिन्त्य विषय मूर्त मनुष्य है—मनुष्य जो आचार शास्त्र का कर्ता है, ज्ञान-मीमासा का द्रष्टा मात्र नही । कर्ता की भूमिका मे वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अपने चुनाव और सकल्प द्वारा वह निरन्तर अपने आपका सृजन करता है। अपने स्रष्टा के रूप मे उसकी सभावनाओ की कोई सीमा नही होती । वह अपने आपसे भी सीमित नही है। अत उसकी व्याख्या उसके अतीत द्वारा नही की जा सकती । स्वतन्त्र वरण करके वह अपने अतीत को अभिभूत कर लेता है।

सामान्यतया अस्तित्ववादी दर्शन मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी गरिमा के लिए आग्रह है। इस दृष्टि से वह समष्टिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है—हर प्रकार के समष्टिवाद के विरुद्ध जो व्यक्ति को समूह का एक अनिवार्य अग मानकर उसके व्यक्तित्व को तुच्छ बना देता है। इस प्रसग मे किर्केगार्ड का कथन द्रष्टव्य है। उन्होने कहा है "हर युग की अपनी एक विशेष भ्रष्टता होती है। वर्तमान युग की भ्रष्टता सुखवाद, भोग या एन्द्रिय परायणता नही है, बल्कि दुर्वृत्ति सर्वेश्वरवादी विषयक व्यक्ति के लिए घृणा है।" व्यक्ति की गरिमा की घोषणा करते हुए अस्तित्ववाद मनुष्य को उसकी सामाजिक भूमिका में विगलित करने की प्रवृत्ति का विरोध करता है। इस पक्ष को मर्सल ने बडे सुन्दर ढग से प्रकट किया है। मानव को उसकी सामाजिक वृत्तियो मे विघटित करने का प्रयास उसका अपकर्ष है। किर्केगार्ड की दृष्टि मे व्यक्ति का सप्रत्यय न केवल समष्टिवादी धारणा और वृत्तिमूलक दृष्टिकोण के साथ विसगत है बल्कि वह दार्शनिक तन्त्रवाद के साथ भी असगतिपूर्ण है। दार्शनिक तन्त्र व्यक्ति के अस्तित्व की एक सप्रत्यात्मक योजना के अतर्गत व्याख्या करता है जिसके अनुसार व्यक्ति एक दूसरे के साथ और सम्पूर्ण योजना से तार्किक सम्बन्धों द्वारा जुडे रहते हैं। इस योजना में व्यक्ति तार्किक घटको से अधिक कुछ भी नही है। अन्य अशको की तरह तर्क द्वारा उनका फलन ज्ञात किया जा सकता है । हीगल ने इसी प्रकार के दर्शन तन्त्र रचना द्वारा मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या की है। हीगल का द्वन्द्वात्मक तर्क सहज भाव से युक्त से वास्तविक की ओर गतिमान हैं। अटूट द्वन्द्व मूलक प्रक्रिया मे 'सार' निरन्तर 'सत्त्व' मे रूपान्तरित होता रहता है।

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का अक्षरश विपरीत मत 'सारवाद' से सकेतित किया जा सकता है। सारवाद की यह मान्यता है कि, मनुष्य का कोई सार तत्त्व है जो उसके अस्तित्व द्वारा प्रकट होता है। व्यक्ति के जीवन का घटनाक्रम मनुष्य के सार-तत्त्व को ही उद्घाटित करता है । हर मानव व्यक्ति, मनुष्य के सप्रत्यय को, जो कि उसके सार-तत्त्व को स्फुरित करता है, साकार रूप देता है । लिबनीज, जो विशुद्ध सारवादी है, यह दावा करता है कि व्यक्ति के सप्रत्यय को भली भाँति जान लेने पर हम उसके जीवन की सभी घटनाओं का उसी

प्रकार पूर्वानुमान कर सकते हैं जैसे कि आश्रय वाक्य से निष्कर्ष वाक्यों का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार सारवादी मानव की स्वतन्त्रता, सृजनात्मकता और उसके कर्तृत्व को केवल भ्रान्तिजनक मानता है। सारवादी दर्शन की निष्पत्ति हीगल के दर्शन-तन्त्र में होती है। अतः अस्तित्ववाद के प्रवर्तक कीर्केगार्ड के दर्शन का मूल प्रयोजन हीगल के दर्शन-संस्थान के खोखलेपन को दरसाना अपेक्षित ही समझा जाना चाहिये।

अस्तित्ववाद का आग्रह है कि मनुष्य का कोई पूर्वनिश्चित सार तत्त्व नहीं है। वह अपना सार अपने स्वतन्त्र निर्णय, चुनाव और संकल्प द्वारा निर्धारित करता है। पूर्व निश्चित सार न होने से मनुष्य का सम्प्रत्ययीकरण नहीं किया जा सकता। अस्तित्ववाद का वह चर्चित सूत्र 'अस्तित्व सार का पूर्वानुगामी है', मानव के अस्तित्व की उसके व्यक्त स्वरूप की तुलना में प्राथमिकता घोषित करता है।

त्रास की संवेदना स्वतन्त्रता की सहवर्ती है। त्रास का निर्वाचन किर्केगार्ड, हाईडेगर और सार्त्र ने एक सा नहीं किया है। हाईडेगर के अनुसार जीवन के अनिवार्य अंत के रूप में मृत्यु की चेतना त्रास उत्पन्न करती है। व्यक्ति जब अपनी स्वतन्त्रता को भविष्य में प्रक्षिप्त करता है तो मृत्यु का विचार स्वतन्त्रता के अवरोधक रूप में मूर्त्त हो जाता है। किन्तु सार्त्र की दृष्टि में मृत्यु कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। मेरी मृत्यु मेरे लिए कुछ नहीं के बराबर है। अस्तित्व का अर्थ मेरी भावी संभावनाओं से मेरे व्यक्तित्व की तद्रूपता है। मेरी भावी संभावनाओं को यथार्थ करने के प्रयत्नों में सन्निहित स्वतन्त्रता मुझ में त्रास उत्पन्न करती है। अपनी स्वतन्त्रता के बोध के साथ ही मुझे यह प्रतीति होती है कि, मेरे पथ-प्रदर्शन के लिए कोई सुनिश्चित मान्यतायें नहीं हैं जिनसे मुझे वरण करने में दिशा-संकेत मिल सके, कि अपने मूल्यों को मुझे ही चुनना है। यह अनुभूति कि अपने निर्णय द्वारा अनिवार्यतः मुझे मूल्यों का सृजन करना है जिसके लिए अपनी क्षमता के बारे में मैं सन्दिग्ध हूं मेरी स्वतन्त्रता को मेरे लिए भयावह बना देता है और मुझे लगता है कि इस त्रासावह स्वतन्त्रता का भार वहन करने के लिए मैं सर्वथा अयोग्य हूं।

सार्त्र और हाइडेगर समान रूप से त्रास, वेदना आदि असमान्य अनुभवों को अपने दार्शनिक चिन्तन में अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उनकी यह धारणा है कि प्रतिदिन की दिनचर्या से तथाकथित असमान्य अनुभूतियाँ आवृत्त हो जाने से हम उनकी यथार्थता के बारे में सजग नहीं रहते। किन्तु रूढ़ियों द्वारा स्थिरीकृत जीवन से हम अपने आपको थोड़ी देर के लिए भी पृथक करके विचार करते हैं तो त्रास, वेदना, उत्कण्ठा और निःसंगता आदि अनुभूतियाँ, जो दैनिक जीवन-सतही परत से ढकी रहती हैं, हमारी चेतना को ग्रस्त कर लेती हैं।

अस्तित्ववाद की प्रायः सभी विषय-वस्तुओं का किर्केगार्ड के निबन्धों में उल्लेख मिलता है। किर्केगार्ड के दार्शनिक लेखन का मुख्य प्रयोजन ईसाई धर्म के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करना तथा उसके विरुद्ध लगाये जाने वाले आरोपों को निरस्त करना था। आत्मो-

पलब्धि के लिए उन्मुख व्यक्ति ऐन्द्रिय अवस्था को पार करके नैतिक अवस्था में से होते हुए आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त करता है। ऐन्द्रिय अवस्था का विवरण देते हुए किर्कगार्ड वैकल्प के प्रत्यय का सूत्रपात करता है जिसकी सार्त्र के अस्तित्ववाद में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पापकर्म की चेतना व्यक्ति को नैतिक अवस्था से आध्यात्मिक की ओर प्रेरित करती है। व्यक्ति की निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर गति स्वत नहीं हो जाती। ऐन्द्रिय से नैतिक और नैतिक से आध्यात्मिक अवस्था की ओर गतिमान होने के लिए व्यक्ति को अपने आपको प्रतिबद्ध (Commit) करना पड़ता है। प्रतिबद्धता में चुनाव पूर्वापेक्षित है। किर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित वैकल्प, पाप कर्म की चेतना, प्रतिबद्धता चुनाव आदि प्रत्यय बाद के अस्तित्ववादी दार्शनिकों द्वारा नूतन सदर्भों में प्रयुक्त होकर उत्तरोत्तर अर्थ सम्पन्न होते गये।

स्वतन्त्रता और आत्मसृजन यास्पर्स के अस्तित्ववाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका में है। उसके अनुसार मेरा अस्तित्व मेरी आगामी सभावनाओं द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। मैं सर्वदा अपने आपका सृजन करने की प्रक्रिया में अभिभूत रहता हूँ। यह प्रक्रिया साऽदि किन्तु अटूट और अनन्त है। आत्मसृजन की प्रक्रिया में समाप्तावस्था कभी नहीं पहुँचती। 'सत्' की समस्या आत्मसृजन के संदर्भ में ही उद्भूत होती है। आत्म-सृजन के मार्ग पर अग्रसर व्यक्ति मृत्यु में आत्म निर्माण का सीमांकन देखता है। मृत्यु द्वारा मेरी स्वतन्त्रता के सीमांकन का बोध मुझे सीमोल्लघन के लिए प्रेरणा देता है। मृत्यु की ओर सजगता, ससीमता का बोध, और सीमोल्लघन के संकल्प की अनुभूतियों में मुझे सत् के स्वरूप की झलक मिलती है। समग्र सीमाओं के नकार के रूप में ही मुझे अनुभवातीत का ज्ञान होता है। बाह्य परिस्थितियें चाहे कितनी ही प्रतिकूल हों, लौकिक दृष्टि से जीवन कितना ही असफल क्यों न हो, व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को उद्घाटित करता हुआ 'अनुभवातीत' का दर्शन कर सकता है।

मूल अस्तित्ववादी प्रवाह से दूर होते हुए भी मर्सेल की गणना अस्तित्ववादी दार्शनिकों में की जाती है। मानव अनुभूतियों की सप्रत्यात्मक व्याख्या करने की अनुपयुक्तता दरसाने एवं व्यक्ति का उसके सामाजिक प्रकार्यों में विश्लेषण करने की आधुनिक प्रवृत्ति को उपहास्य बताने के अतिरिक्त मर्सेल की डायरियों में कोई अन्य अस्तित्ववादी विचार नहीं मिलता। स्वतन्त्रता के भाव को मर्सेल ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है।

किर्कगार्ड यास्पर्स एवं मर्सेल का अस्तित्ववाद ईश्वरवादी है। हाईडेगर और सार्त्र अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के पोषक हैं। अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद का मन्तव्य है कि मानव अस्तित्व की आधिदैविक एवं जड़वादी व्याख्यायें भ्रान्तिपूर्ण हैं। मानव अस्तित्व की व्याख्या अमानव-पदों में न करके उसके अपने अद्वितीय स्वरूप के अनुरूप करनी चाहिये। अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद नैतिक मूल्यों को स्वकीय मानव स्थिति से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

हाईडेगर और सार्त्र की दार्शनिक पद्धति वस्तुवाद (Phenomenological) विचार-

धारा से अत्यधिक प्रभावित हुई है । ब्रेन्टनो और हुर्सल से वे इस बात में सहमत हैं कि आभासित की व्याख्या ही सत् की उचित व्याख्या है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि, हाईडेगर का लेखन प्राय बहुत क्लिष्ट होता है। सकलित लेखो को समझने के लिए हाईडेगर के सत्ता विषयक विचारो का सक्षिप्त विवरण उपयुक्त होगा । हाईडेगर के अनुसार मृत्यु द्वारा जीवन के सीमाकन का बोध व्यक्ति मे त्रास उत्पन्न करने के साथ उसके जीवन को अर्थ प्रदान करता है । व्यक्ति का विषय जगत् उसी अर्थ से सृष्ट होता है । अपने आप मे विषय जगत कुछ भी नही । मानव-प्रयोजन और मानव आकाक्षा जिनमें उसके अस्तित्व का अर्थ अन्तर्निहित रहता है, विषय-जगत् के मूल स्रोत हैं। विषय जगत् के सदर्भ मे मनुष्य के तीन मौलिक पक्ष हैं—तथ्यता (Facticity) अस्तिता (Existentiality) एव वचना (Forfeiture) तथ्यता मनुष्य के अनैच्छिक तौर पर वस्तु जगत् मे होने की द्योतक है । अस्तिता व्यक्ति के द्वारा अपनी समग्र सभावनाओ की पूर्वानुभूति का और उनके आलोक मे विषय जगत् को रचना का बोध कराती है । वचना 'सत्ता-पार्थक्य' से अभिभूत होकर सत्' के विषय में अनवधानता है । हाईडेगर के मत में हर मनुष्य के सामने केवल दो विकल्प हैं । एक तो यह कि वह अपनी चेतना का अनामिक सामूहिक चेतना से तादात्म्य करके अपनी वैयक्तिकता को खोदे और इसके प्रतिदान के रूप में अपने आपको निश्शकता से पुरस्कृत करे । उस अवस्था में उसका अस्तित्व अप्रामाणिक होगा। अथवा स्वतत्र चुनाव द्वारा अपनी प्रत्याशित सभावनाओ को परिपूर्ण करते हुए प्रामाणिक जीवन जिये । तथ्यता को पराभूत करके अपनी सभावनाओ को सत्यान्वित कर व्यक्ति अपनी असली स्वतन्त्रता को प्रकाशित करता है । 'सत् एव काल' नामक दर्शन-ग्रन्थ मे हाईडेगर कहता है कि 'सत्' भ्रान्तिजनक है । उसकी खोज प्रवञ्चना मात्र है । वस्तु जगत् में स्थापित मनुष्य के रूप में तो 'सत्' ज्ञेय है । पर मनुष्येतर 'व्यापक सत्' गूढ है । मानव के रूप मे 'सत्' काल से अविच्छिन्न है । सत्ता-विषय काल (Existential time) व्यक्ति के जीवन-काल से अभिन्न है । उसकी गति की दिशा अतीत से वर्तमान में होकर भविष्योन्मुखी नही होती । वह भविष्य से वर्तमान की ओर गतिमान है । वर्तमान भविष्य के आलोक में अतीत की दाय के रूप मे बोध गम्य है ।

अपने निबन्ध 'तत्त्व मीमासा क्या है ?' में हाईडेगर ने कहा है कि 'तत्त्वमीमासा शब्द' से हम मे से अधिकाश दूर भागते है । इस निबन्ध में हाईडेगर मुख्य रूप से, 'कुछ नहीं' क्या है और क्यो कर है, इन प्रश्नो पर विचार करते हैं । हाईडेगर 'कुछ नहीं' की तात्कालिक परिभाषा "कुछ नही जो-है की समग्रता का पूर्ण निषेध है" वाक्य मे देते हैं । उनके मत में 'आगस्ट' की महत्त्वपूर्ण मनोदशा में हम स्वय 'कुछ-नही' के समक्ष ले आये जाते हैं । आगस्ट की मन स्थिति में हम अपने आपको निराश्रय महसूस करते हैं । इस स्थिति मे "जो है अन्तर्धान हो जाता है, उस समय एक मात्र वस्तु जो शेष रहती है तथा हमे आच्छादित कर लेती है, वही यह 'कुछ-नहीं' है ।" आगस्ट कुछ नही को उद्घाटित करती है । 'कुछ नहीं' का उद्घाटन ही मानव जीवन को अर्थ और गति प्रदान करता है ।

'कुछ नही' की खोज हमें सीधे तत्व मीमासा के क्षेत्र मे ढकेल देती है। क्लासीकी तत्व-मीमासा 'कुछ-नही' को सत् का विरोधी मान कर उसे 'असत्' की सज्ञा देती है। पर कुछ नही' और 'जो है' मे विरोध देखना भ्रान्तिपूर्ण है । 'कुछ-नही' 'जो-है' का सहगामी है। 'जो है' वह 'कुछ-नही' से अलग नही किया जा सकता। 'सत्' सीमित है और उसका सीमा-कन 'कुछ नहीं' द्वारा ही होता है। अत वह 'कुछ नही' मे के रूप मे अभिव्यक्त होता है।

हाईडेगर के दूसरे लेख का विषय सत्य का तत्त्व है । सत्य के तत्त्व के वारे मे यह प्रश्न तात्त्विकी समस्या है। सत्य की पारम्परिक धारणा की चर्चा करते हुए हाईडेगर कहते हैं कि सत्य का अर्थ अनुकूलता है । पहले, वस्तु की उसके बारे में धारणा से अनुकूलता। दूसरे वाक्य के कथ्य और वस्तु के बीच अनुकूलता । अनुकूलता के स्वरूप के बारे मे विचार करते समय एक मौलिक प्रश्न सामने आता है। वह यह कि किस प्रकार धारणा या कथन अपनी विशिष्ट अवस्था में रहते हुए किसी अन्य वस्तु के अनुरूप हो सकता है । प्रतिनिधि कथन और वस्तु के मध्य सही सगति होने की आतरिक सभावना के आधार पर चिन्तन करते समय इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि अनुकूलन सत्य की प्रकृति को क्यो निर्धारित करता है।

अपने निबन्ध "सत्य का तत्व" में हाईडेगर इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सत्य का तत्व स्वतन्त्रता है।

यशदेव शल्य
चाँदमल शर्मा

भाव और निर्देश

गोटलॉब फ्रेगे

'अभेद'[1] (आइडेंटिटी) से कुछ ऐसे चुनौती देने वाले प्रश्न उठते ह जिनका उत्तर देना सर्वथा आसान नही होता। क्या वह एक सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध वस्तुओ मे है या उनके नामो में या सकेतो मे? अपनी पुस्तक 'बेग्रिफशिफ्ट (हाल १८७६) मे मैंने यह सम्बन्ध नामो या सकेतो मे माना है। मेरी दृष्टि से इसके समर्थन मे निम्न तर्क दिये जा सकते हैं, स्पष्ट है कि अ=अ और अ=ब भिन्न-भिन्न सज्ञान मूल्य (कॉग्नेटिव वेल्यु) रखनेवाली विज्ञप्तियाँ हैं, अ=अ एक प्रागनुभविक सत्य है और कांट के अनुसार उसे विश्लेषणात्मक कहा जायगा, परन्तु अ=ब के आकार की विज्ञप्तियाँ प्राय हमारे ज्ञान मे बडी मूल्यवान वृद्धि करती हैं और हमेशा प्रागनुभविक ढग से स्थापित नहीं की जा सकती। यह खोज कि प्रात -काल उदय होने वाला सूर्य नित्य नया नही होता, वरन् हमेशा वही होता है, खगोल विद्या की एक महत्वपूर्ण खोज थी। आज भी किसी ग्रह या धूमकेतु की पहिचान हमेशा सरलता से नही हो जाती। अत यदि अब हम अभेद को उसका सम्बन्ध मानें जिसे 'अ' और 'ब' नामोद्दिष्ट करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि अ=ब और अ=अ में कोई अन्तर नही हो सकता (यहा यह मान लिया गया है कि अ=ब सत्य है)। इस प्रकार यह सम्बन्ध किसी वस्तु का अपने से ही व्यक्त होगा, और निस्सदेह यह सम्बन्ध उस वस्तु का हमेशा अपने से ही होगा, किसी दूसरे से नही। अ=ब की विज्ञप्ति का आशय यही प्रतीत होता है कि 'अ' और 'ब' नाम या सकेत एक ही वस्तु को नामोद्दिष्ट करते हैं, जिससे वे नाम या सकेत स्वय ही अध्ययन के विषय होंगे और उनमे एक सम्बन्ध का उल्लेख किया जा सकेगा। परन्तु यह सम्बन्ध उन नामो या संकेतो मे वहीं तक सत्य होगा जहां तक वे किसी वस्तु को नामोद्दिष्ट करते हैं। यह सम्बन्ध दोनो में से प्रत्येक सकेत के एक ही नामोद्दिष्ट वस्तु के साथ मेल के माध्यम से प्रकट होगा। परन्तु यह नामोद्देशन ऐच्छिक है, किसी को भी स्वेच्छया, किसी चिह्न को बना कर, किसी वस्तु के लिये नाम या सकेत के रूप में प्रयुक्त करने से रोका तो नहीं जा सकता। ऐसी अवस्था में अ=ब वाक्य विषय-वस्तु का निर्देश न करके केवल नामोद्देश के स्वरूप का निर्देश करेगा, हम उसके माध्यम से कोई यथार्थ ज्ञान व्यक्त न कर

---

१ मैं इस शब्द का प्रयोग निश्चित अर्थ मे कर रहा हूँ, अत अ=ब से मेरा अर्थ है कि अ वही है जो ब है, या अ तथा ब एक दूसरे के अनुरूप हैं।

सकेंगे। यदि सकेत 'अ' को केवल वस्तु के रूप मे 'व' से भिन्न माना जाय (जैसे, यहाँ उनके आकार की भिन्नता के कारण), न कि सकेत के रूप मे (अर्थात् उस रूप मे भिन्न नही माना जाय जिसमे वे किसी पदार्थ को नामोद्दिष्ट करते हैं) तो अ=अ का सज्ञान मूल्य अनिवार्यत अ=व के समान होगा (बशर्ते अ=व सत्य है)। भिन्नता तभी उत्पन्न होगी जब सकेतों के वस्तुरूप की भिन्नता नामोद्दिष्ट वस्तु को प्रस्तुत करने की भिन्नता की सूचक हो। मानलें कि अ, ब, स, तीन रेखाएँ हैं जो एक त्रिभुज के शीर्षो को सम्मुख रेखा के मध्य-विन्दु से मिलाती हैं। अ और व रेखाएँ जहाँ एक-दूसरे को काटती हैं वही व और स रेखाएँ भी काटती हैं। इस प्रकार हमे एक ही विन्दु के लिये दो भिन्न नाम मिल जाते हैं। ये नाम ('अ और व के काटने का विन्दु' तथा 'व और स के काटने का विन्दु') भिन्न प्रकार से वस्तु को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यह विज्ञप्ति यथार्थ ज्ञान का उल्लेख करती है।

अब यह सोचना स्वाभाविक ही है कि सकेत का सम्बन्ध उस पदार्थ से तो है ही जिसे वह सूचित करता है और जिसे सकेत का निर्देश कहा जा सकता है, उसका सम्बन्ध उस वस्तु को प्रस्तुत करने के रूप से भी है। इसे मैं सकेत का भाव कहना चाहूँगा। हमारे दृष्टान्त मे तदनुसार 'अ और ब रेखाओ के काटने का विन्दु' तथा 'व और स के काटने का विन्दु' नामो का निर्देश एक ही होगा, परन्तु उनका भाव भिन्न-भिन्न होगा। साध्यकालीन नक्षत्र का निर्देश वही होगा जो प्रात कालीन नक्षत्र का होगा (अर्थात शुक्रग्रह) परन्तु उनका भाव भिन्न-भिन्न होगा।

सदर्भ मे यह स्पष्ट है कि 'सकेत' या 'नाम' से मेरा तात्पर्य व्यक्तिवाचक नाम (प्रापर नेम) के रूप के किसी भी नामोद्देशन से है जिसका निर्देश कोई निश्चित पदाथ होता है। ('पदार्थ' शब्द को यहाँ व्यापकतम अथ मे लेना चाहिये)। मेरा तात्पय यहाँ किसी ऐसी धारणा या सम्बन्ध से नही है जिसका इस प्रकार का निर्देश नही होता। ऐसी धारणा का अध्ययन किसी दूसरे निबन्ध मे किया जायगा।† एक ही वस्तु के नामोद्देशन मे अनेक शब्दो का या दूसरे सकेतो का प्रयोग किया जा सकता है। सक्षेप मे, ऐसी पद सज्ञाओं को हम व्यक्तिवाचक नामो से पुकारेंगे।

सभी व्यक्ति, जो किसी भाषा से (या पद-सज्ञाओ की समग्रता से) भली-भाँति परिचित हैं, उसमे प्रयुक्त एक व्यक्तिवाचक नाम के भाव को समझते हैं,[२] परन्तु यह ज्ञान भी उस

---

† देखिये फ्रेगे का लेख 'यूबर बेग्रिफ उन्ड गेगेनस्टेंड' (फीर्टेलत्साहरशिफ्ट फर विजनशेफ्टलिखे फिलॉसॉफी, १५ वाँ खण्ड [१८९२], पृ० १९२-२०५।

२ सही व्यक्तिवाचक नाम, जैसे 'अरस्तू', के भाव के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न मत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, वह भाव निम्न हो सकता है प्लेटो का शिष्य और अलेग्जेण्डर महान् का शिक्षक। दूसरा व्यक्ति उसका भाव यह भी मान सकता है अलेग्जेण्डर महान् का शिक्षक जो स्टागिरा मे पैदा हुआ था। इन दोनों भावो के आधार पर 'अरस्तू स्टागिरा मे पैदा हुआ था' वाक्य के भिन्न-भिन्न भाव होंगे। जब तक निर्दिष्ट अभिन्न रहे, ये परिवर्तन सहन किये

व्यक्तिवाचक नाम मे निर्दिष्ट वस्तु के (यदि कोई निर्देश है तो) किसी एक ही पक्ष को प्रकाशित करता है। निर्दिष्ट का व्यापक ज्ञान तो हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम तुरन्त यह बता सकें कि कोई प्रस्तुत भाव उसमे है या नही। ऐसा ज्ञान हमे कभी नही प्राप्त होता।

एक संकेत उसके भाव तथा उसके निर्दिष्ट मे विविक्त सम्बन्ध इस प्रकार का होता है कि प्रत्येक संकेत के लिये एक निश्चित भाव होता है और इस निश्चित भाव के लिये एक निश्चित निर्दिष्ट वस्तु होती है, परन्तु किसी एक निर्दिष्ट वस्तु के लिये केवल एक ही संकेत नही होता। एक ही भाव के लिये भिन्न-भिन्न भाषाओं मे (उस एक भाषा मे भी) भिन्न-भिन्न पद होते हैं। इसमे कोई शक नही कि इस विविक्त सम्बन्ध के कुछ अपवाद तो हैं ही। आदर्श भाषा मे संकेतों की पूर्ण समग्रता की प्रत्येक पदावली के अनुसार एक निश्चित भाव अवश्य होना चाहिये। परन्तु प्राकृतिक भाषाएँ इस शर्त को अक्सर पूरा नही कर पाती। ऐसी स्थिति में यदि एक संदर्भ मे एक शब्द का एक भाव हो तो हमे सन्तोष कर लेना चाहिये। यह तो संभवतः स्वीकार किया ही जायगा कि किसी व्यक्तिवाचक नाम के लिये प्रयुक्त, व्याकरण की दृष्टि से उचित, पदावली का कुछ भाव हमेशा रहता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उस भाव के अनुरूप हमेशा निर्दिष्ट भी होता है। 'पृथ्वी से अत्यधिक दूरी के खगोलीय पिंड' शब्दो का कुछ भाव है, परन्तु यह बड़ा संदिग्ध है कि इनका कोई निर्देश भी है। 'न्यून-तम शीघ्रता से संपाती शृंखला' (दि लीस्ट रैपिड्ली कन्वर्जेंट सीरीज़) पदावली का एक भाव है परन्तु यह विदित है कि इसका कोई निर्देश नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रदत्त संपाती शृंखला से न्यून शीघ्रता से संपाती शृंखला प्रस्तुत की जा सकती है। अतः किसी भाव को समझने का यह अर्थ नहीं है कि हमने निर्दिष्ट को प्राप्त कर लिया है, और न उससे निर्दिष्ट प्राप्त करने का आश्वासन ही मिलता है।

शब्दो के साधारण प्रयोग मे व्यक्ति उनके निर्देश का ही उल्लेख करना चाहता है। यह भी संभव है कि कोई स्वयं शब्दो के ही विषय मे या उनके भाव के विषय में विचार करना चाहता हो। उदाहरणार्थ, ऐसा तब होता है जब हम दूसरे के शब्दो का उद्धहरण देते हैं। हमारे शब्द उस समय दूसरे के शब्दो का नामोद्देश करते हैं, और साधारण निर्देश-विषय शब्द ही होते हैं। उस समय वे संकेतों के संकेत होते हैं। लिखने में ऐसे शब्दो को उद्धरण-चिह्नो के बीच में लिखा जाता है। इस प्रकार उद्धरण-चिह्नों के बीच मे प्रस्तुत शब्दों के विषय में हमें यह मानना चाहिये कि उनका निर्देश-विषय नही होता।

किसी कथन 'अ' के भाव को प्रकट करने के लिये हम केवल वाक्यांश—'कथन "अ" का भाव' का ही प्रयोग कर सकते हैं। किसी उद्धृत कथन में हम दूसरे के कथन के भाव की चर्चा करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा में शब्दों का प्रचलित निर्देश

जा सकते हैं। हालांकि किसी विश्लेपणात्मक विज्ञान (डिमास्ट्रेटिव साइंस) की सैद्धांतिक संरचना में इनसे बचना आवश्यक है और आदर्श भाषा में तो ऐसा होना ही नहीं चाहिये।

नही होता, वरन् वे व्यावहारिक भाव का ही नामोद्देशन करते है। सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि उद्धृत कथनो मे शब्दो का परोक्षरूप मे प्रयोग होता है, अर्थात् उनका परोक्ष निर्देश होता है। इस प्रकार किसी शब्द का प्रचलित निर्देश परोक्ष निर्देश से भिन्न होता है। उसका प्रचलित भाव भी उसके परोक्ष भाव से भिन्न होता है। इस प्रकार किसी शब्द का परोक्ष निर्देश उसका प्रचलित भाव होता है। यदि विशिष्ट उदाहरणो मे हम सकेत, भाव और निर्देश के सम्बन्ध के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझना चाहते हैं तो ऐसे अपवादो का हमे अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

किसी सकेत के निर्देश तथा भाव का उससे सम्बन्धित प्रत्यय (आइडिया) से भी अन्तर करना आवश्यक है। यदि किसी सकेत का निर्देश कोई इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने योग्य पदार्थ है, तो उससे सम्बन्धित मेरा प्रत्यय एक आतरिक बिम्ब[3] है जो उस पदार्थ की मेरी सवेदनाओ की, तथा मेरी अनेक आतरिक तथा बाह्य क्रियाओ की, स्मृति से उत्पन्न होता है। ऐसी भावनाओ से प्राय सवेग सयुक्त रहते हैं, उनके विभिन्न अगो की स्पष्टता मे परिवर्तन होता रहता है और उनमे अस्थिरता रहती है। एक व्यक्ति मे भी एक भावना के साथ सदा एक भाव ही नही सयुक्त रहता। भावना विषयीनिष्ठ होती है, एक व्यक्ति की भावना दूसरे की नही हो सकती। फलस्वरूप, धीरे-धीरे एक ही भाव से सयुक्त भावनाओ मे अनेक प्रकार के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। एक चित्रकार, एक घुडसवार तथा एक जीव वैज्ञानिक बुसीफेलस (Bucephalus) नाम के साथ सम्भवत भिन्न प्रकार की भावनाओ को सयुक्त करेंगे। भावना मे तथा किसी सकेत के भाव मे यही मुख्य अन्तर है। किसी सकेत का भाव अनेक व्यक्तियो की सामान्य सम्पत्ति हो सकता है, अत वह किसी विशिष्ट व्यक्ति के मन की सरचना का अग नही होता। इसका प्रतिवाद करना तो कठिन है ही कि मानवता के पास भावनाओ का एक सामान्य भडार है जिसका पीढी दर पीढी सप्रेषण होता रहता है।[4]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भावना से भिन्न केवल भाव की चर्चा करने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिये, भावना की चर्चा तो ठीक प्रकार से तभी हो सकती है जब हम यह भी बताएँ कि वह किस व्यक्ति की भावना किस समय की है। एक शका की जा सकती है, जिस प्रकार एक ही शब्द से एक व्यक्ति एक भावना सयुक्त करता है तथा दूसरा व्यक्ति दूसरी, उसी प्रकार एक व्यक्ति उससे एक भाव को तथा दूसरा दूसरे भाव को सयुक्त

---

३ भावनाओं मे हम उन अपरोक्ष अनुभवों को भी शामिल कर सकते हैं जिनमे इन्द्रिय-अकन एव क्रियाएँ मन पर पहले से ही पडे सस्कारों का स्थान ले लेती हैं। परन्तु हमारे लिये यह भेद महत्वहीन है, विशेष रूप से क्योंकि इन्द्रिय-अकन और क्रियाएँ प्रत्यक्ष-विषयक आकृतियो को समग्रता प्रदान करने मे हमेशा सहायक बनती हैं। प्रत्यक्ष अनुभव मे वे सभी पदार्थ सम्मिलित किये जा सकते हैं जो इन्द्रिय-गोचर हैं या विस्तार वाले हैं।

४ अत मूल रूप मे ऐसी भिन्न वस्तु के नामोद्देशन के लिये 'भावना' शब्द का प्रयोग उचित मानना चाहिये।

कर सकता है। परन्तु इन दोनो के सम्बन्ध के स्वरूप मे एक भेद फिर भी रहता है, उनका एक ही भाव को ग्रहण करने से कोई नही रोक सकता, जबकि वे एक ही भावना को कभी नही पा सकते। यदि दो व्यक्ति एक ही वस्तु का चित्र बनाएँ, तो प्रत्येक अपनी अलग-अलग भावना को रखेगा। निस्सदेह कभी कभी यह सम्भव है कि हम भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की भावनाओ मे, यहाँ तक कि सवेदनाओ मे, अतर स्थापित कर सकें, परन्तु एक निश्चित तुलना सभव नही है क्योकि हम दोनो भावनाओ को एक ही चेतना मे एक साथ नही ला सकते।

किसी व्यक्तिवाचक नाम का निर्देश स्वय वह पदार्थ होता है जिसका हम उसके द्वारा नामोद्देशन करते हैं। उससे सम्बन्धित भावना पूर्णतया विषयगत होती है। तत्सम्बन्धी भाव निर्देशित विषय तथा भावना के बीच की ही स्थिति है, वह भावना की तरह विषयगत भी नही होता और न स्वय पदार्थ ही होता है। निम्न सादृश्य इन सम्बन्धो को और स्पष्ट करेगा मान लीजिये कोई व्यक्ति चद्रमा को दूरवीक्षण-यत्र की सहायता से देख रहा है। चद्रमा की तुलना निर्देशित से की जा सकती है। वह निरीक्षण की विषय-वस्तु है। परन्तु यह निरीक्षण दूरवीक्षण-यत्र मे स्थित लेंस पर अकित चित्र तथा आँख के दृष्टि-पटल पर बनी हुई आकृति के माध्यम से ही किया जा सकता है। लेंस पर बनी आकृति की तुलना मैं भाव से करता हूँ तथा दृष्टि-पटल पर अकित आकृति की भावना या अनुभव से। लेंस पर अकित आकृति निस्सदेह एक पक्षीय है तथा निरीक्षण के उद्देश्य पर निर्भर करती है। परन्तु फिर भी वह वस्तुगत है, क्योकि वह भिन्न-भिन्न निरीक्षको द्वारा काम मे लाई जा सकती है। ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि अनेक निरीक्षक उसका एक साथ ही प्रयोग कर सकें। फिर भी प्रत्येक निरीक्षक के दृष्टि-पटल पर अकित आकृति उसकी अपनी होगी। इन आकृतियो मे वास्तविक अनुरूपता का तो कोई प्रश्न ही नही उठता, निरीक्षको की आँखो की बनावट की भिन्नता के कारण उनमे रेखागणितीय सगति भी कठिनाई से होगी। यह मानकर कि अ की दृष्टि-पटल-गत आकृति ब को दिखाई देती है या अ स्वय दर्पण मे अपनी दृष्टि-पटल-गत आकृति को देख सकता है, इस दृष्टात को और आगे बढाया जा सकता है। इस प्रकार सभवत हम दिखा सकें कि एक भावना को वस्तु के रूप मे देखा जा सकता है, परन्तु इस रूप मे वह निरीक्षक के लिये वही नही है जो उस व्यक्ति के लिये है जिसकी भावना वह है। परन्तु इस पर हम यहाँ विस्तार मे नही जा सकते।

शब्दो, वाक्याशों या पूरे वाक्यों में अब हम तीन स्तर के भेद कर सकते हैं। यह भेद भावनाओ से ही सम्बन्धित हो सकते हैं या, निर्देश समान होने पर, भाव के स्तर पर हो सकते हैं या, अन्त मे, निर्देश के स्तर पर ही हो सकते है। पहले प्रकार के भेद मे यह ध्यान रखने की बात है कि शब्दो के साथ भावनाओ का अनिश्चित सम्बन्ध होने के कारण जो भेद एक व्यक्ति के लिये सार्थक है, सभव है, वह, दूसरे व्यक्ति के लिये न हो। अनुवाद तथा मूल-पाठ के भेद को इस पहले स्तर के भेद तक ही सीमित रहना चाहिये। यहाँ जितने प्रकार के भेद सभव हैं उनमे ही वे गहराइयाँ भी शामिल हैं जो काव्यगत वाग्मिता को भाव मे उत्पन्न करने की चेष्टा करती हैं। भाव मे उत्पन्न ये गहराइयाँ वस्तुगत नही होती, वरन् कवि या वक्ता की

नही होता, वरन् वे व्यावहारिक भाव का ही नामोद्देशन करते है। संक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि उद्धृत कथनो मे शब्दो का परोक्षरूप मे प्रयोग होता है, अर्थात् उनका परोक्ष निर्देश होता है। इस प्रकार किसी शब्द का प्रचलित निर्देश परोक्ष निर्देश से भिन्न होता है। उसका प्रचलित भाव भी उसके परोक्ष भाव से भिन्न होता है। इस प्रकार किसी शब्द का परोक्ष निर्देश उसका प्रचलित भाव होता है। यदि विशिष्ट उदाहरणो मे हम संकेत, भाव और निर्देश के सम्बन्ध के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझना चाहते हैं तो ऐसे अपवादो का हमे अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

किसी संकेत के निर्देश तथा भाव का उससे सम्बन्धित प्रत्यय (आइडिया) से भी अन्तर करना आवश्यक है। यदि किसी संकेत का निर्देश कोई इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने योग्य पदार्थ है, तो उससे सम्बन्धित मेरा प्रत्यय एक आंतरिक बिम्ब[3] है जो उस पदार्थ की मेरी संवेदनाओ की, तथा मेरी अनेक आंतरिक तथा बाह्य क्रियाओ की, स्मृति से उत्पन्न होता है। ऐसी भावनाओ से प्राय संवेग संयुक्त रहते हैं, उनके विभिन्न अंगो की स्पष्टता मे परिवर्तन होता रहता है और उनमे अस्थिरता रहती है। एक व्यक्ति मे भी एक भावना के साथ सदा एक भाव ही नही संयुक्त रहता। भावना विषयीनिष्ठ होती है, एक व्यक्ति की भावना दूसरे की नहीं हो सकती। फलस्वरूप, धीरे-धीरे एक ही भाव से संयुक्त भावनाओ में अनेक प्रकार के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। एक चित्रकार, एक घुडसवार तथा एक जीव वैज्ञानिक बुसीफेलस (Bucephalus) नाम के साथ सम्भवत भिन्न प्रकार की भावनाओ को संयुक्त करेंगे। भावना मे तथा किसी संकेत के भाव मे यही मुख्य अन्तर है। किसी संकेत का भाव अनेक व्यक्तियो की सामान्य सम्पत्ति हो सकता है, अत वह किसी विशिष्ट व्यक्ति के मन की संरचना का अंग नही होता। इसका प्रतिवाद करना तो कठिन है ही कि मानवता के पास भावनाओ का एक सामान्य भंडार है जिसका पीढी दर पीढी संप्रेषण होता रहता है।[4]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भावना से भिन्न केवल भाव की चर्चा करने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिये, भावना की चर्चा तो ठीक प्रकार से तभी हो सकती है जब हम यह भी बताएँ कि वह किस व्यक्ति की भावना किस समय की है। एक शंका की जा सकती है, जिस प्रकार एक ही शब्द से एक व्यक्ति एक भावना संयुक्त करता है तथा दूसरा व्यक्ति दूसरी, उसी प्रकार एक व्यक्ति उससे एक भाव को तथा दूसरा दूसरे भाव को संयुक्त

---

३ भावनाओं मे हम उन अपरोक्ष अनुभवों को भी शामिल कर सकते हैं जिनमे इन्द्रिय-अंकन एवं क्रियाएँ मन पर पहले से ही पढे संस्कारों का स्थान ले लेती हैं। परन्तु हमारे लिये यह भेद महत्वहीन है, विशेष रूप से क्योंकि इन्द्रिय-अंकन और क्रियाएँ प्रत्यक्ष-विषयक आकृतियो को समग्रता प्रदान करने में हमेशा सहायक बनती हैं। प्रत्यक्ष अनुभव मे वे सभी पदार्थ सम्मिलित किये जा सकते हैं जो इन्द्रिय-गोचर हैं या विस्तार वाले हैं।

४ अत मूल रूप मे ऐसी भिन्न वस्तु के नामोद्देशन के लिये 'भावना' शब्द का प्रयोग उचित मानना चाहिये।

कर सकता है। परन्तु इन दोनो के सम्बन्ध के स्वरूप मे एक भेद फिर भी रहता है, उनको एक ही भाव को ग्रहण करने से कोई नही रोक सकता, जबकि वे एक ही भावना को कभी नही पा सकते। यदि दो व्यक्ति एक ही वस्तु का चित्र बनाएँ, तो प्रत्येक अपनी अलग-अलग भावना को रखेगा। निस्सदेह कभी कभी यह सम्भव है कि हम भिन्न भिन्न व्यक्तियो की भावनाओ मे, यहा तक कि सवेदनाओ मे, अतर स्थापित कर सके, परन्तु एक निश्चित तुलना सभव नही है क्योकि हम दोनो भावनाओ को एक ही चेतना मे एक साथ नही ला सकते।

किसी व्यक्तिवाचक नाम का निर्देश स्वय वह पदार्थ होता है जिसका हम उसके द्वारा नामोद्देशन करते हैं। उससे सम्बन्धित भावना पूर्णतया विषयगत होती है। तत्सम्बन्धी भाव निर्देशित विषय तथा भावना के बीच की ही स्थिति है, वह भावना की तरह विषयगत भी नही होता और न स्वय पदार्थ ही होता है। निम्न सादृश्य इन सम्बन्धो को और स्पष्ट करेगा मान लीजिये कोई व्यक्ति चद्रमा को दूरवीक्षण-यन्त्र की सहायता से देख रहा है। चद्रमा की तुलना निर्देशित से की जा सकती है। वह निरीक्षण की विषय-वस्तु है। परन्तु यह निरीक्षण दूरवीक्षण-यन्त्र मे स्थित लेंस पर अकित चित्र तथा आँख के दृष्टि-पटल पर बनी हुई आकृति के माध्यम से ही किया जा सकता है। लेंस पर बनी आकृति की तुलना मैं भाव से करता हूँ तथा दृष्टि-पटल पर अकित आकृति की भावना या अनुभव से। लेंस पर अकित आकृति निस्सदेह एक पक्षीय है तथा निरीक्षण के उद्देश्य पर निर्भर करती है। परन्तु फिर भी वह वस्तुगत है, क्योकि वह भिन्न-भिन्न निरीक्षको द्वारा काम मे लाई जा सकती है। ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि अनेक निरीक्षक उसका एक साथ ही प्रयोग कर सकें। फिर भी प्रत्येक निरीक्षक के दृष्टि-पटल पर अकित आकृति उसकी अपनी होगी। इन आकृतियो मे वास्तविक अनुरूपता का तो कोई प्रश्न ही नही उठता, निरीक्षको की आँखो की बनावट की भिन्नता के कारण उनमे रेखागणितीय सगति भी कठिनाई से होगी। यह मानकर कि अ की दृष्टि-पटल-गत आकृति ब को दिखाई देती है या अ स्वय दर्पण मे अपनी दृष्टि-पटल-गत आकृति को देख सकता है, इस दृष्टात को और आगे बढाया जा सकता है। इस प्रकार सभवत हम दिखा सकें कि एक भावना को वस्तु के रूप मे देखा जा सकता है, परन्तु इस रूप में वह निरीक्षक के लिये वही नही है जो उस व्यक्ति के लिये है जिसकी भावना वह है। परन्तु इस पर हम यहाँ विस्तार मे नही जा सकते।

शब्दो, वाक्याशों या पूरे वाक्यो मे अब हम तीन स्तर के भेद कर सकते हैं। यह भेद भावनाओ से ही सम्बन्धित हो सकते हैं या, निर्देश समान होने पर, भाव के स्तर पर हो सकते हैं या, अन्त मे, निर्देश के स्तर पर ही हो सकते है। पहले प्रकार के भेद मे यह ध्यान रखने की बात है कि शब्दो के साथ भावनाओ का अनिश्चित सम्बन्ध होने के कारण जो भेद एक व्यक्ति के लिये सार्थक है, सभव है, वह, दूसरे व्यक्ति के लिये न हो। अनुवाद तथा मूल पाठ के भेद को इस पहले स्तर के भेद तक ही सीमित रहना चाहिये। यहाँ जितने प्रकार के भेद सभव हैं उनमे ही वे गहराइयाँ भी शामिल हैं जो काव्यगत वाग्मिता को भाव मे उत्पन्न करने की चेष्टा करती है। भाव मे उत्पन्न ये गहराइयाँ वस्तुगत नही होती, वरन् कवि या वक्ता की

व्यञ्जना के अनुसार श्रोता या पाठक मे उत्पन्न होती हैं। मानवीय विचारो मे बिना किसी साम्य के कला निस्सदेह एक असम्भव कल्पना होती, परन्तु इस साम्य के बाद भी यह कभी ठीक प्रकार से नही जाना जा सकता कि कवि के तात्पर्य को हम कितना समझ सके हैं।

इस निबन्ध मे आगे अब हम भावनाओ तथा अनुभवो की चर्चा मे नहीं पड़ेंगे। इनका उल्लेख यहाँ पर केवल यही स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि किसी शब्द को सुनकर श्रोता मे जो भावना उत्पन्न होती है वह उस शब्द का भाव या निर्देश-विषय नहीं होती।

सक्षेप के लिये, तथा एक निश्चित शब्द-योजना के लिये, निम्नलिखित पदावली को स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है

एक व्यक्तिवाचक नाम (शब्द, सकेत, सकेत-प्रयोग, वाक्याश) भाव को अभिव्यक्त करता है तथा निर्दिष्ट का नामोद्देशन करता है। एक सकेत के माध्यम से हम उसके भाव की अभिव्यक्ति करते हैं तथा उसके निर्दिष्ट का नामोद्देश करते हैं।

आदर्शवादियो या सदेहवादियो के द्वारा एक शका आरम्भ में ही उठाई जा सकती थी आप बडी आसानी से चन्द्रमा को वस्तु मान उसके विषय मे बात करते हैं, परन्तु आप यह कैसे जानते हैं कि 'चन्द्रमा' नाम का कोई निर्देश-विषय है ? आप कैसे जानते हैं कि नाम का, चाहे वह कोई भी हो, निर्देश होना है ? मेरा उत्तर यह है कि जब हम 'चन्द्रमा' कहते हैं, हम चन्द्रमा के विषय मे अपनी भावना को नही प्रकट करना चाहते, न केवल उसके भाव को व्यक्त कर सतुष्ट हो जाते हैं, वरन् उसके निर्देश को हम एक पूर्वमान्यता के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं। यह मानना कि 'चन्द्रमा पृथ्वी से छोटा है' वाक्य मे हम चन्द्रमा से सम्बन्धित भावना पर चर्चा कर रहे हैं, स्पष्टत उसके प्रत्यय को गलत समझना है। यदि वक्ता यही कहना चाहता तो उसने 'चन्द्रमा विषयक मेरी भावना' वाक्याश का प्रयोग किया होता। इसमे कोई सदेह नही कि पूर्वमान्यताओ मे हमसे गलती हो सकती है और प्राय हुई है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यहाँ देने की आवश्यकता नही है कि क्या हमेशा ही यह गलती नही हो सकती। किसी सकेत के निर्देश-विषय का उल्लेख किया गया है तो उसके औचित्य के लिये आरम्भ मे अपने बोलने या लिखने के तात्पर्य को प्रकट कर देना ही पर्याप्त होगा (उस स्थिति मे हमे यह शर्त अवश्य जोडनी चाहिये यह मान लिया है कि निर्देश-विषय का अस्तित्व है)।

अभी तक हमने केवल ऐसे वाक्याशो, शब्दों या सकेतो के भाव तथा निर्देश पर विचार किया है जिन्हे व्यक्तिवाचक नाम कहते हैं। अब हम एक पूरे ज्ञापक वाक्य (डिक्लेरेटिव सेंटेंस) के भाव तथा निर्देश पर विचार करेंगे। ऐसे वाक्य मे कोई विचार[५] निहित रहता है। यह

---

५ विचार से मेरा तात्पर्य विचार करने की विषयगत प्रक्रिया से नहीं है वरन् वस्तुगत तथ्य से है। यह वस्तुगत तथ्य इस योग्य होता है कि अनेक विचारक उस पर सम्मिलितरूप से विचार कर सकें।

विचार उसका निर्देश-विषय है या भाव ? विचारार्थ मान लें कि वाक्य का कोई निर्देश-विषय है। अब यदि हम उस वाक्य के किसी शब्द को समान निर्देश परन्तु भिन्न भाव वाले किसी दूसरे शब्द से बदल दें, तो उसका प्रभाव इस वाक्य के निर्देश-विषय पर नहीं पड़ना चाहिये। परन्तु हम देखते हैं कि उस दशा में विचार बदल जाता है। उदाहरणार्थ, निम्न दोनों वाक्यों का विचार भिन्न-भिन्न है, 'प्रभात-नक्षत्र सूर्य द्वारा प्रकाशित पिंड है' तथा 'सान्ध्य नक्षत्र सूर्य द्वारा प्रकाशित पिंड है।' कोई भी व्यक्ति जो यह नहीं जानता कि प्रभात-नक्षत्र तथा सान्ध्य-नक्षत्र एक ही हैं, इन वाक्यों में से एक को सत्य तथा दूसरे को असत्य मान सकता है। इस प्रकार विचार किसी वाक्य का निर्देश नहीं हो सकता। उसे उस वाक्य का भाव ही होना चाहिये। तो निर्देश की क्या स्थिति है ? क्या उसके विषय में अनुसंधान करने का अधिकार भी हमें है ? क्या यह संभव है कि सम्पूर्ण वाक्य का केवल भाव ही हो, निर्देश न हो ? ऐसे वाक्यों की संभावना तो है ही, उसी तरह जैसे ऐसे वाक्यांश होते हैं जिनका प्रत्यय होता है परन्तु निर्देश नहीं होता। वे वाक्य जिनमें निर्देश-हीन व्यक्तिवाचक नाम आते हैं इसी प्रकार के होते हैं। 'ओडीसस को नींद में इथाका के किनारे छोड़ दिया गया' वाक्य का भाव तो अवश्य है ही, परन्तु चूंकि यह संदिग्ध है कि इस वाक्य में आये 'ओडीसस' शब्द का कोई निर्देश भी है, अतः पूरे वाक्य का निर्देश संदिग्ध है। फिर भी यह सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति इस वाक्य को गंभीरतापूर्वक सत्य या असत्य मानेगा तो वह 'ओडीसस' के भाव के साथ उसका निर्देश भी मानेगा, क्योंकि किसी नाम के निर्देश के प्रति ही किसी विधेय का विधान या निषेध किया जा सकता है। यदि कोई यह नहीं स्वीकार करता कि नाम का निर्देश होता है तो वह किसी विधेय का विधान या निषेध भी नहीं कर सकता। परन्तु, ऐसी स्थिति में किसी नाम के निर्देश को जानने का प्रयत्न भी व्यर्थ होगा, यदि कोई विचार से आगे नहीं जाना चाहता तो वह भाव से ही सन्तुष्ट हो सकता है। यदि यहाँ वाक्य के केवल भाव का, विचार का, ही प्रश्न होता तो वाक्यांश के निर्देश की चिंता अनावश्यक थी क्योंकि पूरे वाक्य के भाव के साथ वाक्यांश का केवल भाव, न कि निर्देश, सम्बन्धित है। 'ओडिसस' का निर्देश-विषय हो या न हो, विचार वही रहता है। किसी वाक्यांश के निर्देश के प्रति हमारे लगाव का तात्पर्य यह है कि हम सामान्यतः पूरे वाक्य का निर्देश मानते हैं और चाहते हैं। जैसे ही हमें यह मालूम होता है कि किसी विचार के एक अंश का निर्देश नहीं है उस विचार का मूल्य समाप्त हो जाता है। अतः यह उचित ही है कि हम वाक्य के भाव से ही संतुष्ट न हों और निर्देश को खोजें। परन्तु यहीं हम क्यों चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिवाचक नाम का केवल भाव ही न हो वरन् निर्देश भी हो ? क्यों नहीं विचारमात्र ही हमारे लिये पर्याप्त होता ? क्योंकि हम उसके सत्य मूल्य को जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि सभी उदाहरणों में ऐसा नहीं होता। जैसे किसी पौराणिक काव्य के सुनने में भाषा-माधुर्य के अतिरिक्त हमारी रुचि वाक्यों के भाव में, कल्पना-चित्रों में तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली अनुभूतियों में ही होती है। सत्यता का प्रश्न सौंदर्यानुभूति के आनन्द को छीन कर उसके स्थान में वैज्ञानिक अनुसंधान की दृष्टि स्थापित करेगा। अतः जब तक काव्य को हम एक कला-कृति के रूप में देखते हैं तो हमारा इससे कोई लगाव नहीं रहता कि,

उदाहरणार्थ 'ग्रोडीसस', का कोई निर्देश है या नहीं।[६] हमारी सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति ही हमें भाव से निर्देश-विषय की ओर ले जाती है।

ऊपर हमने देखा कि जहाँ किसी वाक्यांश के निर्देश का प्रश्न उठता है वहाँ हमेशा ही वाक्य का निर्देश खोजा जाता है और यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब हम सत्य-मूल्य का अन्वेषण करते हैं।

इस प्रकार हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि किसी वाक्य के सत्य-मूल्य में ही उसका निर्देश सन्निहित होता है। किसी वाक्य के सत्य-मूल्य से मेरा तात्पर्य उस वाक्य का सत्य या असत्य होना ही है। सत्य-मूल्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सक्षेप के लिये इन सत्य-मूल्यों में से मैं एक को सत्य तथा दूसरे को असत्य कहूँगा। प्रत्येक ऐसा ज्ञापक वाक्य, जो अपने शब्दों के निर्देश से सम्बन्धित है, एक व्यक्तिवाचक नाम की तरह ही है और उसका निर्देश (यदि कोई निर्देश हो तो) या तो सत्य होगा या असत्य। ये दो पदार्थ—सत्य तथा असत्य—प्रत्येक सत्यान्वेषी को व्यक्त या अव्यक्त रूप से मानने पड़ते हैं। यहाँ तक कि संशयवादी भी इनसे इन्कार नहीं कर सकता। सत्य-मूल्यों का पदार्थ के रूप में नामोद्देश शायद कोरी कल्पना प्रतीत हो, या शायद इसे शब्दों का खेल-मात्र ही समझा जाय और यह माना जाय कि इससे कोई महत्व का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। मेरा पदार्थ से क्या तात्पर्य है इसपर सही बहस तभी की जा सकती है जब इसे धारणा या सम्बन्ध के संदर्भ में देखा जाय। इस पर मैं दूसरे निबन्ध में विचार करना चाहूँगा। परन्तु इतना तो अब तक स्पष्ट हो ही गया है कि प्रत्येक निर्णय में[७], चाहे वह कितना भी महत्वहीन क्यों न हो, हम विचार के स्तर से निर्देश (या वस्तुनिष्ठता) के स्तर की ओर बढ़ चुके होते हैं।

ऐसा भी सोचा जा सकता है कि विचार का सत्य के साथ वही सम्बन्ध नहीं है जो भाव का निर्देश के साथ है, वरन् यह सम्बन्ध उद्देश्य-विधेय के जैसा है। उदाहरणार्थ, निस्सदेह यह कहा जा सकता है कि 'यह विचार कि ५ एक रूढ़-संख्या है, सत्य है'। परन्तु ध्यान से विचार स्पष्ट हो जायगा कि '५ एक रूढ़-संख्या है' इस सरल वाक्य में जो कुछ कहा गया है उससे अधिक ऊपर वाले वाक्य में और कुछ नहीं कहा गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विचार का सत्य के साथ जो सम्बन्ध है उसकी तुलना उद्देश्य तथा विधेय के साथ नहीं की जा सकती। तार्किक अर्थ में यदि सोचा जाय तो उद्देश्य तथा विधेय निस्सदेह विचार के तत्व हैं, ज्ञान के लिये उनका उपयोग एक ही स्तर का है। उद्देश्य तथा विधेय को मिलाने

---

६ अच्छा होता यदि हम ऐसे संकेतों के लिये, जिनका केवल भाव ही है, कोई नया नाम रखते। मान लीजिये यदि हम उनका नाम प्रतिकृति (रिप्रजेंटेशन) रखें तो रंगमंच के अभिनेता के शब्द प्रतिकृति हो जायेंगे। यही नहीं, वह अभिनेता स्वयं भी एक प्रतिकृति हो जायगा।

७ मेरे लिये निर्णय का अर्थ एक विचार को ग्रहण करना ही नहीं है, वह उसकी सत्यता की स्वीकारोक्ति है।

से हम केवल विचार को ही प्राप्त करते है। इस प्रकार न तो हम भाव से निर्देश की ओर ही चलते हैं और न विचार से उसके सत्य-मूल्य की ओर। उसमे हम एक ही स्तर पर घूमते हैं, एक स्तर से दूसरे स्तर पर कभी नही जाते। एक सत्य-मूल्य किसी विचार का अंश कभी नही हो सकता, उसी प्रकार जैसे सूर्य नहीं हो सकता, क्योकि वह भाव नही वरन् पदार्थ है।

यदि हमारी यह मान्यता, कि किसी वाक्य का निर्देश उसका सत्य-मूल्य होता है, सही है तो इस सत्य-मूल्य को उस स्थिति मे नही बदलना चाहिये जब कि उस वाक्य के किसी अंश को समान निर्देश वाली किसी दूसरी पदावली मे बदल दिया जाता है। और यही वास्तव मे होता भी है। (लाइबनित्स ने इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है Eadem sunt quae sibi mutuo substitui possunt, salva veritate) सत्य-मूल्य प्रत्येक ऐसे वाक्य मे निहित है जिसके अवयवो का निर्देश प्रसगोचित होता है। यह सत्य-मूल्य समान निर्देश वाले वाक्यांशों की अदल-बदल से नही बदलता और किसी सम्पूर्ण वाक्य के रूप मे ही इस सत्य मूल्य को प्राप्त किया जा सकता है।

यदि किसी वाक्य का सत्य मूल्य उसका निर्देश है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है है कि सभी सत्य वाक्यो का एक ही निर्देश होना चाहिये और, इसी प्रकार, दूसरी ओर, सभी असत्य वाक्यो का भी एक ही निर्देश होगा। वाक्य के निर्देश मे, इस तरह, जो कुछ भी अपना विशिष्ट होता है, मिटा दिया जाता है। हमारा लगाव एक वाक्य के निर्देश से ही केवल नही हो सकता परन्तु केवल विचार हमे कोई ज्ञान नही प्रदान करता। ज्ञान, वास्तव मे, हमे निर्देश अथवा सत्य-मूल्य से युक्त विचार से ही प्राप्त होता है। निर्णयो (जजमेंट्स) के विषय मे यह माना जा सकता है कि उनमे विचार से सत्य-मूल्य की ओर बढा जाता है। परन्तु यह परिभाषा नही हो सकती। निर्णय अपने मे बिल्कुल अनोखी वस्तु हैं, उनकी तुलना नही हो सकती। यह भी कहा जा सकता है कि निर्णय किसी सत्य-मूल्य के अतर्गत उसके अवयवो के विभेद हैं। ऐसे भेद पुन विचार की ओर उन्मुख होने से बनते हैं। किसी सत्य-मूल्य के प्रत्येक भाव के अनुरूप ही उसके अपने विश्लेषण का स्वरूप होगा। जो भी हो, यहा मैंने, 'अवयव' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे किया है। वास्तव मे मैंने एक शब्द के निर्देश को उसके वाक्य के निर्देश का अग स्वीकार कर सम्पूर्ण वाक्य तथा उसके अगों के सम्बन्ध को उस वाक्य के निर्देश मे स्थानान्तरित कर दिया है। इस प्रकार के वक्तव्य की आलोचना की जा सकती है क्योकि सम्पूर्ण निर्देश तथा उसका एक अग शेष अग के स्वरूप-निर्धारण के लिये पर्याप्त नही है और चूंकि 'अग' शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ मे, अर्थात् घटक के अर्थ मे, पहले ही प्रयुक्त हो चुका है, अत यहां इसके लिये किसी नये पद का प्रयोग करने की आवश्यकता है।

इस मान्यता का, कि किसी वाक्य का सत्य-मूल्य उस वाक्य का निर्देश है, और परीक्षा की जानी चाहिये। हमने ऊपर देखा है कि किसी वाक्यांश को समान निर्देश वाली दूसरी पदावली से बदल देने से भी उस वाक्य का सत्य-मूल्य समान रहता है। परन्तु हमने ऐसे उदाहरणों पर विचार नही किया जिनमे हटाये जाने वाली पदावली स्वय एक वाक्य है। यदि हमारा मत सही है तो, यदि एक वाक्य के अग के रूप मे कोई दूसरा वाक्य है और यदि उसको भी समान सत्य-

मूल्य वाले दूसरे वाक्य के साथ बदल दिया जाता है तो भी मूल वाक्य का सत्य-मूल्य नहीं बदलना चाहिये। कुछ दृष्टातो मे, जैसे, जब पूरा वाक्य या उसका एक अग परोक्ष या अपरोक्ष उद्धरण हो, अपवादो की आशा की जा सकती है, क्योकि, जैसाकि हमने देखा है, इन दृष्टातो म शब्द अपना प्रचलित निर्देश नही रखते। अपरोक्ष उद्धरणो मे एक वाक्य दूसरे वाक्य का नामोद्देश करता है और परोक्ष उद्धरणो मे विचार का।

इस प्रकार आश्रित उपवाक्य या वाक्य खण्डो पर भी विचार करना हमारे लिये आवश्यक हो गया। ये एक जटिल वाक्य के अग के रूप मे हमारे सामने आते हैं। ये जटिल वाक्य भी तार्किक दृष्टि से एक वाक्य, एक मुख्य वाक्य, ही हैं। परन्तु हमारे सामने यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन आश्रित उपवाक्यो के विषय मे भी यही सत्य है कि इनका निर्देश सत्य-मूल्य होता है? परोक्ष उद्धरणो के विषय मे हम जानते हैं कि ऐसा नही है। वैयाकरण आश्रित उपवाक्यो को वाक्यो के अगो का प्रतिनिधि मानते हैं और इस प्रकार उनको विशेषण, क्रिया-विशेषण तथा सज्ञा-उपवाक्यों मे विभाजित करते हैं। इससे यह सोचा जा सकता है कि एक आश्रित उपवाक्य का निर्देश एक सत्य-मूल्य नही होता, वरन् उसी प्रकार का होता है जैसा किसी सज्ञा का, या विशेषण का, या क्रिया-विशेषण का। दूसरे शब्दो मे, उसका निर्देश उन वाक्याशो के निर्देश के समान ही होता है जिनका भाव एक विचार न होकर विचार का अश-मात्र होता है। परन्तु इस समस्या के स्पष्टीकरण के लिये और सावधानी से छान-बीन करने की आवश्यकता है। ऐसा करने मे हम व्याकरण के प्रवर्गो का अनुकरण न करके तार्किक दृष्टि से वर्ग बनाएँगे। सबसे पहले हमे ऐसे दृष्टान्तो को खोजना है जिनमे आश्रित उपवाक्यो का भाव एक स्वतत्र विचार नही होता।

एक अमूर्त सज्ञा उपवाक्य (abstracten Nennsatzen) मे, जो 'कि' से आरम्भ होता है, ऐसे परोक्ष उद्धरणो के दृष्टात मिलते हैं। हमने देखा है कि परोक्ष उद्धरणो मे शब्दो का परोक्ष निर्देश ही होता है और वह निर्देश उसके प्रचलित भाव के अनुरूप ही होता है। अत इन दृष्टातो मे आश्रित उपवाक्य का निर्देश एक विचार होता है न कि सत्य-मूल्य—एक सम्पूर्ण विचार नही वरन् इन शब्दो का भाव मात्र 'यह विचार कि   '। यह सम्पूर्ण जटिल वाक्य मे निहित विचार का एक अग-मात्र ही है। ऐसा ही होता है जब हम 'कहा कि', 'सुना कि', सम्मति है कि', 'विश्वास है कि', 'निष्कर्ष है कि' या इसी प्रकार के अन्य शब्दो का प्रयोग करते हैं।[८] 'देखता है', 'जानता है', 'कल्पना करता है' आदि शब्दो की स्थिति कुछ भिन्न है और बडी जटिल है। उस पर हम बाद मे विचार करेंगे।

पहले प्रकार के दृष्टानो मे इस तथ्य को, कि आश्रित उपवाक्य का निर्दिष्ट-विषय विचार

---

८ 'अ झूठ बोला यह कह कर कि उसने ब को देखा है' वाक्य मे आश्रित उपवाक्य एक ऐसे विचार का नामोद्देश करता है जिसके विषय मे यह माना गया कि (१) उसे अ ने प्रतिपादित किया है (२) जबकि अ उसकी असत्यता से परिचित था।

है, इस तरह भी समझा जा सकता है कि आश्रित उपवाक्य के सत्य या असत्य होने का सम्पूर्ण वाक्य पर कोई प्रभाव नहीं पडता। उदाहरणार्थ, हम इन दो वाक्यो मे तुलना करें 'कॉपरनिकस मानता था कि नक्षत्र-पथ वृत्ताकार होते है' तथा 'कॉपरनिकस मानता था कि सूर्य की प्रतीयमान गति पृथ्वी की वास्तविक गति के कारण ही उत्पन्न होती है।' यहाँ एक आश्रित उपवाक्य को दूसरे से बदला जा सकता है, परन्तु उससे वाक्यो की सत्यता पर कोई प्रभाव नही पडता। मुख्य उपवाक्य और आश्रित उपवाक्य मिलकर अपने अर्थ के रूप मे एक सम्पूर्ण विचार रखते हैं और इस पूरे वाक्य की सत्यता मे आश्रित उपवाक्य की न तो सत्यता निहित रहती है न असत्यता। ऐसे दृष्टातो मे किसी आश्रित उपवाक्य के किसी वाक्याश को समान प्रचलित निर्देश वाले किसी दूसरे वाक्याश के साथ नही बदला जा सकता, उसे केवल समान परोक्ष निर्देश वाले, अर्थात् समान प्रचलित भाव वाले वाक्य-खण्ड से ही बदला जा सकता है। यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि किसी वाक्य का निर्देश उसका सत्य-मूल्य नही है क्योकि उस स्थिति मे हमेशा समान सत्य-मूल्य वाले वाक्यो से उसे बदला जा सकेगा, तो वह कुछ अधिक सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है। इस तरह तो यह भी दावा किया जा सकता है कि 'प्रात कालीन नक्षत्र' का निर्देश शुक्रग्रह नही है क्योकि हम हमेशा 'प्रात कालीन नक्षत्र' के स्थान पर 'शुक्रग्रह' नही रख सकते। हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किसी वाक्य का निर्देश हमेशा ही सत्य-मूल्य नही होता और 'प्रात कालीन नक्षत्र' हमेशा शुक्रग्रह का स्थान नही ले सकता। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब शब्द का परोक्ष-निर्देश ही होता है। इस प्रकार का एक अपवाद उस आश्रित उपवाक्य मे हमने देखा जिस पर अभी विचार किया गया है और जिसका निर्देश एक विचार है।

यदि कोई कहता है 'ऐसा प्रतीत होता है कि ' तो उसका तात्पर्य होता है 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ' या 'मैं सोचता हूँ कि '। अत वही दृष्टात पुन उपस्थित हो जाता है। 'पश्चाताप होना', 'सहमति देना', 'आरोप लगाना', 'आशा करना', 'आशका होना', आदि पदो मे भी यही स्थिति रहती है। यदि वाटरलू के युद्ध की समाप्ति पर वेलिंगटन यह जान कर खुश था कि प्रशियानिवासी आ रहे हैं, तो उसके आनन्द का कारण उसका विश्वास ही था। यदि उसको धोखा दिया गया होता, तो भी जब तक उसे यह भ्रम बना रहता कि वे आ रहे हैं, उसका आनन्द कम न होता। साथ ही इस विश्वास के अभाव मे भी उसे प्रसन्नता न हुई होती, फिर चाहे वे वास्तव मे आ ही रहे होते।

जिस प्रकार एक विश्वास एक सवेग का आधार हो सकता है उसी प्रकार वह एक विश्वास का आधार भी हो सकता है, जैसे अनुमान मे। इस वाक्य मे कि 'पृथ्वी की गोलाई से कोलम्बस ने यह अनुमान किया कि वह पश्चिम की ओर यात्रा करके ही भारत पहुँच सकता है' हम इसके वाक्याशो के निर्देश के रूप मे दो विचार प्राप्त करते हैं। एक तो यह कि पृथ्वी गोल है, और दूसरा यह कि पश्चिम की ओर यात्रा करके कोलम्बस भारत पहुँच सकता था। यहाँ प्रासगिक बात यही है कि कोलम्बस को दोनो मे विश्वास था तथा उसका एक मे विश्वास दूसरे विश्वास का आधार था। पृथ्वी वास्तव मे गोल है या नही, या पश्चिम

की ओर यात्रा करके कोलम्बस भारत पहुँच सकता था या नही, हमारे वाक्य की सत्यता के लिये महत्वहीन हैं। परन्तु यदि हम 'पृथ्वी' को हटा कर उसके स्थान मे दूसरा वाक्यांश, अर्थात् 'ग्रह जिसके साथ उसके व्यास की चौथाई से अधिक व्यास वाला एक चन्द्रमा है', रख दें तो वास्तव मे इससे अन्तर उत्पन्न हो जायगा। यहाँ शब्दो का परोक्ष निर्देश ही हमे प्राप्त होता है।

क्रिया-विशेषण उपवाक्य, जो 'इसलिये कि' (या 'के लिये कि') से आरम्भ होते हैं, इसी कोटि के होते हैं क्योकि, निस्सदेह, उनका लक्ष्य एक विचार ही होता है। इसलिये उनके भी शब्दो का, सम्भावनार्थ क्रिया-प्रकार में, परोक्ष निर्देश ही होता है।

'आज्ञा दी', 'प्रश्न किया', 'मना किया' आदि के आगे 'कि' से आरम्भ होने वाले आश्रित उपवाक्य प्रत्यक्ष भाषण (डाइरेक्ट स्पीच) मे आज्ञासूचक प्रतीत होंगे। ऐसे उपवाक्यों का केवल भाव ही होता है, कोई निर्देश नही होता। आज्ञा या प्रार्थना निस्सदेह विचार नही है, परन्तु वे विचार के समस्तरीय ही हैं। अत 'आज्ञा दी', 'प्रश्न किया', आदि पर निभर रहने वाले आश्रित उपवाक्यो का परोक्ष निर्देश होता है। इस प्रकार के उपवाक्यो का निर्देश सत्य-मूल्य न होकर एक आज्ञा या प्रार्थना या इसी प्रकार कुछ और होता है।

'शका है कि', 'नही ज्ञान है कि क्या', आदि पदावलियो द्वारा प्रस्तुत आश्रित प्रश्नों के सम्बन्ध मे भी यही स्थिति है। स्पष्ट है कि शब्दो का यहाँ भी परोक्ष निर्देश ही होता है। प्रश्न को व्यक्त करने वाले तथा 'कौन', 'क्या', 'कहाँ', 'कब', 'कैसे', 'किसके द्वारा' आदि, से आरम्भ होने वाले आश्रित उपवाक्य कभी-कभी ऐसे क्रिया-विशेषण उपवाक्यो के समान प्रतीत होते हैं जिनके शब्दो का प्रचलित निर्देश होता है। ऐसे दृष्टांतों को (जर्मन भाषा में) भाषा के स्तर पर क्रिया प्रकार के आधार पर अलग किया जा सकता है। सम्भावनार्थ क्रिया-प्रकार मे एक आश्रित प्रश्न रहता है तथा शब्दो का परोक्ष निर्देश रहता है, अत सामान्यत एक व्यक्तिवाचक नाम को उसी वस्तु के दूसरे नाम से नही बदला जा सकता।

अभी तक जितने दृष्टान्तो पर हमने विचार किया उनमे आश्रित उपवाक्य के शब्दो का निर्देश परोक्ष ही था और इससे यह स्पष्ट था कि स्वय उपवाक्यो का निर्देश भी परोक्ष था। अर्थात् उनका निर्देश एक विचार, आज्ञा, प्रार्थना, प्रश्न था न कि सत्य-मूल्य। निस्सदेह आश्रित उपवाक्य उस विचार, आज्ञा आदि का, जिसका वह वाक्य-सरचना में प्रतिनिधित्व करता है, व्यक्तिवाचक नाम माना जा सकता है।

अब हम उन आश्रित उपवाक्यो पर विचार करेंगे जिनमें भाव के रूप में किसी विचार के अभाव मे तथा निर्देश के रूप मे किसी सत्य-मूल्य के अभाव मे भी शब्दो का प्रचलित निर्देश होता है। इसको उदाहरणो के द्वारा ही ठीक प्रकार से समझा जा सकता है

'जिस किसी ने भी ग्रहपथो के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था उसकी मृत्यु गरीबी मे हुई।'

यदि इस दृष्टान्त मे आश्रित उपवाक्य का भाव एक विचार होता तो उसे एक अलग

वाक्य में भी व्यक्त किया जा सकता था। परन्तु ऐसा सम्भव नही है क्योंकि व्याकरणसम्मत उद्देश्य 'जिस किसी ने भी' का कोई स्वतन्त्र भाव नही है। उसका प्रयोग वाक्य के फल भाग 'उसकी मृत्यु गरीबी मे हुई' का शेष वाक्य से सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायक बनना ही है। इसलिये आश्रित उपवाक्य का भाव एक सम्पूर्ण विचार नही है और उसका निर्देश केपलर है न कि सत्य-मूल्य। शायद यह आक्षेप किया जाय कि सम्पूर्ण के भाव में अंश के रूप में एक विचार निहित है, अर्थात् ऐसा कोई व्यक्ति था जिसने सबसे पहले ग्रहपथो के अण्ड-वृत्ताकार होने का पता लगाया था, क्योंकि जो भी पूरे वाक्य को सत्य मानता है उसके अंश की सत्यता से इन्कार नही कर सकता। निस्सदेह यह ठीक है, परन्तु यह भी इसलिये है कि यदि ऐसा न होता तो आश्रित उपवाक्य 'जिस किसी ने भी ग्रहपथो के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था' का कोई निर्देश नही होता। यदि कुछ भी प्रतिपादित किया जाता है तो हमेशा उसमें यह पूर्वमान्यता रहती है कि जिन सरल या जटिल व्यक्तिवाचक नामो का उसमे प्रयोग किया गया है, उनका निर्देश है। अत यदि कोई यह कहता है कि 'केपलर की मृत्यु गरीबी मे हुई' तो इसके पीछे यह पूर्वमान्यता है कि 'केपलर' नाम किसी वस्तु का नामोद्देश करता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही निकलता कि 'केपलर की मृत्यु गरीबी मे हुई' इस वाक्य के भाव मे ही यह विचार भी निहित है कि 'केपलर' नाम किसी वस्तु का नामोद्देश करता है। यदि ऐसा ही होता तो इसका नकारात्मकरूप

'यह सत्य नही है कि केपलर की मृत्यु गरीबी मे हुई'

यह न होकर यह होता कि

'यह सत्य नही है कि कोई केपलर था जिसकी मृत्यु गरीबी में हुई'

अर्थात् 'केपलर' नाम का कोई निर्देश-विषय नहीं है।

'केपलर' नाम किसी वस्तु का नामोद्देश करता है, यह 'केपलर की मृत्यु गरीबी मे हुई' इसके प्रतिपादन के लिये भी उसी प्रकार एक पूर्वमान्यता है जिस प्रकार इसके विरोधी वाक्य के लिये। भाषाओं मे एक कमी है, उनमे ऐसी पदावलियाँ होती हैं कि वे किसी पदार्थ का नामोद्देश नहीं करती क्योंकि किसी वाक्य की सत्यता उनके लिये एक आवश्यक पूर्व-धारणा है (हालांकि व्याकरण की दृष्टि से उनमे इस कार्य को करने की क्षमता होती है)। इस प्रकार से नीचे दिये गये पहले वाक्य की सत्यता पर ही यह निर्भर करता है कि दिया हुआ दूसरा आश्रित उपवाक्य वास्तव मे किसी पदार्थ का नामोद्देश करता है या केवल वैसा मालूम ही पड़ता है, जबकि वास्तव मे उसका कोई निर्देश नहीं है

(१) 'कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने ग्रहपथो के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था।'

(२) 'जिस किसी ने भी ग्रहपथो के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था।'

इस प्रकार ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हमारे आश्रित उपवाक्य में उसके भाव के अंश के रूप मे यह विचार निहित हो कि कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने ग्रहपथों के अण्डवृत्ता-कार होने का पता लगाया था। यदि यह सत्य होता तो उसका नकारात्मक रूप निम्न प्रकार से ही होता

'या तो जिस किसी ने भी ग्रहपथो के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया उसकी मृत्यु गरीबी मे नही हुई या ऐसा कोई व्यक्ति नही था जिसने ग्रहपथो के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया ।'

यह दोप भापा की अपूर्णता के कारण उत्पन्न होता है। गणितीय विश्लेपण की प्रतीकात्मक भापा भी इससे स्वतत्र नही है। वहाँ भी प्रतीको के ऐसे सयोग आते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी का नामोद्देश कर रहे हैं, परन्तु उनका निर्देश नही होता, जैसे, अपसारी असीम शृखला (डाइवर्जेंट इन्फाइनाइट सीरीज़)। इससे बचा जा सकता है, उदाहरणार्थ, यह विशेप सकेत स्वीकार करके कि अपसारी असीम शृखला ० सख्या के लिये प्रयुक्त की जायेगी। तार्किक दृष्टि से एक पूर्ण भापा (Begriffsschrift) को निम्न शर्तों को पूरा करना चाहिये प्रत्येक पदावली को, जो सुपरिचित सकेतो से व्याकरण के नियमो के अनुसार बनाकर व्यक्तिवाचक नाम के रूप मे प्रयुक्त की गई है, वास्तव मे किसी पदार्थ का नामोद्देश करना चाहिये, और, इसी प्रकार, किसी नये सकेत को बिना उसके उचित निर्देश को निश्चित किये व्यक्तिवाचक नाम के रूप मे नही रखना चाहिये। तर्कशास्त्र की पुस्तकों मे पदो की द्वयर्थकता से उत्पन्न तर्क-दोपो के सम्बन्ध मे चेतावनी दी होती है। मेरी समझ से व्यक्तिवाचक नाम के समान प्रतीत होने वाले निर्देशरहित पदो से उत्पन्न दोपो के विपय मे भी सचेत रहना कोई कम महत्वपूर्ण नही है। गणित का इतिहास हमे अनेक ऐसे दोप बताता है जो इसी तरह उत्पन्न हुए हैं। द्वयर्थकता तो भापा का अवसरवादी प्रयोग करने का अवसर देती ही है, परन्तु निर्देशरहित पदो से उत्पन्न दोपो से भापा का दुरुपयोग और आसान हो जाता है। 'जन-सकल्प' इसका एक अच्छा उदाहरण है, क्योंकि यह स्थापित करना आसान है कि इस शब्द का कोई सर्वमान्य निर्देश नही है। अत इस प्रकार के तर्क-दोपो के स्रोत को दूर करना कोई कम महत्व की बात नही है, विशेप रूप से विज्ञानो मे और वह भी हमेशा के लिये। तब इस प्रकार के आरोप, जिन पर ऊपर विचार किया गया है, असभव हो जायेंगे क्योकि किसी व्यक्तिवाचक नाम का कोई निर्देश है या नहीं, यह किसी विचार की सत्यता पर कभी नही निर्भर करेगा।

इन सज्ञा उपवाक्यो के विपय मे प्रस्तुत विचार-सरणी मे ऐसे विशेपण या क्रिया-विशेपण उपवाक्यो को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो तार्किक दृष्टि से उनके निकट हो।

विशेपण उपवाक्य भी जटिल व्यक्तिवाचक नामो की रचना मे सहायक बनते हैं हालांकि सज्ञा उपवाक्यों की भाँति वे स्वय इस कार्य के लिये पर्याप्त नही हैं। इन विशेपण उपवाक्यों को विशेपणो के ही समानार्थक समझना चाहिये। '४ का वर्गमूल ० से कम होता है' के स्थान पर हम '४ का ऋणात्मक (नेगेटिव) वर्गमूल' भी कह सकते हैं। यह एक जटिल व्यक्ति-वाचक नाम का दृष्टान्त है जिसे एकवाची निश्चयात्मक आर्टिकिल् (जर्मन भापा मे या अग्रेजी मे) की सहायता से धारणा के लिये प्रयुक्त पदावली से बनाया गया है। यदि वह धारणा किसी एक ही पदार्थ को सूचित करती है तो इस प्रकार की रचना का औचित्य है।[६]

---

६ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रकार की पदावलो का निर्देश हमेशा

धारणाओं के लिये पदावलियाँ इस प्रकार निर्मित की जा सकती हैं कि धारणा की विशेषताओं का उल्लेख विशेषण उपवाक्यों के द्वारा हो जाय, जैसे ऊपर के दृष्टान्त में 'जो ० से कम होता है' के द्वारा हुआ है। प्रकट है कि इस प्रकार के विशेषण उपवाक्य का भाव उतना ही कोई विचार होगा, या सत्य-मूल्य निर्देश होगा, जितना सम्बन्धित संज्ञा उपवाक्य का। उसका भाव, जिसे अनेक स्थितियों में एक ही विशेषण के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, किसी विचार का अंश ही होगा। संज्ञा उपवाक्य की भाँति यहाँ भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होगा और इस प्रकार आश्रित उपवाक्य के भाव को स्वतंत्र वाक्य में कह सकने की सम्भावना भी नहीं होगी।

स्थान, क्षण तथा समय की अवधि तार्किक दृष्टि से पदार्थ माने गये हैं, अतः किसी स्थान, निश्चित क्षण या समय की अवधि के भाषागत नाम को व्यक्तिवाचक नाम मानना चाहिये। अब देश और काल के क्रिया-विशेषण उपवाक्यों का प्रयोग भी उसी भाँति व्यक्तिवाचक नामों की रचना के लिये किया जा सकता है जिस प्रकार हमने संज्ञा उपवाक्यों के विषय में तथा विशेषण उपवाक्यों के विषय में देखा। इसी प्रकार, स्थान आदि से सम्बन्धित धारणाओं के लिये पदावलियों की रचना की जा सकती है। यहाँ भी यह ध्यान रखने की बात है कि इन आश्रित उपवाक्यों के भाव को एक स्वतंत्र वाक्य में नहीं व्यक्त किया जा सकता क्योंकि एक अनिवार्य अवयव यथा, स्थान या समय के निर्धारण, का अभाव रहता है और उसे केवल सम्बन्धवाचक सर्वनाम या समुच्चयबोधक अव्यय के द्वारा ही जाना जा सकता है।[10]

सुरक्षित कर लेना चाहिये। ऐसा विशिष्ट संकेत के माध्यम से हो सकता है, उदाहरणार्थ जब कोई धारणा किसी पदार्थ को इंगित न करती हो या एक से अधिक पदार्थों को इंगित करती हो तो परिपाटी के अनुसार उसका निर्देश ० मानना चाहिये।

१० इन वाक्यों के भिन्न भिन्न अर्थ बड़ी आसानी से किये जा सकते हैं। जैसे, वाक्य 'श्लेजविग होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलग किये जाने के बाद प्रशिया और ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई' के प्रत्यय को इस रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'श्लेजविग होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलगाव के बाद प्रशिया और ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई।' दूसरे रूप में यह पर्याप्त स्पष्ट है कि उसके प्रत्यय के अंशरूप में यह विचार निहित नहीं है कि 'श्लेजविग-होल्स्टाइन कभी डेनमार्क से अलग किया गया था', यह विचार तो एक अनिवार्य पूर्व मान्यता है अन्यथा 'श्लेजविग होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलगाव के बाद' का कोई निर्देश ही न होता। निस्संदेह हमारे वाक्य का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि श्लेजविग होल्स्टाइन को कभी डेनमार्क से अलग किया गया था। यह एक जटिल बात है और इस पर हम बाद में विचार करेंगे। एक उदाहरण से इस भेद को हम आसानी से समझ सकेंगे। मान लीजिये एक चीन निवासी, जिसे योरोप के इतिहास का कम ज्ञान है, इसे असत्य समझता है कि श्लेजविग-होल्स्टाइन को कभी डेनमार्क से अलग भी किया गया था। वह हमारे वाक्य के पहले रूप को न तो सत्य मानेगा न असत्य वरन् इस आधार पर कि

सोपाधिक उपवाक्यो मे भी प्राय एक अनिश्चित सूचक (इडेफिनिट इडीकेटर) रहता है और उसी प्रकार का सम्वन्धित शब्द आश्रित उपवाक्य मे भी होता है। (यह हम पहले ही देख चुके हैं कि सज्ञा, विशेषण तथा क्रिया-विशेषण उपवाक्यो मे इस प्रकार के शब्द आते हैं) चूकि प्रत्येक सूचक दूसरे को इगित करता है अत ये दोनो उपवाक्य मिलकर ही एक समग्रता को निर्मित करते हैं। यह समग्रता नियमानुसार केवल एक अकेले विचार को ही व्यक्त करती है। निम्न वाक्य का उदाहरण इसे और स्पष्ट करेगा

'यदि कोई सख्या एक से कम है तथा ० से अधिक तो उसका वर्ग १ से कम तथा ० से अधिक होता है।'

इस वाक्य के सोपाधिक उपवाक्य में तथा आश्रित उपवाक्य मे ये सूचक क्रमश 'कोई सख्या' तथा 'उसका' है। इनके अनिर्धारित होने का ही यह परिणाम है कि वाक्य के भाव को वह सार्वत्रिकता मिल जाती है जिसकी अपेक्षा एक नियम मे की जाती है। इसका ही यह परिणाम है कि अकेले पूर्ववर्ती उपवाक्य का अपने भाव के रूप मे कोई सम्पूर्ण विचार नही है और अनुवर्ती उपवाक्य के साथ मिलकर केवल एक ही विचार को व्यक्त करता है। (इस विचार के अश विचार नही होते)। सामान्यत यह कहना गलत है कि एक हेतुफलाश्रित निर्णय मे दो निर्णयो को अन्योन्याश्रित सम्वन्ध मे रखा जाता है। यदि यही या इसी के समान कुछ और कहा जाय तो 'निर्णय' शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त किया जा रहा है जिस अर्थ मे मैं 'विचार' का प्रयोग कर रहा हूँ। अत मैं इसी बात को इस प्रकार कहूँगा एक हेतुफलाश्रित विचार दो विचारो मे एक अन्योन्याश्रित सम्वन्ध स्थापित करता है।' यह केवल तभी सत्य होगा जब वह अनिर्धारित सूचक अनुपस्थित हो।[11] परन्तु उस स्थिति मे नियम वाली वह सार्वत्रिकता भी नही होगी।

यदि सोपाधिक तथा आश्रित दोनो उपवाक्यो मे किसी विशिष्ट समय की सूचना अनिर्धारित रूप से देनी है तो ऐसा क्रिया के वर्तमान काल के प्रयोग से किया जा सकता है। पर इस स्थिति मे यह प्रयोग किसी सामयिक वर्तमान काल की सूचना नही देगा। व्याकरण-सम्मत यह पद-रचना मुख्य तथा आश्रित उपवाक्यो मे अनिर्धारित सूचक का कार्य करेगी। इसका निम्न उदाहरण दिया जा सकता है 'जब सूर्य कर्क रेखा पर होता है, तो उत्तरी गोलार्ध मे सबसे लम्बा दिन होता है'। यहाँ आश्रित उपवाक्य के भाव को एक पूरे वाक्य मे व्यक्त करना असभव है क्योंकि वह भाव एक पूर्ण विचार नही है। यदि हम कहते हैं 'सूर्य कर्क रेखा पर है' तो यह एक विशेष वर्तमान समय का निर्देश करेगा और इस प्रकार भाव का

आश्रित उपवाक्य का कोई निर्देश नहीं है, पूरे वाक्य के निर्देश से इन्कार करेगा। यह उपवाक्य केवल ऊपरी रूप मे ही विशेष काल का निर्धारण करेगा। यदि वह हमारे वाक्य का दूसरे प्रकार मे अर्थ लगाता है तब वह इसमे व्यक्त विचार को ऐसा पायेगा जिसे कि वह असत्य स्वीकार करेगा—सिवाय उस अश के जो कि उसके लिये किसी निर्देश से रहित होगा।

११ कभी-कभी नापागत सूचक व्यक्तरूप मे नहीं दिया रहता, उसे सम्पूर्ण सदर्भ में ही समझना चाहिये।

परिवतन हो जायगा। उसी प्रकार मुख्य उपवाक्य का भाव भी एक विचार नही है, भाव केवल पूरे वाक्य का ही होता है जिसमे मुख्य तथा आश्रित उपवाक्य सयुक्त रहते हैं। यहाँ यह और जोड़ा जा सकता है कि पूववर्ती तथा अनुवर्ती उपवाक्यो मे अनेक सामान्य अवयव अनिर्धारित रूप से सूचित किये जा सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि 'कौन' या 'क्या' से आरम्भ होने वाले सज्ञा उपवाक्यो का तथा 'कहाँ' 'कब', 'जब कभी' से आरम्भ होने वाले क्रिया विशेषण उपवाक्यो का प्राय इस प्रकार अर्थ लगाना पड़ता है कि वे सोपाधिक उपवाक्यो के समान प्रतीत हो, यथा 'जो कीचड़ मे पत्थर फेंकता है वह अपने कपड़े गदे करता है'।

विशेषण उपवाक्य भी सोपाधिक उपवाक्यो का स्थान ले सकते हैं। इस तरह ऊपर प्रयुक्त वाक्य को निम्न आकार मे रखा जा सकता है 'किसी ऐसी सख्या का वग, जो १ से कम तथा ० से अधिक है, १ से कम तथा ० से अधिक होता है'।

यदि दोनो उपवाक्यो के सामान्य अवयव एक व्यक्तिवाचक नाम के द्वारा नामोद्देशित किये गये हो तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जाती है। निम्नलिखित उदाहरण से हम इसे समझ सकेंगे

'नेपोलियन ने, जिसने अपने दाहिने भाग को खतरे मे देखा, स्वय अपने रक्षको का नेतृत्व कर दुश्मन का सामना किया'।

इस वाक्य मे निम्न दो विचार व्यक्त किये गये हैं

(१) नेपोलियन ने अपने दाहिने भाग को खतरे मे देखा।
(२) नेपोलियन ने स्वय अपने रक्षको का नेतृत्व कर दुश्मन का सामना किया।

इस प्रकार एक व्यक्तिवाचक नाम सामान्य अवयवो को कब और किस अवस्था मे नामोद्देशित करता है यह केवल सदभ के द्वारा ही जाना जा सकता है, परन्तु हर दशा मे यह मानना चाहिये कि उसका निर्धारित निरूपण हुआ है। यदि सम्पूर्ण वाक्य का उल्लेख एक स्थापना के रूप मे किया गया है तो हम एक साथ दोनो अवयव वाक्यो की स्थापना करते हैं। यदि उन दोनो मे से कोई एक असत्य है तो सम्पूर्ण वाक्य असत्य होता है। यहीं हमे वह दृष्टान्त मिलता है जिसमे आश्रित उपवाक्य भाव के रूप में एक सम्पूर्ण विचार रखता है (यदि हम उसे देश और काल का उल्लेख कर पूरा कर दे)। यहाँ एक आश्रित उपवाक्य का निर्देश एक सत्य-मूल्य है और यही हम यह आशा कर सकते हैं कि एक आश्रित उपवाक्य को समान सत्य मूल्य वाले दूसरे वाक्य से बदला जा सकता है और इसमे सम्पूर्ण वाक्य के सत्य-मूल्य पर कोई असर नही पड़ेगा। परन्तु इसमे भी यह ध्यान रखना आवश्यक है, और वह भी व्याकरण-सम्बन्धी कारणो से, कि इस दूसरे उपवाक्य का उद्देश्य हमेशा 'नेपोलियन' ही होना चाहिये, क्योकि तभी उसको 'नेपोलियन' के विशेषण उपवाक्य के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकेगा। परन्तु यदि उसको विशेषण उपवाक्य के रूप मे नही रखा जाय और सम्बन्ध को 'और' के द्वारा व्यक्त किया जाय तो इस शर्त को रखने की आवश्यकता नही है।

'हालाँकि' से आरम्भ होने वाले सहायक उपवाक्य भी सम्पूर्ण विचार को व्यक्त करते हैं। इस समुच्चय बोधक अव्यय का वास्तव मे कोई भाव नही होता। यह उपवाक्य के भाव को नही बदलता, वरन् उसके भाव को एक विशेष ढग से प्रकाशित करता है (ऐसी ही स्थिति 'लेकिन' और 'फिर भी' की भी होती है)। हम सोपाधिक उपवाक्य को बिना पूरे वाक्य की सत्यता को प्रभावित किये किसी दूसरे समान सत्य-मूल्य वाले वाक्य के साथ बदल सकते है परन्तु यहाँ जिस प्रकाश मे इस समुच्चय-बोधक अव्यय ने उपवाक्य का रखा है उस पर प्रभाव पड सकता है और ऐसा प्रतीत हो सकता है कि एक दु खभरी रागिनी को बडी जिन्दा-दिली से गाया जा रहा है

पिछले दृष्टात मे सम्पूर्ण वाक्य के सत्य मे उसके अवयवो का सत्य भी निहित था। पर ऐसे सोपाधिक उपवाक्यो की स्थिति दूसरी होती है जिनमे अनिर्धारित सूचक नही होता, वरन्, उसके स्थान पर, उसी के समान माना जाने वाला एक व्यक्तिवाचक नाम या ऐसा ही कुछ और होता है। उदाहरण के लिये इस वाक्य को ले सकते हैं 'यदि सूय निकल चुका है तो आकाश घनाच्छादित है'। यहाँ काल वतमान है और निर्धारित है। स्थान भी निर्धारित ही माना गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि सोपाधिक तथा आश्रित उपवाक्यो के सत्य-मूल्यो मे यह सम्बन्ध स्थापित किया गया है कि ऐसा नही हो सकता कि पूर्ववर्ती वाक्य सत्य हो पर अनुवर्ती असत्य हो। अत, यदि सूर्य नही निकलता है तो, चाहे आकाश घनाच्छादित हो या नही हो, हमारा वाक्य सत्य है और यदि सूय निकला है तथा आकाश घनाच्छादित है तो भी हमारा वाक्य सत्य है। चूंकि यहाँ हम सत्य-मूल्यो पर ही विचार कर रहे हैं, प्रत्येक अवयव उपवाक्य को समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य के साथ बदला जा सकता है और पूरे वाक्य के सत्य-मूल्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडेगा। निस्सदेह ऐसी स्थिति मे उद्देश्य जिस रूप मे हमारे सामने आये वह शायद हमे अनुपयुक्त मालूम हो, विचार भी बदला हुआ प्रतीत हो, परन्तु इस सबसे उसके सत्य-मूल्य पर कोई असर नहीं पडता। असल मे हमे यह देख लेना चाहिये कि वाक्य के गौण विचारों का विरोध तो नहीं हो रहा है, हालाँकि वे प्रकटरूप मे व्यक्त नही होते और उन्हें वाक्य के भाव में नहीं गिना जाना चाहिये। अत उनके सत्य मूल्य को ध्यान मे रखने की आवश्यकता नही है।[१२]

अपने विषय से सम्बन्धित साधारण दृष्टातों पर ऊपर हमने विचार कर लिया है। अब जो कुछ हमने सीखा है उस पर सक्षेप में पर्यवेक्षण करेंगे।

सामान्यत एक आश्रित उपवाक्य का भाव किसी विचार का कोई अगमात्र ही होता है, पूरा विचार नही होता, तथा इस प्रकार निर्देश के रूप मे कोई सत्य मूल्य नहीं होता। इसके दो ही कारण हो सकते हैं पहला, या तो आश्रित उपवाक्य के शब्दो का परोक्ष निर्देश

---

१२ ऊपर दिये हुए वाक्य के विचार को निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है 'या तो सूय अभी तक नहीं निकला या आकाश घनाच्छादित है'। यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार ऐसे वाक्य-सम्बन्धों को समझना चाहिये।

है, जिससे आश्रित उपवाक्य का निर्देश (न कि भाव) एक विचार होता है या, दूसरा, किसी अनिर्धारित सूचक की उपस्थिति के कारण आश्रित उपवाक्य अपूर्ण है और मुख्य उपवाक्य के साथ सयुक्त होने पर ही किसी विचार को व्यक्त करता है। ऐसा हो सकता है कि किसी सहायक उपवाक्य का भाव एक सम्पूर्ण विचार हो, वैसी स्थिति में (यदि कोई व्याकरण-सम्बन्धी बाधा न हो तो) उसे समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य से बदला जा सकता है और सम्पूर्ण के सत्य-मूल्य मे कोई परिवतन नही उत्पन्न होगा।

सभी प्रकार के आश्रित उपवाक्यो की यदि परीक्षा की जाय तो कुछ ऐसे अवश्य मिल जायेगे जो ऊपर के प्रवर्गो मे नही आ सकते। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण यही है कि इन आश्रित उपवाक्यो का भाव इतना सरल नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राय हमेशा ही हमारे अभिव्यक्त मुख्य विचारो के साथ गौण विचार जुडे रहते हैं। ये गौण विचार मनोवैज्ञानिक नियमो के अनुसार श्रोता के द्वारा अव्यक्तरूप से मुख्य विचार के साथ सयुक्त कर दिये जाते हैं। चूँकि गौण विचार भी स्वत ही शब्दो के साथ लगभग मुख्य विचारो की भाँति ही सयुक्त प्रतीत होते हैं, हम उन्हे भी व्यक्त देखना चाहते हैं। इस प्रकार किसी वाक्य के भाव मे गहराई आती है, और यहाँ तक हो सकता है कि उपवाक्यो की तुलना मे उसमे अधिक सख्या सरल विचारो की प्रतीत हो। प्राय वाक्यो को इसी प्रकार से समझना चाहिये, परन्तु कुछ कुछ दृष्टान्तो मे ऐसा भी हो सकता है कि यह सदिग्ध हो कि गौण विचार उस वाक्य के भाव मे ही निहित है अथवा केवल उसका सहवर्ती ही है।[13]
उदाहरणाथ निम्न वाक्य को पुन देखें

'नेपोलियन ने, जिसने अपने दाहिने भाग को खतरे मे देखा, स्वय अपने रक्षको का नेतृत्व कर दुश्मनो का सामना किया।'

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह वाक्य केवल उन्ही दो विचारो को व्यक्त नही कर रहा है जिनका पहले उल्लेख किया गया है, वरन् इस तीसरे विचार को भी व्यक्त कर रहा है कि नेपोलियन का रक्षकों का नेतृत्व कर दुश्मन का सामना करने का कारण दाहिने भाग पर आये खतरे का उसका ज्ञान था। यह सदेह वास्तव मे किया जा सकता है कि प्रस्तुत वाक्य इस विचार का केवल सुझाव-मात्र दे रहा है या उसे व्यक्त ही कर रहा है। मान लीजिये हम इस प्रश्न पर विचार करें कि क्या हमारा वाक्य असत्य होता यदि खतरे का ज्ञान होने के पहले ही नेपोलियन ने निर्णय ले लिया होता? यदि इसके बाद भी हमारा वाक्य सत्य हो सकता तो यह माना जाना चाहिये था कि वह गौण विचार उसके भाव का अग नहीं है। सभवत इसी दृष्टिकोण को समथन मिलेगा। इसका विकल्प तो और भी जटिल स्थिति उत्पन्न करेगा, क्योंकि तब उसके उपवाक्यो की सख्या मे सरल विचारो की सख्या अधिक हो जायगी। यदि 'नेपोलियन ने अपने दाहिने भाग को खतरे मे देखा' को हटा

---

१३ यह जानने के लिये कि एक स्थापना असत्य है या नहीं, या कोई शपथ मिथ्या है या नही, इसका महत्व हो सकता है।

कर उसके स्थान पर समान सत्य-मूल्य वाला दूसरा वाक्य' नेपोलियन की आयु पैंतालिस से अधिक हो चुकी थी' रख दिया जाय, तो न केवल हमारा पहला विचार बदल जायगा वरन् तीसरा विचार भी बदल जायगा। अत वाद वाले का सत्य-मूल्य ही बदल जाता है। (यह सत्य-मूल्य तभी बदलता है जब आयु नेपोलियन के इस निर्णय की कारण नहीं होती कि वह रक्षकों का नेतृत्व करके दुश्मनो का सामना करे)। यह स्पष्ट करता है कि क्यो समान सत्य-मूल्य वाले उपवाक्यों को एक-दूसरे से इस प्रकार के दृष्टान्तो मे नही बदला जा सकता। एक उपवाक्य दूसरे से सम्बन्धित होकर जितना विचार व्यक्त करता है उतना अकेले नही कर सकता।

अब हम उन दृष्टातो को देखें जिनमे ऐसा नियमितरूप से होता है।

'बेवेल ने गलती से मान लिया कि अलसेस-लोरेन की वापिसी फ्रांस की बदला लेने की भावना को शांत करेगी।'

इस वाक्य मे दो विचार व्यक्त किये गये हैं, हालांकि उनको एक-दूसरे के पूर्ववर्ती या अनुवर्ती उपवाक्यो के द्वारा नही व्यक्त किया गया है। यथा

(१) बेवेल का यह विश्वास था कि अलसेस-लोरेन की वापिसी फ्रांस की बदला लेने की भावना को शांत करेगी।

(२) अलसेस-लोरेन की वापिसी फ्रांस की बदला लेने की भावना को शांत करेगी।

पहले विचार की अभिव्यक्ति मे आश्रित उपवाक्य के शब्दो का परोक्ष जबकि दूसरे विचार की अभिव्यक्ति मे उन्ही शब्दो का प्रचलित निर्देश है। यह प्रकट करता है कि आश्रित उपवाक्य को मूलवाक्य मे दो प्रकार से समझा जाना चाहिये। उसके भिन्न-भिन्न निर्देश हैं, एक बार वह निर्देश विचार है तथा दूसरी बार सत्य-मूल्य। चूंकि सत्य-मूल्य इस आश्रित उपवाक्य का सम्पूर्ण निर्देश नही है, हम उसे समान सत्य मूल्य वाले दूसरे उपवाक्य से नहीं बदल सकते। यही बात 'जानता' 'पता लगता है','ज्ञात है कि' आदि वाक्य-खण्डो के विषय मे लागू होती है।

एक आश्रित उपवाक्य तथा उससे सम्बन्धित मुख्य उपवाक्य के द्वारा हम अनेक विचारो को व्यक्त करते हैं। ये विचार अलग-अलग मूल उपवाक्यो के अनुरूप नही होते। इस वाक्य से कि ' बर्फ पानी पर तैरता है क्योंकि उसका घनत्व पानी से कम है' हम निम्न तीन विचारो को प्राप्त करते हैं।

(१) बर्फ का घनत्व पानी से कम है।

(२) यदि किसी वस्तु का घनत्व पानी से कम होता है तो वह उस पर तैरती है।

(३) बर्फ पानी पर तैरता है।

तीसरे विचार को स्पष्टरूप से व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि वह पहले दो मे ही निहित है। दूसरी ओर, न तो पहला और तीसरा, और न दूसरा और तीसरा मिलकर हमारे वाक्य के भाव को प्रस्तुत कर सकेंगे। अत अब यह देखा जा सकता है कि हमारा आश्रित उपवाक्य 'क्योकि उसका घनत्व पानी से कम है' हमारे पहले विचार को तो

व्यक्त करता ही है साथ ही दूसरे का भी कुछ अंश व्यक्त करता है। इसी से यह ठीक है कि हमारे सहायक उपवाक्य समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्यों से नहीं बदले जा सकते। क्योंकि यदि ऐसा होगा तो हमारा दूसरा विचार बदल जायगा और यह भी संभव है कि उसका सत्य-मूल्य भी बदल जाय। निम्न वाक्य में भी यही स्थिति है

'यदि लोहे का घनत्व पानी से कम होता तो वह पानी के ऊपर तैरता।'

यहाँ हमें दो विचार मिलते हैं। पहला, लोहे का घनत्व पानी से कम नहीं है, और दूसरा, यदि किसी वस्तु का घनत्व पानी से कम है तो वह पानी पर तैरती है। सहायक उपवाक्य पुन पहले सम्पूर्ण विचार को तथा दूसरे के कुछ भाग को व्यक्त करता है। इसी प्रकार हम अपने पूर्वपरिचित वाक्य को लें 'श्लेजविग-होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलग किये जाने के बाद प्रशिया तथा ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई।' यदि हम इस वाक्य की इस प्रकार से व्याख्या करें कि वह यह व्यक्त करे कि श्लेजविग-होल्स्टाइन को कभी डेनमार्क से अलग किया गया था, तो हमें पहला यही विचार मिलता है। दूसरा विचार यह मिलता है कि प्रशिया तथा ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई। यहाँ भी आश्रित उपवाक्य केवल एक ही विचार व्यक्त नहीं करता है वरन् दूसरे का भी कुछ अंश व्यक्त करता है। अत सामान्यत इसे समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य के साथ नहीं बदला जा सकता।

किसी भाषा में प्रयुक्त दृष्टांतों की सभी संभावनाओं का अध्ययन कठिन है। फिर भी मैं समझता हूँ कि मैं उन मुख्य स्थितियों को प्रकाश में ला सका हूँ जिनकी वजह से बिना सम्पूर्ण वाक्य-रचना को बिगाड़े हमेशा समान सत्य-मूल्य वाले वाक्य से एक आश्रित उपवाक्य को नहीं बदला जा सकता। ये स्थितियाँ निम्न हैं

(१) जब आश्रित उपवाक्य का कोई सत्य-मूल्य नहीं होता क्योंकि वह केवल किसी विचार का अंशभाग ही व्यक्त करता है।

(२) जब आश्रित उपवाक्य का सत्य-मूल्य तो होता है परन्तु वह वहीं तक सीमित नहीं होता, क्योंकि उसका भाव कोई विचार तो होता ही है साथ ही दूसरे विचार का भी कुछ अंश होता है।

पहली स्थिति दो प्रकार से उत्पन्न होती है (अ) शब्दों का परोक्ष निर्देश होने पर, (ब) यदि वाक्य का कोई अंश व्यक्तिवाचक नाम न होकर एक अनिर्धारित सूचक होता हो।

दूसरी स्थिति में सहायक उपवाक्य को दो प्रकार से समझना पड़ सकता है, पहला, अपने प्रचलित निर्देश में तथा दूसरा, परोक्ष निर्देश में। अथवा यह भी हो सकता है कि आश्रित उपवाक्य के किसी वाक्य का भाव किसी दूसरे विचार का अवयव हो। इस दूसरे विचार को आश्रित उपवाक्य द्वारा प्रकटरूप से व्यक्त विचार के साथ संयुक्त करके ही पूरे वाक्य का अर्थ प्रकट होता है।

ऊपर की बहस से इस निष्कर्ष की पर्याप्त संभावना हो जाती है कि ऐसे दृष्टांतों को, जिनमें समान सत्य-मूल्य वाले वाक्यों के साथ आश्रित उपवाक्य को नहीं बदला जा सकता,

हमारे इस दृष्टिकोण को प्रसिद्ध करने वाले के लिये नहीं रखा जा सकता कि किसी वाक्य का भाव यदि एक विचार है तो उसका निर्देश सत्य-मूल्य है।

अब हम अपने मूल विचार-बिन्दु पर आयें।

अ=अ और अ=ब के भिन्न-भिन्न संज्ञान मूल्य क्यों हैं ? इसकी व्याख्या यह है कि ज्ञान के लिये वाक्य का भाव अर्थात् उसके द्वारा व्यक्त विचार उसके निर्देश से (अर्थात् उसके सत्य-मूल्य से) कम महत्वपूर्ण नहीं है। अब अ=ब है, तो निस्सदेह 'ब' का निर्देश 'अ' के निर्देश के समान ही है और अ=ब का सत्य-मूल्य वही है जो 'अ=अ' का है। इसके बाव जूद भी 'ब' का भाव 'अ' से भिन्न हो सकता है और इस प्रकार 'अ=ब' का भाव 'अ=अ' से भिन्न होगा। इस स्थिति मे दोनो वाक्यो का एक ही संज्ञान मूल्य नही होगा। यदि हम 'निर्णय' का अर्थ एक विचार से उसके सत्य-मूल्य की ओर बढना समझते हैं, जैसा कि इस निबन्ध मे माना गया है, तो हम कह सकते हैं कि निर्णय एक भिन्न वस्तु होते हैं।

तार्किक अणुवाद

बर्ट्रेण्ड रसल

जिस दर्शन का मैंने प्रतिपादन किया है उसे साधारणतया यथार्थवाद (रियलिज्म) का एक प्रकार माना जाता है, तथा उसमे यथार्थवादी सिद्धान्त से विपरीत प्रतीत होने वाले तत्वो का समावेश होने के कारण उस पर असगतता का आरोप लगाया जाता है। जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मैं यथार्थवादियो और उनके प्रतिद्वन्दियो के बीच विवाद-विषय को मौलिक नहीं मानता, मैं जिन सिद्धांतों पर बल देना चाहता हूँ उनमे से किसी पर भी अपना दृष्टि-कोण बदले बिना उक्त विवाद-विषय पर अपने दृष्टिकोण को बदल सकता हूँ। मेरे मत में दर्शन के लिए तर्कशास्त्र आधारभूत होता है, तथा दर्शन के सम्प्रदायो का वर्णन उनकी तत्व-मीमासा के आधार पर नही वरन् उनके तर्कशास्त्र के आधार पर किया जाना चाहिये। मेरा अपना तर्कशास्त्र आणवीय है, और मैं यहा इसी पक्ष पर बल देना चाहूँगा। इसलिए मैं अपने दर्शन का किसी विशेषण सहित अथवा रहित 'यथार्थवाद' के रूप में वर्णन न करके 'तार्किक अणुवाद' के रूप में वर्णन करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ।

प्राक्कथन के रूप में ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में यहाँ कुछ शब्द कहना लाभदायक सिद्ध होगा। मैं दर्शन के क्षेत्र मे गणित के माध्यम से आया, अथवा कहें, गणित की सत्यता मे विश्वास करने के लिए कुछ हेतु ढूँढ निकालने की इच्छा से आया। यौवन के प्रारंभ काल से ही मुझमें यह विश्वास करने की तीव्र इच्छा थी कि ज्ञान नामक वस्तु भी हो सकती है, पर साथ ही अधिकांशत ज्ञान के रूप में जो कुछ स्वीकार किया जाता है उसे अगीकार करने मे मुझे बड़ी कठिनाई थी। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि विशुद्ध गणित मे सन्देह-रहित सत्य को प्राप्त करने की सर्वाधिक सम्भावना थी, फिर भी यूक्लिड के कुछ स्वय-सिद्ध स्पष्टत संदिग्ध थे, तथा अत्याणुकलन (इनफिनीटेसीमल केलकुलस), जिस रूप में मुझे पढाया गया था वह हेत्वाभासो का एक समुच्चय था और उसे मैं उससे भिन्न मानने में असमर्थ था। मेरे पास अंकगणित की सत्यता पर संदेह करने का कोई कारण नहीं था। किन्तु तब मुझे यह ज्ञात नही था कि समस्त परम्परागत विशुद्ध गणित को अंकगणित में समाविष्ट किया जा सकता है। अट्ठारह वर्ष की आयु में मैंने मिल के 'लॉजिक' को पढा, परन्तु अंकगणित को स्वीकारने के जो कारण मिल ने दिये थे, उनसे मुझे गहरा असंतोष था। मैंने ह्यूम का अध्ययन नही किया था, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि विशुद्ध अनुभववाद (जिसे स्वीकारने की मेरी प्रवृत्ति थी) मिल द्वारा स्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धांतों के समर्थन पोषक होने के स्थान

पर संशयवाद की ओर ही प्रेरित करता है। केम्ब्रिज मे मैंने काण्ट व हेगल के अध्ययन के साथ ही ब्रेडले की 'लॉजिक' को भी पढा जिसका मुझ पर गहरा प्रभाव पडा। कुछ वर्षो तक मैं ब्रेडले का अनुयायी रहा, परन्तु अधिकांशत जी० ई० मूर के साथ विवाद के फलस्वरूप मैंने १८९८ ई० के लगभग अपना मत परिवर्तित कर लिया। मैं फिर यह विश्वास करने मे असमर्थ था कि ज्ञान की प्रक्रिया ज्ञेय मे कोई अन्तर स्थापित कर सकती है। साथ ही मैं अनेकवाद की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य हो गया। गणीतीय वाक्यो के विश्लेषण के फलस्वरूप मुझे यह मानना पडा कि जब तक हम अनेकवाद एव सम्बन्धो की यथार्थता को स्वीकार नही कर लेते तब तक उनकी आंशिक सत्यो के रूप मे भी व्याख्या नही की जा सकती। इस अवसर पर सयोगवश मैंने लीबनीज़ का अध्ययन किया, और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा (जो बाद मे कोतुरात की श्रेष्ठ गवेषणाओ से पुष्ट हुआ) कि उसकी विशिष्ट धारणाओ मे से अनेक इस तार्किक सिद्धांत के कारण उत्पन्न हुई थी कि प्रत्येक तर्क-वाक्य मे एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। इस सिद्धात मे लीबनीज़ स्पिनोजा, हेगल और ब्रेडले के साथ सहभागी है, मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि यदि उक्त सिद्धात को अस्वीकृत कर दिया जाय तो इन सभी दार्शनिको की तत्व मीमासा का सम्पूर्ण आधार ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसलिए मैं फिर उसी समस्या पर लौट आया जिसने मुझे प्रारम्भ मे दर्शन की ओर प्रवृत किया था, अर्थात् गणित की आधार-शिला की समस्या, जिसको सुलझाने के लिए मैंने अधिकांशत पीनो एव फ्रेगे से व्युत्पन्न एक नवीन तर्क-शास्त्र का प्रयोग किया, तथा जो परम्परागत दर्शन के तर्क-शास्त्र से अधिक फलदायक सिद्ध हुआ (यह कम से कम मेरा विश्वास है)।

प्रथमत मुझे यह ज्ञात हुआ कि गणित के विषय मे रूढ दार्शनिक युक्तियाँ (जो मुख्यत काण्ट से व्युत्पन्न थीं) इस बीच मे होने वाली गणित की प्रगति से अवैध सिद्ध हो चुकी थीं। अयुक्तिवादी ज्यामिति ने अनुभवातीत सवेदनवाद (ट्रांसेंडेंटल एस्थेटिक) की युक्ति को खोखला बना दिया था। वीयस्ट्रास ने बता दिया था कि अवकलन एव समाकलन गणित (डिफ्रेंशियल एण्ड इन्टीग्रल केलकुलस) मे अत्यणु (इनफिनिटेसीमल) की धारणा की अपेक्षा नहीं रहती, अतएव दार्शनिको द्वारा देश, काल व गति की निरन्तरता जैसे विषयो पर जो कुछ भी कहा गया था उसे त्रुटि मात्र मानना चाहिये। केण्टर ने अनन्त संख्या के प्रत्यय को व्याघात से मुक्त कर दिया था, और इस प्रकार काण्ट एव हेगल के अनेक विरोधाभासो का निपटारा कर दिया था। अन्त मे फ्रेगे ने विस्तार से यह बताया कि किस प्रकार अंकगणित का विशुद्ध तर्क-शास्त्र से, नवीन प्रत्ययो अथवा स्वयसिद्धो की आवश्यकता के बिना, निगमन किया जा सकता है, और इस प्रकार काण्ट के इस कथन को असिद्ध कर दिया कि "७+५=१२" सश्लेषणात्मक है—कम से कम इस अभ्युक्ति की साधारण व्याख्या के अनुसार। चूँकि ये सब निष्कर्ष किसी दुस्साहसिक विधि द्वारा नही वरन् धैर्यमय विस्तृत तर्क के द्वारा प्राप्त किए गए थे, इसलिए मैं यह सम्भाव्य मानने लगा कि दर्शन-शास्त्र ने बौद्धिक कठिनाइयो के दुस्साहसिक हल अपना कर त्रुटि की थी, तथा अधिक सावधानी व यथातथ्यता के द्वारा ही समाधान प्राप्त किये जा सकते हैं। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यों-त्यो मैं इस मत को अधिकाधिक शक्ति से ग्रहण करता गया, तथा उसने मुझे यह शका करने को प्रवृत किया है कि

विज्ञान से पृथक अध्ययन-क्षेत्र के रूप मे एव स्वय अपनी पद्धति से युक्त विषय के रूप मे दर्शन की कल्पना कही धर्म-शास्त्र से प्राप्त दुर्भाग्यपूर्ण रिक्थ मात्र तो नही है।

फ्रेगे का कार्य अन्तिम इसलिए नही था कि एक तो वह गणित की अन्य शाखाओं पर प्रयोजित न हो कर केवल अंकगणित पर ही प्रयोजित होना था, दूसरे, उसके आधार-वाक्य उन व्याघातो से मुक्त नही थे जिनमे आकारी तर्क-शास्त्र के सभी गत सस्थान दूषित थे। 'प्रिंसिपिया मेथेमेटिका' मे डॉ० ह्वाइटहैड व मैंने मिल कर इन दोनों दोषो का निवारण करने का प्रयत्न किया, किन्तु जो अब भी कतिपय आधारभूत अशो मे (विशेषत 'लघुकरण का स्वय सिद्ध'—एग्जियम ऑफ रिड्यूसिबिलिटी) अन्तिम समाधान से न्यून है। परन्तु मेरे विचार मे इस पुस्तक के दोषों के अनन्तर भी उसका कोई भी पाठक उसके इस प्रमुख तर्क को चुनौती नही देगा कि किसी नवीन अपरिभाषित प्रत्यय अथवा असिद्ध तर्क-वाक्यों के बिना, सम्बन्धो के न्याय की सहायता से आकारी तर्क-शास्त्र से कतिपय प्रत्ययों एव स्वयसिद्धो से समस्त विशुद्ध गणित की उपपत्ति की जा सकती है। इस पुस्तक मे प्रतिपादित गणितीय तर्क-शास्त्र की प्राविधिक पद्धतियाँ बहुत सशक्त प्रतीत होती हैं, तथा वे ऐसी अनेक समस्याओं पर विचार-विमर्श के हेतु एक नवीन साधन प्रदान करने मे समर्थ हैं जो अब तक दार्शनिक अस्पष्टता के आधीन रही हैं। मेरे तात्पर्य के उदाहरण के रूप मे डॉ० ह्वाइटहैड के 'कॉन्सेप्ट ऑफ नेचर' एव 'प्रिंसिपल्स ऑफ नेचुरल नॉलेज' नामक ग्रन्थो का उल्लेख किया जा सकता है।

जब विशुद्ध गणित को एक निगमनात्मक सस्थान में व्यवस्थित किया जाता है—अर्थात् उन सभी तर्क वाक्यो के समुच्चय के रूप मे जिनका नियत आधार वाक्यों के समुच्चय से निगमन किया जा सके—तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम विशुद्ध गणित की सत्यता मे विश्वास करना चाहते हैं तो वह पूर्णतया इसी आधार पर नही कर सकते कि हमे आधार-वाक्यो के समुच्चय की सत्यता मे विश्वास है। कुछ आधार-वाक्य उनमे प्राप्त कुछ निष्कर्षो से बहुत कम सुस्पष्ट होते हैं, तथा उनमे विश्वास मुख्यत उनके निष्कर्षो के कारण ही किया जाता है। जब किसी विज्ञान की एक निगमनात्मक सस्थान के रूप में व्यवस्था की जायगी तब सदा यह बात सत्य पाई जायगी। किसी सस्थान में तार्किक दृष्टि से सरलतम तर्क वाक्य सर्वाधिक सुस्पष्ट नही होते, अथवा उक्त सस्थान में हमारे विश्वास के हेतुओं के प्रमुख अश नही होते। आनुभविक विज्ञानो के सम्बन्ध मे तो यह बात स्पष्ट है। उदाहरणार्थ विद्युत-गति-विज्ञान (इलेक्ट्रो-डायनेमिक्स) का मैक्सवैल के समीकरणो मे समाहार किया जा सकता है, किन्तु इन समीकरणो मे विश्वास उनके कतिपय तार्किक निष्कर्षो की निरीक्ष्य सत्यता के आधार पर किया जाता है। ठीक ऐसा ही तर्क-शास्त्र के विशुद्ध क्षेत्र मे घटित होता है, तर्क-शास्त्र के कुछ तार्किक दृष्टि से प्राथमिक सिद्धान्तो मे विश्वास स्वय उनके कारण नही वरन् उनके परिणामो के कारण किया जाता है। "मुझे तर्क-वाक्यो के इस समुच्चय मे क्यो विश्वास करना चाहिये?" यह ज्ञानमीमासात्मक प्रश्न इस तार्किक प्रश्न से सर्वथा भिन्न है कि "तर्क-वाक्यो का वह कौनसा लघुतम एव तार्किक दृष्टि से सरलतम समूह है जिनसे तर्क-वाक्यो के इस समुच्चय का निगमन किया जा सके?"

इस तथ्य के अनन्तर भी कि अपने 'तार्किक' क्रम मे तर्क–शास्त्र एव गणित के तर्क–वाक्य शुद्ध निगमन द्वारा तर्क–शास्त्र के आधार–वाक्यो से निष्पादित होते हैं, तर्क–शास्त्र एव विशुद्ध गणित मे विश्वास करने के हमारे हेतु अशत केवल आगमनात्मक और सम्भाव्य होते हैं। मेरे विचार मे यह बात महत्वपूर्ण है, क्योकि तार्किक क्रम को ज्ञानमीमासात्मक क्रम मे तथा, विलोम रूप से ज्ञानमीमासात्मक क्रम को तार्किक क्रम मे सम्मिश्रित कर देने से त्रुटियो के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। गणितीय तर्क–शास्त्र गणित की सत्यता अथवा असत्यता पर प्रकाश केवल कल्पित विरोधाभासो को असिद्ध करके ही डाल सकता है। इससे इतना ही प्रकट होता है कि गणित 'सम्भवत' सत्य हो सकती है। किन्तु गणित 'निश्चय ही' सत्य है, यह बताने के लिए अन्य विधियो एव अन्य विचारो की आवश्यकता पडेगी।

डॉ० व्हाइटहैड और मैंने, अनुभव के द्वारा, गणितीय तर्क–शास्त्र पर प्रयोज्य जिस अति महत्वपूर्ण स्वत-शोधात्मक सूत्र का पता लगाया, तथा जो तब से अन्य कई क्षेत्रो मे प्रयोजित किया जा चुका है वह 'ऑक्मि के क्षुर' का एक रूप है। जब कल्पित सत्ताओ के किसी समूह मे सुथरे तार्किक गुणधर्म होते हैं, तब अनेक उदाहरणो मे, ऐसा पाया जाता है कि, उन कल्पित सत्ताओ के स्थान पर ऐसी विशुद्ध तार्किक सरचनाओ का प्रतिस्थापन किया जा सकता है जिनमे उतने सुथरे गुणधर्म नही होते। उस अवस्था मे, उन कल्पित सत्ताओ से सम्बन्धित समझे जाने वाले तर्क-वाक्यो के समूह की व्याख्या करते समय हम उक्त तर्क वाक्यो के समूह के किसी भी ब्यौरे मे परिवर्तन किये बिना तार्किक सरचनाओ का प्रतिस्थापन कर सकते हैं। यह एक प्रकार की मितव्ययता है क्योकि सुथरे गुणधर्मों वाली सत्ताएँ सदा अनुमित होती हैं, और जिन तर्क–वाक्यो मे वे अभिव्यक्त होती हैं उनकी व्याख्या यदि उक्त अनुमान के बिना की जा सकती है तो अनुमान का आधार ही समाप्त हो जाता है, तथा हमारा तर्क-वाक्यों का समूह किसी सदिग्ध चरण की आवश्यकता के विरुद्ध सुरक्षित हो जाता है। इस सिद्धान्त का निम्नलिखित रूप मे कथन किया जा सकता है "जहाँ भी सम्भव हो, अज्ञात सत्ताओ के अनुमानो के स्थान पर ज्ञात सत्ताओ से उपलब्ध सरचनाओ का प्रति स्थापन करो।"

इस सिद्धान्त के उपयोग भिन्न-भिन्न है, किन्तु गणितीय तर्क-शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्तियो के लिये वे विस्तार से बुद्धि–ग्राह्य नही हैं। इसका जो सर्व प्रथम उदाहरण मुझे प्राप्त हुआ उसे मैंने "अमूर्तता का सिद्धान्त" अथवा "अमूर्तता को अलगाने का सिद्धान्त" कहा है।[1] यह सिद्धान्त किसी भी सममित एव सक्रामी सम्बन्ध के उदाहरण मे प्रयोज्य होता है, यथा समानता का सम्बन्ध। हमारी प्रवृत्ति यह अनुमान करने की होती है कि उक्त सम्बन्ध किसी उभयनिष्ठ गुण के कारण उत्पन्न होते हैं। यह बात सत्य भी हो सकती है और नही भी, सम्भवत वह कुछ उदाहरणो मे सत्य होती है और अन्य मे नही होती। किन्तु एक उभय-निष्ठ गुण के समस्त आकारी उद्देश्यों की पूर्ति उन पदो के समूह की सदस्यता से हो सकती

---

१ दे० "आवर नॉलेज ऑफ द एक्स्टरनल वर्ल्ड" पृ० ४२

है जिनका एक प्रदत्त पद से कथित सम्बन्ध हो। उदाहरणार्थ लम्बाई को लीजिए। मान लीजिये कि हमारे पास छड़ो का एक समूह है, जो सब समानत लम्बी हैं। यह मानना सरल है कि उनका लम्बाई नामक एक गुण है जिनमे वे सभी सहभागी हैं। परन्तु वे सभी तर्क-वाक्य जिनमे यह कल्पित गुण घटित होता है अपने सत्य-मूल्य का अपरिवर्तित रूप मे धारण किये रहेगे, यदि "छड़ 'क' की लम्बाई' के स्थान पर हम "उन समस्त छड़ो के समूह की सदस्यता जो 'क' जितनी लम्बी है" को ग्रहण कर लें। विभिन्न उदाहरणो मे–यथा, वास्तविक सख्याओ की परिभाषा के उदाहरण मे–एक सरलतर रचना सम्भव है।

इस सिद्धान्त का एक अति महत्वपूर्ण उदाहरण फ्रेगे द्वारा दी गई गण–सख्या की परिभाषा है जिसके अनुसार पदो के एक प्रदत्त समूह की गण सख्या प्रदत्त समूह के 'समरूप' सभी समूहो की कक्षा होती है–जहाँ दो समूह 'समरूप' तब होते हैं जब ऐसा एक एकैकी सम्बन्ध होता है जिसका क्षेत्र एक समूह होता है तथा जिसका विलोम क्षेत्र दूसरा समूह होता है। इस प्रकार एक गण–सख्या उन सभी कक्षाओ की कक्षा होती है जो एक प्रदत्त कक्षा के समरूप होती हैं। यह परिभाषा उन सभी तर्क–वाक्यों के सत्य मूल्यो को अपरिवर्तित बनाये रखती है जिनमें गण-सख्याएँ घटित होती हैं, तथा 'गण सख्या' नामक उन सत्ताओ के अनुमान का परिहार करती है जिनकी अकगणित को बुद्धि–ग्राह्य बनाने के उद्देश्य के अतिरिक्त कोई अपेक्षा नही थी, और जो अब उक्त उद्देश्य के लिए सर्वथा अनपेक्षित हैं।

कदाचित् और भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि समरूप विधियों द्वारा स्वय कक्षाओं को भी अलगाया जा सकता है। गणित मे ऐसे तर्क–वाक्यो की भरमार है जो यह अपेक्षा रखते प्रतीत होते हैं कि एक कक्षा अथवा एक समूह किसी न किसी अर्थ में एक एकात्मक सत्ता होना चाहिये–यथा "न वस्तुओ के एक समय मे कितने ही सयोजनो की सख्या $_2$न होती है" तर्क–वाक्य। चूँकि $_2$न सदा न से वृहत्तर होता है, इसलिए यदि कक्षाओ को स्वीकार किया जाय तो उक्त तर्क–वाक्य से कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि विश्व मे सत्ताओ की कक्षाओं की सख्या विश्व मे सत्ताओ की सख्या से अधिक होती है तथा यदि कक्षाएँ सत्ताओ मे समाविष्ट कर ली जायें तो उक्त कथन विषमता–युक्त प्रतीत होगा। सौभाग्य से वे सभी तर्क–वाक्य जिनमे कक्षाओ का उल्लेख किया हुआ प्रतीत होता है इस मान्यता के बिना भी व्याख्यायित हो सकते हैं कि कक्षाएँ हैं। यह कदाचित् हमारे सिद्धान्त के समस्त उपनयों में से सर्वाधिक महत्व का है। (द्रष्टव्य 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिका', पृ० २०)।

एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण मेरे द्वारा कथित "निश्चित विवरणो" से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् "सम अभाज्य", "इगलैंड का वर्तमान सम्राट", "फ्रांस का वर्तमान सम्राट" जैसे वाक्यांश। "फ्रांस के वर्तमान सम्राट का अस्तित्व नहीं है" जैसे तर्क–वाक्यों की व्याख्या करने में सदा एक कठिनाई उत्पन्न हुई है। कठिनाई यह मानने से उत्पन्न हुई थी कि "फ्रांस का वर्तमान सम्राट" उक्त तर्क–वाक्य का उद्देश्य है, जिससे यह मानना आवश्यक हो गया कि यद्यपि उसका (सम्राट का) अस्तित्व नही है तथापि उसकी सत्ता है। किन्तु "गोल वर्ग" अथवा 'सम अभाज्य २ से अधिक है" को सत्तात्मक मानना भी कठिन है। वस्तुत "गोल वर्ग

की सत्ता नही है" उतना ही सत्य है जितना" फ्रांस के वर्तमान सम्राट का अस्तित्व नही है"। इस प्रकार अस्तित्व और सत्तात्मकता के भेद से हमे कोई सहायता नही मिलती । तथ्य यह है कि जब 'अमुक–तमुक" शब्द एक तर्क–वाक्य मे प्रयुक्त होते हैं, तब उक्त तर्क–वाक्य मे उनके अनुरूप कोई घटक नही होता, और जब उक्त तर्क वाक्य का पूर्ण विश्लेषण किया जाता है तब 'अमुक–तमुक' शब्द तिरोहित हो जाते हैं। विवरणो के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि यदि "अ" "अमुक–तमुक" के आकार का वाक्यांश नही है (अथवा उसके लिये प्रयुक्त नही होता है) तो "अ का अस्तित्व है" ऐसा कथन अर्थहीन होगा। यदि "अमुक-तमुक" का अस्तित्व है, तथा "क" ' अमुक–तमुक" है, तो यह अर्थहीन है कि "क का अस्तित्व है"। इस प्रकार "अस्तित्व" जिस अर्थ मे एकात्मक सत्ताओ पर लागू किया जाता है उस अर्थ मे आधारभूतो की सूची से पूर्णत निकाल दिया गया है । सत्ता–सम्बन्धी युक्ति तथा उसके अधिकांश खण्डन दूषित व्याकरण पर आधृत पाये गये हैं । (द्रष्टव्य 'प्रिंसिपिया मेथेमेटिका', १४)

विशुद्ध गणित मे अनुमानो के स्थान पर सरचनाओ के प्रतिस्थापन के अनेक अन्य उदाहरण हैं, यथा श्रेणी, क्रमसूचक सख्याएँ, और वास्तविक सख्याएँ। किन्तु अब मैं भौतिकी मे से उदाहरण प्रस्तुत करूँगा।

बिन्दु और क्षण प्रत्यक्ष उदाहरण हैं डॉ० ह्वाइटहैड बता चुके हैं कि उनकी रचना ऐसी घटनाओ के समूहो से किस प्रकार की जाती है जिन सब का एक परिमित विस्तार होता है और एक परिमित अवधि होती है। सापेक्षता के सिद्धान्त मे हमे मुख्यत बिन्दुओ अथवा क्षणो की आवश्यकता न हो कर घटना-कणो की आवश्यकता होती है, जो पुरातन भाषा मे वर्णित एक क्षण, अथवा एक तात्क्षणिक बिन्दु के अनुरूप होते हैं। (पूर्व काल मे एक दिक्-बिन्दु सर्व काल तक स्थायी रहता था, और एक काल–क्षण अखिल दिक् मे परिव्याप्त रहता था। आजकल गणितीय भौतिकी द्वारा अपेक्षित इकाई के न तो दिक्कीय और न कालिक विस्तार होता है।) घटना-कणो की रचना ठीक उसी तार्किक पद्धति द्वारा की जाती है, जिसके द्वारा बिन्दुओ व क्षणों की रचना की जाती थी। परन्तु इन सरचनाओ मे हम विशुद्ध गणित की सरचनाओ से एक भिन्न स्तर पर होते हैं। एक घटना-कण की सरचना की सम्भावना कुछ गुण-धर्मो से युक्त घटना-समूहो के अस्तित्व पर निर्भर करती है, अपेक्षित घटनाओ का अस्तित्व है अथवा नही यह ज्ञात करना यदि सम्भव है तो केवल अनुभव द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है। अत (गणितीय अर्थ मे) सातत्य की आशा करने अथवा घटना कणो की सर-चना की सम्भावना मे विश्वास रखने का कोई प्रागनुभविक कारण नही हो सकता। यदि क्वांटम सिद्धांत के द्वारा विविक्त दिक्-काल की माँग की जाती है तो हमारा तर्क-शास्त्र उसे पूरा करने को उतना ही तत्पर है जितना वह सातत्य की माँग करने वाली पारम्परिक भौतिकी की आवश्यकताओ को पूरा करने मे तत्पर है। यह प्रश्न केवल आनुभविक है, तथा हमारा तर्क शास्त्र दोनो मे से किसी भी विकल्प के अनुकूल है (जैसा कि उसे होना चाहिये)।

ऐसे ही विचार द्रव्य के एक कण अथवा परिमित आकार के द्रव्य खण्ड पर लागू होते हैं। परम्परा से द्रव्य के वे दो सुथरे गुणधर्म होते हैं जो तार्किक सरचना के चिह्न हैं, प्रथम, यह

कि द्रव्य के दो खण्ड एक ही स्थान मे एक ही काल मे स्थित नही रह सकते, द्वितीय यह कि द्रव्य का एक ही खण्ड एक ही काल मे दो स्थानो मे स्थित नही रह सकता। अनुमानो के स्थान पर सरचनाओ के प्रतिस्थापन का अनुभव हमें ऐसी किसी भी सुथरी व यथातथ वस्तु के प्रति सदिग्ध बना देता है। हममे यह भावना उत्पन्न हुए बिना नही रह सकती कि (द्रव्य की) अभेद्यता बिलियड गेंदो के निरीक्षण से प्राप्त एक आनुभविक तथ्य नही है, किन्तु ऐसी धारणा है जो तार्किक दृष्टि से अनिवार्य है। यह भावना पूर्णत न्यायोचित है, परन्तु यदि एक द्रव्य एक तार्किक सरचना नही होता तो ऐसा नहीं हो सकता था। दिक्-काल के किसी भी लघु क्षेत्र मे बहुसख्यक घटनाएं सह-अस्तित्व रखती हैं, जब हम ऐसी सत्ता का प्रकथन करते हैं जो तार्किक सरचना नही है तब हमे अभेद्यता जैसा कोई गुण धर्म उपलब्ध नही होता, किन्तु, इसके विपरीत, दिक् काल के एक अश मे, चाहे वह कितना ही लघु क्यो न हो, घटनाओं की अनन्त परस्परव्याप्तता मिलती है। द्रव्य की अभेद्यता का कारण यह है कि हमारी परिभाषा उसे ऐसा बनाती है। मोट रूप में, तथा यह कैसे घटित होता है इसकी धारणा प्रदान करने हेतु हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का एक खण्ड दिक्- काल के किसी परिपथ पर घटित होने वाला घटना-चक्र मात्र है, और हम द्रव्य खण्डो नामक परिपथो की सरचना इस रूप मे करते हैं कि वे परस्पर प्रतिच्छेद नही करते। द्रव्य अभेद्य है, क्योंकि यदि हम अपनी सरचनाओं का निर्माण अभेद्यता की उपलब्धि हेतु करें तो भौतिकी के नियमो का प्रकथन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। अभेद्यता परिभाषा का तार्किक दृष्टि से एक अनिवार्य फल है यद्यपि यह तथ्य कि उक्त परिभाषा सुविधाजनक है, आनुभविक है। द्रव्य-खण्ड उन ईंटो में से नही हैं जिनसे जगत् का निर्माण होता है। ईट तो घटनाएं हैं, तथा द्रव्य-खण्ड सरचना के वे भाग हैं जिन पर पृथक ध्यान देना हमारे लिये सुविधाजनक होता है।

मानसिक घटनाओ के दर्शन मे भी सरचना बनाम अनुमान सम्बन्धी हमारे सिद्धान्त को लागू करने की गुजायश है। ज्ञाता, तथा ज्ञेय से किसी सज्ञान के सम्बन्ध,—इन दोनों मे वह अभियोजनात्मक गुण है जो हमारे सशयों को जाग्रत करता है। यह स्पष्ट है कि यदि ज्ञाता का परिरक्षण करना है तो उसे एक सरचना के रूप मे ही परिरक्षित करना पडेगा, न कि एक अनुमित सत्ता के रूप मे, एक-मात्र प्रश्न यही है कि क्या ज्ञाता इतना पर्याप्त लाभदायक है कि उसकी सरचना मूल्यवान सिद्ध हो। पुन, ज्ञेय से एक सज्ञान का सम्बन्ध भी एक सरल अतिम इकाई नही है, जैसा कि मैं पहले कभी सोचा करता था। यद्यपि मैं व्यवहारवाद से सहमत नही हूँ तथापि मेरे विचार से 'ज्ञान की प्रक्रिया' की जटिलता की ओर ध्यान आकर्षित करने मे विलियम जेम्स सही थे। वर्तमान सामान्य साराश मे उक्त मत के कारणो का विवरण देना असम्भव है। किन्तु जो भी हमारे सिद्धान्त को स्वीकार करता है वह इसमे सहमत होगा कि यहाँ उसे लागू करने की 'प्रथम दृष्ट्या, स्थिति है। मेरा 'एनेलिसिस ऑफ माइड' नामक ग्रथ का अधिकाश इसी सिद्धात के उपनयो से निर्मित है। किन्तु चूँकि मनोविज्ञान भौतिकी की तुलना मे वैज्ञानिक दृष्टि से कम पूर्ण है, इसलिए उक्त सिद्धान्त को प्रयोजित करने के अवसर उतने समुचित नही हैं। यह सिद्धान्त अपने प्रयोग के लिये ऐसे तक

वाक्यो के समुचित विश्वसनीय सग्रह पर निर्भर करता है, जिनकी तर्कशास्त्री द्वारा इस प्रकार व्याख्या की जानी चाहिये कि अनिरीक्ष्य सत्ताओ के अनुमान के तत्व के न्यूनीकरण के साथ-साथ उनकी सत्यता का परिरक्षण हो। अत इस सिद्धान्त मे एक साधारणत उन्नत विज्ञान का पूर्वग्रहण होता है, जिसकी अनुपस्थिति मे तर्क शास्त्री यह नही जान पाता कि उसे क्या सरचित करना चाहिय। कुछ काल पूर्व तक ज्यामितीय विन्दुओ की सरचना करना आवश्यक प्रतीत होता था, अब घटना-कणो की आवश्यकता है। भौतिकी जैसे एक उन्नत विषय मे इस परिवर्तन को देखते हुए यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान मे सरचनाएँ केवल अत कालीन होनी चाहिये।

अब तक मैने केवल यही बताया है कि जगत् के अतिम सघटको के अश के रूप मे किन तत्वो को मानना आवश्यक नही है। किन्तु तार्किक सरचनाएँ अन्य समस्त सरचनाओ की भाँति उपादान की अपेक्षा रखती हैं, तथा अब इस सकारात्मक प्रश्न की ओर उन्मुख होने का समय आ गया है कि ये उपादान क्या होगे। पर यह प्रश्न, एक प्रस्तावना के रूप मे, तर्कशास्त्र एव भाषा तथा उनके द्वारा निरूपित वस्तु मे उनके सम्बन्ध के विवेचन की अपेक्षा रखता है।

मेरा विश्वास है कि दर्शन-शास्त्र पर भाषा का प्रभाव गहन एव लगभग अज्ञात रहा है। यदि हम इस प्रभाव से पथभ्रष्ट होना नही चाहते हैं तो उसके प्रति सचेत होना आवश्यक है, तथा स्वय से विमर्श-पूर्वक यह प्रश्न पूछना आवश्यक है कि यह कहाँ तक वैध है। इस प्रसग मे द्रव्य-गुण तत्वमीमासा सहित उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र का उदाहरण लीजिये। यह सदेहास्पद है कि दोनो मे से किसी का भी आविष्कार अनार्य भाषा-भाषी लोगो ने किया होगा, निश्चय ही उनका चीन मे उदय नहीं हुआ होगा—बौद्ध-दर्शन इस सम्बन्ध मे अपवाद है, पर वह अपने साथ भारतीय दर्शन को चीन मे लाया। पुन एक भिन्न प्रकार के उदाहरण लें तो यह मानना स्वाभाविक है कि सार्थकता से प्रयुक्त होने योग्य एक व्यक्तिवाचक नाम एक एकात्मक सत्ता को सूचित करता है, हम यह मान लेते हैं कि "सुकरात" नामक कोई एक न्यूनाधिक स्थायी प्राणी है क्योकि वही नाम उन घटनाओ की एक श्रेणी के लिए प्रयोजित होता है जिन्हे हम उस प्राणी की अभिव्यक्तियाँ मानने को प्रवृत्त होते हैं। ज्यों-ज्यो भाषा अधिक अमूर्त बनती है, त्यो-त्यो दर्शन-शास्त्र मे सत्ताओ का एक नवीन समूह प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् जाति-प्रत्यय, जो अमूर्त शब्दो द्वारा सूचित सत्ताएँ हैं। मैं यह स्थापन नही करना चाहता कि जाति-प्रत्यय नही होते, किन्तु निश्चय ही अनेक ऐसे अमूर्त शब्द हैं जो एकात्मक जाति-प्रत्ययो को सूचित नही करते—यथा, त्रिभुजत्व और विवेकत्व। इन रूपो मे भाषा अपने शब्द-भण्डार एव अपनी वाक्य-रचना के द्वारा हमे पथभ्रष्ट करती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा तर्क-शास्त्र हमे एक मिथ्या तत्व-मीमासा की ओर प्रवृत्त न करे तो हमें इन दोनो के सम्बन्ध मे सावधान रहना चाहिये।

वाक्य रचना और शब्द-भण्डार के दर्शन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव पडे हैं। शब्द-भण्डार का सर्वाधिक प्रभाव साधारण ज्ञान पर पडा है। विलोमत यह अनुरोध किया

जा सकता है कि साधारण ज्ञान हमारे शब्द-भण्डार को उत्पन्न करता है । इसमे केवल आंशिक सत्य है । प्रारम्भ मे एक शब्द न्यूनाधिक समरूप वस्तुओ के लिए प्रयोजित किया जाता है, और यह विचार नही किया जाता कि उन वस्तुओ म कोई तद्रूपता है अथवा नही । परन्तु जब एक बार प्रचलन द्वारा वे विषय नियत हो जाते हैं जिन पर उक्त शब्द प्रयोजित किया जाना चाहिये, तब साधारण ज्ञान उस शब्द के अस्तित्व से प्रभावित होता है और यह मानने को प्रवृत्त होता है कि एक शब्द से एक विषय सूचित होना चाहिये जो एक विशेषण अथवा एक भाववाचक शब्द की स्थिति मे एक जाति-प्रत्यय होगा । इस प्रकार शब्द-भण्डार का प्रभाव वस्तुओ एव प्रत्ययो के एक प्रकार के प्लोटोवादी अनेकवाद को प्रेरित करता है ।

इण्डो-यूरोपीय भाषाओ में वाक्य-रचना का प्रभाव सर्वथा भिन्न होता है । लगभग प्रत्येक तर्क वाक्य एक ऐसे आकार में रखा जा सकता है जिसमें एक सयोजक से सयुक्त एक उद्देश्य तथा एक विधेय होता है । यह अनुमित करना स्वाभाविक है कि प्रत्यक तथ्य के एक तदनुरूप आकार होता है, और वह एक द्रव्य द्वारा एक गुण के अभिधारण मे निहित होता है । निश्चय ही इसमे एकवाद उत्पन्न होता है, क्योकि यह तथ्य कि द्रव्य अनेक हैं (यदि वह तथ्य होता) अपेक्षित आकार का नही होता । सिद्धान्तत दार्शनिक स्वय को भाषायी आकारो के इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त समझते हैं, किन्तु मुझे उनकी यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है । अमूर्त विषय-वस्तुओ के सम्बन्ध मे विचार करने मे, यह तथ्य कि अमूर्तताओ को सूचित करने वाले शब्द साधारण शब्दो से अधिक अमूर्त नही होते, सदा शब्दो द्वारा सूचित वस्तुओ के बारे मे विचार करने की तुलना मे स्वय शब्दो के सम्बन्ध मे विचार करना सरल बना देता है, तथा शब्दो क सम्बन्ध मे विचार करने के लोभ को सवरण करना असम्भव हो जाता है ।

जो विचारक उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र के वशीभूत नही होते वे केवल एक ही चरण आगे बढने में प्रवृत्त हो सकते हैं, तथा दो पदो के सम्बन्धो को स्वीकार कर सकते हैं, यथा पूर्व-और-पश्चात्, अधिक-और-कम, दाहिना-और-बाया । भाषा स्वय को उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र के इस विस्तरण के अनुकूल बना लेती है, क्योकि हम "अ ब से पूर्व है", "अ ब से अधिक है" आदि का कथन करते हैं । यह सिद्ध करना सरल है कि इस प्रकार के तर्क-वाक्य द्वारा अभिव्यक्त तथ्य एक द्रव्य द्वारा एक गुण के अभिधारण मे अथवा दो या अधिक द्रव्यो द्वारा दो या अधिक गुणो के अभिधारण मे निहित नही होता । (द्रष्टव्य 'प्रिंसिपल्स ऑफ मैथेमेटिक्स' २१४) । इसलिए उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र का विस्तरण उक्त सीमा तक उचित है, किन्तु स्पष्ट है कि ठीक ऐसी ही युक्तियो द्वारा उसका और भी अधिक विस्तरण अनिवार्य सिद्ध किया जा सकता है । मैं नही जानता कि त्रिपदीय, चतुष्पदीय, पचपदीय सम्बन्धो की श्रेणी मे किस सीमा तक अग्रसर होना अनिवार्य है । उदाहरण के लिये, प्रक्षेपी ज्यामिति मे एक रेखा पर बिन्दुओ के क्रम अथवा एक रेखा मे समतलो के क्रम द्वारा एक चतुष्पदीय सम्बन्ध अपेक्षित होता है ।

भाषा की विचित्रताओ का एक अति दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव विशेषणो एव सम्बन्धो के प्रसग मे पड़ता है । समस्त शब्द एक ही तार्किक रूप के होते हैं, एक शब्द सुनने अथवा पढ़ने

के अनुसार ध्वनियों अथवा आकारों की श्रेणी का वर्ग होता है। किन्तु शब्दों के अर्थ अनेक भिन्न रूपों के होते हैं, एक गुण (एक विशेषण द्वारा अभिव्यक्त) उन वस्तुओं से भिन्न रूप का होता है जिन पर उसका (सत्यता अथवा असत्यता में) आरोपण किया जा सकता है, (कदाचित् एक सम्बन्ध-सूचक अव्यय, एक सकमक क्रिया, या किसी अन्य प्रकार से अभिव्यक्त) एक सम्बन्ध उन पदों में भिन्न रूप का होता है जिनके मध्य वह लागू होता है अथवा नहीं होता है। एक तार्किक रूप की परिभाषा निम्नलिखित है अ और ब एक ही तार्किक रूप के तभी, और केवल तभी, होते है जब अ को संघटक-तत्त्व के रूप में समाविष्ट करने वाले किसी प्रदत्त तथ्य के अनुरूप ब को एक संघटक-तत्त्व के रूप में समाविष्ट करने वाला तथ्य हो, जो या तो अ के स्थान पर ब को रखने से फलित होता है अथवा इस प्रकार फलित होने वाले तथ्य का निषेध होता है। उदाहरण के लिये, सुकरात और अरस्तू एक ही रूप के हैं, क्योंकि "सुकरात एक दार्शनिक था" तथा "अरस्तू एक दार्शनिक था" दोनों तथ्य हैं, सुकरात केलिगुला एक ही रूप के हैं क्योंकि "सुकरात एक दार्शनिक था" तथा "केलिगुला एक दार्शनिक नहीं था" दोनों तथ्य हैं। "प्रेम करना" और "हत्या करना" एक ही रूप के हैं, क्योंकि "प्लेटो सुकरात को प्रेम करता था" तथा "प्लेटो ने सुकरात की हत्या नहीं की" दोनों तथ्य हैं। उक्त परिभाषा से आकारी दृष्टि से यह फलित होता है कि जब दो शब्दों के अर्थ विभिन्न रूपों के होते हैं, तब उन शब्दों द्वारा सूचित वस्तुओं से उनके सम्बन्ध विभिन्न रूपों के होते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि शब्दों और उनसे सूचित वस्तुओं में एक ही अर्थ-सम्बन्ध नहीं होता वरन् उतने ही विभिन्न तार्किक रूपों के अर्थ-सम्बन्ध होते हैं जितने उन शब्दों द्वारा सूचित वस्तुओं में तार्किक रूप होते हैं। यह तथ्य दर्शन-शास्त्र में त्रुटियों एवं भ्रांतियों का एक प्रबल स्रोत है। विशेषत, इसके कारण ऐसे किसी भी सम्बन्ध-सिद्धान्त को शब्दों में अभिव्यक्त करना असाधारण रूप से कठिन हो गया है जो तार्किक दृष्टि से सत्य बनने योग्य होता है, क्योंकि भाषा एक सम्बन्ध एवं उसके पदों की रूपात्मक भिन्नता को सुरक्षित नहीं रख सकती। सम्बन्धों की यथार्थता के पक्ष एवं विपक्ष में दी गई अधिकांश युक्तियाँ इसी भ्रान्ति-स्रोत से दूषित हो गई हैं।

इस स्थान पर मैं एक क्षण के लिये विषयान्तर कर के यथा-सम्भव संक्षेप में सम्बन्धों के प्रति मेरी धारणा को स्पष्ट करना चाहूँगा। सम्बन्धों के विषय पर अतीत में मेरा अभिमत उतना स्पष्ट नहीं था जितना मैं सोचता था, किन्तु मेरे आलोचक जिसे मेरा अभिमत मानते थे, वह कदापि नहीं था। स्वयं अपने विचारों में स्पष्टता की कमी के कारण मैं अपने अर्थ का प्रेषण करने में असमर्थ था। सम्बन्धों का विषय कठिन है, और अब भी मैं उस सम्बन्ध में स्पष्ट होने का दावा नहीं करता। परन्तु मेरे विचार से कुछ अंशों पर मैं स्पष्ट हूँ। जब मैंने "दी प्रिंसिपल्स ऑफ मैथेमेटिक्स" की रचना की थी तब तक मुझे तार्किक रूपों की अनिवार्यता ज्ञात नहीं हुई थी। रूपों का सिद्धान्त तर्क-शास्त्र पर गहरा प्रभाव डालता है, तथा मेरे विचार से यह प्रदर्शित करना है कि "बाह्य" सम्बन्धों के विरोधियों की युक्तियों में यथातथ्य सत्य-तत्व कौनसा है। परन्तु रूपों का सिद्धान्त उनकी मुख्य स्थिति को सबल

बनाने के विपरीत हमे एक अधिक पूर्ण एव उग्र अणुवाद की ओर प्रवृत्त करता है जिसकी बीस वर्ष पूर्व मैं कल्पना नही कर सकता था। दर्शन-शास्त्र मे उत्पन्न होने वाले प्रश्नो मे सम्बन्धो का प्रश्न एक सर्वाधिक महत्व का प्रश्न है, क्योकि अन्य अधिकाश प्रश्न उसी पर निर्भर करते हैं एकवाद और अनेकवाद का प्रश्न, यह प्रश्न कि क्या सम्पूर्ण सत्य के अतिरिक्त कोई वस्तु पूर्णत सत्य होती है, अथवा सम्पूर्ण तत्त्व के अतिरिक्त कोई वस्तु पूर्णत तात्त्विक होती है, कुछ रूपो मे प्रत्ययवाद और यथार्थवाद का प्रश्न, कदाचित विज्ञान से पृथक एव अपनी विशिष्ट पद्धति से युक्त एक विषय के रूप मे स्वय दर्शन-शास्त्र का प्रश्न। यदि ब्रे डले के "एसेज़ ऑन ट्रुथ एण्ड रीयेलिटी" से मैं एक उद्धरण लू तो मेरे अर्थ को स्पष्ट करने मे सहायता मिलेगी, इसलिये नही कि मुझे उस पर कोई विवाद करना है, वरन् इसलिये कि वह ठीक उसी प्रश्न को उठाता है जिसे उठाना आवश्यक है। किन्तु सर्व प्रथम मैं बिना किसी तर्क के मेरे अपने अभिमत के प्रकथन का प्रयास करूँगा।[२]

इस एक प्रश्न पर पाँच वर्ष के चिन्तन के पश्चात् कुछ व्याघातो—उन व्याघातो मे सरलतम एव प्राचीनतम व्याघात क्रीट निवासी एपिमेनीडीज़ के सम्बन्ध मे है, जिसने कहा था कि सब क्रीटनिवासी असत्यभाषी हैं जिसे "मैं असत्य बोल रहा हूँ" कथन करने वाले व्यक्ति पर घटित किया जा सकता है—से मुझे निश्चय हो गया कि रूपो के सिद्धान्त के बिना कोई भी हल प्राविधिक दृष्टि से सम्भव नही है। अपने प्राविधिक रूप मे उक्त सिद्धान्त केवल यह प्रकथन करता है कि एक शब्द या प्रतीक किसी सार्थक तर्क-वाक्य का अग हो सकता है, तथा इस दृष्टि से अर्थपूर्ण हो सकता है, किन्तु साथ ही वह हमेशा उसी तर्क-वाक्य अथवा किसी अन्य तर्क-वाक्य मे किसी अन्य शब्द अथवा प्रतीक का स्थान निरर्थकता उत्पन्न किये बिना नही ग्रहण कर सकता। "ब्रूटस ने सीज़र की हत्या की" सार्थक है, परन्तु "हत्या की ने सीज़र की हत्या की" निरर्थक है, फलत हम "हत्या की" को ब्रूटस के स्थान पर नही रख सकते, यद्यपि दोनो शब्द अर्थ पूर्ण हैं। यह विशुद्ध साधारण ज्ञान की बात है, किन्तु दुर्भाग्यवश प्राय समस्त दर्शन शास्त्र इसे भूलने के प्रयास मे निहित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित शब्द स्वरूपत इस दोष से ग्रसित हैं गुण, सम्बन्ध, जटिल, तथ्य, सत्य, असत्य, नही, असत्यभाषी, सर्वज्ञता। इन शब्दो को अर्थ प्रदान करने के लिए हमे शब्दो अथवा प्रतीको तथा जिन विभिन्न तरीको से वे सार्थक होते हैं उनके माध्यम से टेढ़ा-मेढ़ा पथ ग्रहण करना पड़ता है, और इसके अनन्तर भी हम प्राय एक अर्थ पर न पहुँच कर विभिन्न अर्थों की अनन्त श्रेणी पर पहुँचते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं शब्द सभी एक ही तार्किक रूप के होते हैं, इसलिये जब दो शब्दो के अर्थ विभिन्न रूपो के होते हैं, तब उन दो शब्दो द्वारा सूचित वस्तुओं से उनके सम्बन्ध भी विभिन्न रूपो के होते हैं। गुण-वाचक शब्द और सम्बन्ध-वाचक शब्द एक ही रूप के होते हैं, इसलिये

२ इस विषय में मैं अपने मित्र विट्गेंस्टाइन का अत्यधिक ऋणी हूँ। द्रष्टव्य उनका "ट्रैक्टेटस लॉजिकोफिलॉसॉफिकस", केगन पॉल, १९२२। मैं उनके सब सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु उनकी पुस्तक के पाठकों को उनके प्रति मेरा ऋण स्पष्ट हो जायगा।

हमारा यह कहना सार्थक है कि "गुण-वाचक शब्दों और सम्बन्ध-वाचक शब्दों के विभिन्न प्रयोग होते हैं।" किन्तु हमारा यह कहना सार्थक नहीं है कि "गुण सम्बन्ध नहीं हैं।" रूपों की हमारी परिभाषा के अनुसार, चूंकि सम्बन्ध सम्बन्ध होते हैं, इसलिये "गुण सम्बन्ध हैं" आकार के शब्द असत्य न होकर निरर्थक होने चाहिये, तथा इसी प्रकार "गुण सम्बन्ध नहीं हैं" आकार के शब्द सत्य न होकर निरर्थक होने चाहिये। फिर भी, यह कथन कि "गुण वाचक शब्द सम्बन्ध-वाचक शब्द नहीं हैं" सार्थक एवं सत्य है।

अब हम आन्तरिक और वाह्य सम्बन्धों के प्रश्न पर यह स्मरण रखते हुए विचार कर सकते हैं कि दोनों पक्षों द्वारा किये गये सामान्य निरूपण रूपों के सिद्धान्त मे असंगत हैं। मैं वाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त के कथन के प्रयास से श्री गणेश करूँगा। यह कहना व्यर्थ है कि "पद अपने सम्बन्धों मे स्वतन्त्र होते हैं" क्योंकि "स्वतन्त्र" एक ऐसा शब्द है जिसका यहाँ कोई अर्थ नहीं है। दो घटनाएँ कारणता की दृष्टि से परस्पर स्वतन्त्र तब कही जा सकती हैं, जब कोई भी कारण-शृंखला एक घटना से दूसरी घटना तक नहीं ले जाती, ऐसा सापेक्षता के विशेष सिद्धान्त में तब घटित होता है जब घटनाओं मे दिक की दृष्टि से पृथकत्व होता है। स्पष्ट है कि "स्वतन्त्र" का यह अर्थ यहाँ विसंगत है। जब हम यह कहते हैं कि "पद अपने सम्बन्धों से स्वतन्त्र होते हैं' तब यदि हमारा अर्थ यह होता है कि 'जिन पदों मे कोई प्रदत्त सम्बन्ध है वे उस सम्बन्ध के बिना भी यथावत रहेंगे" तो यह स्पष्टतः असत्य होगा, क्योंकि वे पद जो भी हैं उनमें उक्त सम्बन्ध है, अतएव जिन पदों में उक्त सम्बन्ध नहीं है, वे भिन्न होंगे। यदि हमारा तात्पर्य यह है कि—जैसा कि वाह्य सम्बन्धों के विरोधियों की कल्पनानुसार हमारा तात्पर्य है—कि सम्बन्ध एक तीसरा पद है जो दो पदों के मध्य में स्थित है और किसी रूप में उनसे नत्थी किया हुआ है, तो यह स्पष्टतः अर्थहीन है, क्योंकि उस दशा में उक्त सम्बन्ध एक सम्बन्ध नहीं रह जाता तथा उन पदों से सम्बन्ध का नत्थी होना मात्र वस्तुतः सम्बन्धात्मक रह जाता है। दो अन्य पदों के मध्य एक तीसरे पद के रूप में सम्बन्ध की धारणा रूपों के सिद्धान्त की अवहेलना करती है, तथा उसका अत्यधिक सावधानी से परिहार करना चाहिये।

तो फिर वाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त से हमारा क्या तात्पर्य हो सकता है? हमारा तात्पर्य मुख्यतः यह है कि सामान्यतः एक सम्बन्धात्मक तर्क-वाक्य आकारतः तार्किक दृष्टि से एक अथवा अनेक उद्देश्य-विधेय तर्क-वाक्यों के समतुल्य नहीं होता। और भी अधिक यथातथ कथन इस रूप में किया जा सकता है मानलो एक सम्बन्धात्मक तर्क-वाक्यात्मक फलन "XRY" प्रदत्त है तो सामान्यतः यह सम्भव नहीं होता कि हम ऐसे a, b, z विधेयों को उपलब्ध करलें कि "XRY", X और Y के समस्त मूल्यों के अनुसार, xa, vb, (x,y) z (जहाँ (x,y) x एवं y से निर्मित समष्टि को सूचित करता है) के अथवा इनमें से किसी एक अथवा दो के समतुल्य हो। जब मैं वाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त का दृढ़ कथन करता हूँ तो मेरा आशय केवल यही है और जब मि० ब्रैडले आन्तरिक सम्बन्धों के सिद्धान्त का दृढ़ कथन करते हैं तब स्पष्टतः वे अंशतः इसी आशय को अस्वीकृत करते हैं।

मैं "एकताओं" अथवा "सम्मिश्रों" के स्थान पर "तथ्यों" का कथन करना अधिक

समीचीन समझता हूँ। यह समझना आवश्यक है कि एक ऐसे वाक्य में किसी भी स्थान पर "तथ्य" शब्द सार्थक नहीं हो सकता जिसमें "सरल" शब्द सार्थकतः प्रयुक्त हो सके, और न तथ्य उस स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है जहाँ सरल प्रयुक्त हो सके। हमें यह नहीं कहना चाहिये कि "तथ्य सरल नहीं होते।" हम यह कह सकते हैं कि "यदि हम सार्थकता का परिरक्षण करना चाहते हैं, तो सरल के लिये प्रयुक्त प्रतीक के स्थान पर तथ्य के लिये प्रयुक्त प्रतीक प्रतिस्थापित नहीं किया जाना चाहिये।" किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उक्त वाक्य में "के लिये" शब्द का दो अवसरों पर प्रयोग विभिन्न अर्थ रखता है। यदि हमें रूपों से सम्बन्धित त्रुटियों से सुरक्षित रखने वाली भाषा की आवश्यकता है, तो एक तथ्य को सूचित करने वाला प्रतीक एक तर्क-वाक्य होना चाहिये, न कि एक शब्द अथवा अक्षर। तथ्यों का स्वीकरण अथवा अस्वीकरण किया जा सकता है, परन्तु उनका नामकरण नहीं किया जा सकता। (जब मैं कहता हूँ कि 'तथ्यों का नामकरण नहीं किया जा सकता," तब यह कथन वस्तुतः निरर्थक है। निरर्थकता से बच कर हम यह कह सकते हैं कि 'एक तथ्य के लिये प्रयुक्त प्रतीक एक नाम नहीं होता")। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ किस प्रकार विभिन्न रूपों के लिये एक विभिन्न सम्बन्ध होता है। एक तथ्य को सूचित करने का साधन है उसका प्रकथन करना, एक सरल को सूचित करने का साधन है उसका नामकरण करना। स्पष्टतः नामकरण करना प्रकथन करने से भिन्न होता है तथा जहाँ अधिक उन्नत रूपों का उल्लेख होता है वहाँ ऐसी ही भिन्नताओं का अस्तित्व रहता है, यद्यपि भाषा के पास उक्त भिन्नताओं को अभिव्यक्त करने का कोई साधन नहीं है।

ब्रेडले द्वारा किये गए मेरे अभिमत के परीक्षण में अन्य कई प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना आवश्यक है। पर चूँकि मेरा वर्तमान उद्देश्य विवादात्मक न होकर व्याख्यात्मक है, इसलिये मैं उन प्रश्नों को छोड़ दूँगा, तथा आशा करता हूँ कि सम्बन्धों एवं सम्मिश्रों के प्रश्न पर अब तक मैं इतना यथेष्ट कह चुका हूँ कि मेरे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो गया है। रूपों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में मैं इतना और कहूँगा कि अधिकांश दार्शनिक जब-तब उसको मान कर चलते हैं, और विरले ही उसका निषेध करते हैं, परन्तु सभी (जहाँ तक मुझे विदित है) उसका यथातथ निरूपण करने अथवा उससे वे परिणाम निकालने की आनाकानी करते हैं जो उनके दर्शन-तन्त्रों के लिये असुविधाजनक हैं।

अब मैं ब्रेडले की कतिपय आलोचनाओं पर आता हूँ (वही, पृ० २८० और आगे)। वे कहते हैं

'रसल की मुख्य स्थिति मेरे लिये अगम्य रही है। मैं एक ओर तो यह सोचने को प्रवृत्त होता हूँ कि वे एक ऐसे दृढ़ अनेकवाद की प्रतिरक्षा करते हैं जिसे सरल पदों एवं बाह्य सम्बन्धों से परे कुछ भी मान्य नहीं है। दूसरी ओर रसल ऐसे विचारों का बलपूर्वक कथन एवं निरन्तर प्रयोग करते हुए प्रतीत होते हैं जिनका उक्त अनेकवाद द्वारा अवश्य ही प्रत्याख्यान किया जाना चाहिये। वे निरन्तर ऐसी एकताओं पर अवलम्बित रहते हैं जो सम्मिश्र हैं तथा जिनका पदों एवं सम्बन्धों में विश्लेषण नहीं किया जा सकता। मेरे विचार से इन दो स्थितियों का साम-

जस्य नही किया जा सकता, क्योंकि मेरी समझ मे दूसरी पहली का स्पष्ट व्याघात करती है।"

बाह्य सम्बन्धो के सम्बन्ध मे मेरा अभिमत वही है जिसका मैंने अभी कथन किया है, न कि वह जिसे प्रतिपक्षियो ने मुझ पर थोपा है। किन्तु जहाँ तक एकताओं का प्रश्न है, वह अधिक जटिल है। यह एक ऐसा विषय है जिसका निरूपण करने मे भाषा स्वरूपत असमर्थ है। अत मुझे पाठक से निवेदन करना पड़ेगा कि यदि जो मैं कहता हूँ वह मेरे आशय के यथातथ अनुरूप न हो, तो वह मुझे क्षमा कर देगा, और स्पष्ट अभिव्यक्ति मे अपरिहार्य भाषाजन्य बाधाओं के अनन्तर भी मेरे आशय को समझने का प्रयत्न करेगा।

प्रारभ मे मैं यह कहूँगा कि मैं सम्मिश्रो अथवा एकताओ मे उसी अर्थ मे विश्वास नही करता जिस अर्थ मे सरल होते हैं। जब मैंने "दी प्रिंसिपल्स ऑफ मेथेमेटिक्स" को लिखा था तब मेरी ऐसी धारणा अवश्य थी, किन्तु रूपो के सिद्धान्त के कारण मैंने तब से उक्त मत का परित्याग कर दिया है। मोटे रूप मे मैं सरलो और सम्मिश्रो को सदा भिन्न-भिन्न रूपो के मानता हूँ। तात्पर्य यह है कि "सरल होते हैं" तथा "सम्मिश्र होते है" कथनो मे "होते हैं" शब्दो का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों मे होता है। यदि मैं "होते हैं" शब्दो का उसी अर्थ से प्रयोग करता हूँ जो अर्थ उनका "सरल होते हैं" कथन मे है, तो "सम्मिश्र नही होते हैं" शब्दो का आकार न तो सत्य है और न असत्य है, वरन् निरर्थक है। इससे प्रदर्शित होता है कि सम्मिश्रो के सम्बन्ध मे जो मैं कहना चाहता हूँ उसे साधारण भाषा मे स्पष्टत कहना कितना कठिन है। जो मैं कहना चाहता हूँ उसे गणितीय तर्क-शास्त्र की भाषा मे कहना अधिक सुगम है, परन्तु जब मैं अपने आशय का कथन करता हूँ तब उसे समझने के लिये लोगो को प्रेरित करना कठिन हो जाता है।

जब मैं "सरलो' का कथन करता हूँ तब मेरे लिये यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैं किसी ऐसी सत्ता का कथन करता हूँ जिसका उस रूप मे अनुभव नही किया जाता, वरन् जो विश्लेषण की सीमा के रूप मे केवल अनुमान द्वारा ज्ञात की जाती है। सम्भव है कि अधिक तार्किक कौशल से उक्त सत्ताओ को मानने की आवश्यकता का परिहार किया जा सके। एक तार्किक भाषा त्रुटि उत्पन्न नही करेगी यदि उसके सभी सरल प्रतीक (अर्थात् वे प्रतीक जिनके किसी अश मे प्रतीक अथवा कोई सार्थक सरचना नही होती) किसी एक ही रूप के विषयो को सूचित करें, फिर वे विषय चाहे सरल न भी हों। ऐसी भाषा मे एकमात्र दोष यही है कि जिन विषयो को वह अपने सरल प्रतीको द्वारा सूचित करती है उनसे अधिक सरल विषयो को सूचित करने मे वह असमर्थ होती है। किन्तु मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है (जैसा कि लाईबनीज को था) कि एक सम्मिश्र सरलो से निर्मित होना चाहिये, यद्यपि उसके सघटकों की सख्या अनन्त हो सकती है। यह स्पष्ट है कि द्रव्य के पुरातन प्रत्यय के तार्किक प्रयोग (अर्थात वे प्रयोग जिनमे कालिक अवधि निहित नही होती) यदि प्रयोजित किये जा सकते हैं, तो केवल सरलोपर ही किये जा सकते हैं, अन्य रूपो के विषय उस प्रकार का अस्तित्व नही रखते जैसा हम द्रव्य मे सम्बद्ध करते हैं। प्रतीकात्मक दृष्टि से एक द्रव्य का सार यही है कि उसका नामकरण किया जा सकता है—पुरातन भाषा में यह कहेंगे

कि वह एक तर्क वाक्य में उद्देश्य के रूप मे अथवा किसी एक सम्बन्ध के एक पद के रूप मे घटित हो सकता है, अन्यथा कभी नही। यदि जिसे हम सरल समझते है वह वस्तुत सम्मिश्र होता है तो उसका नामकरण करके हम कठिनाई मे पड सकते हैं, क्योंकि उचित यह है कि हम उसका स्वीकरण करें। उदाहरणार्थ, यदि प्लेटो अरस्तू से प्रेम करता है, तो "सुकरात के प्रति प्लेटो का प्रेम" कोई एक सत्ता नही होता, वरन् केवल यह तथ्य होता है कि प्लेटो सुकरात से प्रेम करता है। और उसका 'एक तथ्य' के रूप मे कथन करके ही हम उसे अनधिकृत रूप से अधिक द्रव्यात्मक और अधिक एकात्मक बना देते हैं।

गुण और सम्बन्ध यद्यपि विश्लेषण के अभाव अवश्य नही है तथापि वे द्रव्यो से इस बात में भिन्न हैं कि उनके द्वारा एक सरचना का सकेत होता है, तथा ऐसा कोई सार्थक प्रतीक नही हो सकता जो उनका पृथकत्व मे सकेत करे। वे सब तर्क-वाक्य जिनमे एक गुण अथवा सम्बन्ध उद्देश्य का आभास देता है तभी सार्थक होते हैं जब उन्हे एक ऐसा आकार प्रदान किया जा सके जिसमें गुण गुणीकृत किया जाता है अथवा सम्बन्ध सम्बन्धित करता है। यदि ऐसा नही होता, तो ऐसे सार्थक तर्क-वाक्य सम्भव हो जायेंगे जिनमे एक गुण अथवा एक सम्बन्ध एक द्रव्य का स्थान ग्रहण कर लेगा, जो रूपो के सिद्धान्त के विपरीत होगा, तथा व्याघातो की उत्पत्ति करेगा। इस प्रकार पीला' के उपयुक्त प्रतीक (उदाहरण के लिये यह मान लिया जाता है यह एक गुण है), एकाकी शब्द 'पीला' नही होता, वरन् तर्कवाक्यात्मक फलन 'क पीला है' है, जहाँ प्रतीक की सरचना उस स्थान को प्रदर्शित करती है जहाँ 'पीला' शब्द सार्थक बनने के लिये स्थित रहना चाहिये। इसी प्रकार 'पूर्वगामी' सम्बन्ध इस एक शब्द से सूचित नही होता, वरन् 'क ख का पूर्वगामी है' प्रतीक से सूचित होता है, जो उक्त शब्द के सार्थक प्रयोग को प्रदर्शित करता है। (यहाँ मान्यता यह है कि जब हम स्वय गुण अथवा सम्बन्ध का कथन करते हैं तब क और ख के लिये कोई मूल्य नियत नही किये जाते हैं।)

सरलतम प्रकार के तथ्य के लिये प्रतीक 'क पीला है" अथवा 'क ख का पूर्वगामी है" के आकार का ही होगा, अन्तर केवल इतना ही है कि 'क' और 'ख' अब अनिर्धारित परिवर्त्य नही रहेगे, वरन् नाम होंगे।

जिस शुद्ध तार्किक भाषा का मैं वर्णन करने का प्रयास कर रहा हूँ उसके वास्तविक सृजन के लिये इस तथ्य के अतिरिक्त कि हम सरलो का यथातथ अनुभव नहीं कर पाते, एक अन्य बाधा भी है। यह बाधा है अस्पष्टता। हमारे सभी शब्द अस्पष्टता द्वारा न्यूनाधिक दूषित होते हैं, और अस्पष्टता से मेरा तात्पर्य यह है कि यह सदा स्पष्ट नहीं होता कि वे एक प्रदत्त विषय पर लागू होते हैं अथवा नही। शब्द स्वरूपत न्यूनाधिक सामान्य होते हैं तथा किसी एकाकी विशेष पर लागू नही होते, परन्तु उससे वे अस्पष्ट नही बनेंगे यदि जिन विशेषो पर वे लागू होते हैं वे एक निश्चित समूह हो। परन्तु व्यवहार मे ऐसा कभी नही होता। पर यह एक ऐसा दोष है जिसका कल्पना में निवारण करना सुगम है, यद्यपि वास्तव में ऐसा करना कितना ही कठिन क्यो न हो।

एक आदर्श तार्किक भाषा (जो निश्चय ही दैनिक जीवन के लिए पूर्णत अनुपयोगी रहेगी) के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवेचन का द्विविध उद्देश्य है प्रथमत, भाषा के स्वरूप से जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध मे अनुमानो को प्रतिबन्धित करना जो भाषा के तार्किक दोषो पर आधारित होने के कारण दोषपूर्ण होते हैं, द्वितीयत, व्याघातो के निवारणाय भाषा से तर्क-शास्त्र जो अपेक्षा रखता है उसकी छान-बीन के आधार पर यह निर्देश करना कि हम औचित्य से जगत् की सरचना किस प्रकार मान सकते है। यदि मैं सही हूँ तो तर्क-शास्त्र मे ऐसा कोई तत्त्व नही हैं जो हमे एकवाद और अनेकवाद, अथवा अन्तिम सम्बन्धात्मक तथ्यो के अस्तित्व को मानने वाले और न मानने वाले मन की पारस्परिक सत्यता का निर्णय करने मे सहायता दे सके। अनेकवाद एव सम्बन्धो के पक्ष मे स्वय मेरा निर्णय आनुभविक आधार पर इस निश्चय के पश्चात् लिया गया है कि तद्विरोधी प्रागनुभविक युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं। किन्तु मैं यह नही सोचता कि इन युक्तियो का युक्तियुक्त खण्डन तार्किक रूपो के पूर्ण निरूपण के बिना किया जा सकता है, जिसका उपर्युक्त विवरण एक रूप-रेखा मात्र है।

अब मैं पद्धति के प्रश्न पर आता हूँ जिसे मैं बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ। दर्शन-शास्त्र के प्रदत्त हम किसको मानें? हम किस विषय को सत्य होने की अधिकतम सम्भावना से युक्त मानेंगे, तथा अन्य प्रमाणो के प्रतिकूल होने की दशा मे किस विषय को अस्वीकार के योग्य मानेंगे? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक प्रतिपादित किसी भी दर्शन की तुलना मे विज्ञान मे मुख्यत सत्यता की अधिक सम्भावना है (निश्चय ही, मैं यहाँ अपने दर्शन को अपवाद नही समझता)। विज्ञान मे अनेक ऐसे विषय हैं जिन पर लोगो की सहमति है, दर्शन मे ऐसे कोई विषय नही हैं। इसलिए, यद्यपि विज्ञान मे प्रत्येक तर्कवाक्य असत्य हो सकता है, और यह लगभग निश्चित है कि कुछ तर्क-वाक्य असत्य हैं, तथापि हमारी बुद्धिमत्ता इसी मे है कि हम अपने दर्शन का निर्माण विज्ञान के आधार पर करें, क्योकि विज्ञान की तुलना मे दर्शन मे त्रुटि का जोखिम अवश्य ही अधिक है। यदि हम दर्शन मे निश्चयात्मकता की आशा कर सकते तो बात कुछ अन्यथा होती, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, ऐसी आशा एक असम्भव कल्पना होगी।

निश्चय ही जिन दार्शनिको के सिद्धान्त स्पष्टत विज्ञान के प्रतिकूल जाते हैं, वे सदा विज्ञान की व्याख्या इस प्रकार से करने का दावा करते हैं कि वह अपने स्तर पर सत्यता की उस गौण मात्रा सहित सत्य बना रहे जिससे बिचारे वैज्ञानिक को सतुष्ट रहना चाहिये। जो इस प्रकार की स्थिति का समर्थन करते हैं वे, मेरी समझ मे, विस्तार-पूर्वक यह बताने को बाध्य है कि उक्त व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिये। मुझे विश्वास है कि अनेक उदाहरणो मे ऐसी व्याख्या सर्वथा असम्भव होगी। उदाहरणार्थ, मैं यह विश्वास नही करता कि सम्बन्धो की सत्ता (ऊपर की गई व्याख्या के अर्थ मे) मे अविश्वास करने वाले दार्शनिक सम्भवत विज्ञान के उन अनेक अशो की व्याख्या कर सकते हैं जो असममित सम्बन्धो का प्रयोग करते हैं। यदि सम्बन्धो के विरुद्ध (उदाहरणार्थ) ब्रेडले द्वारा उठाई गई आपत्तियो का कोई उपाय मुझे न भी सूझे, तो भी मैं उनका कोई उत्तर सम्भव नही है यह मानने को

अपेक्षा उनका कोई न कोई उत्तर सम्भव है यह मानना अधिक सम्भावना-पूर्ण मानूँगा, क्योंकि मेरे विचार मे विज्ञान की ऐसी मूलभूत असत्यता की तुलना मे एक अति सूक्ष्म एव अमूर्त युक्ति मे त्रुटि होने की सम्भावना अधिक है। यह स्वीकार करने पर भी कि जिन वस्तुओ के ज्ञान मे हमे विश्वास है वे सभी सन्देहपूर्ण हैं ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शन-शास्त्र मे जिस ज्ञान का हमे विश्वास है वह विज्ञान के विवरणो से अधिक सदिग्ध होता है, यद्यपि वह कदाचित् विज्ञान के अति अनियत्रित सामान्यीकरणो से अधिक सदिग्ध नही होता।

व्याख्या का प्रश्न लगभग प्रत्येक दर्शन के लिये महत्वपूर्ण होता है, तथा मुझमे यह अस्वीकार करने की प्रवृत्ति नही है कि कई वैज्ञानिक निष्कर्षो को एक सामजस्यपूर्ण दर्शन मे सगठित करने से पूर्व उनकी व्याख्या करना आवश्यक है। "सरचना बनाम अनुमान" का सूत्र भी स्वय एक व्याख्या का सूत्र है। पर मेरा विचार है कि किसी भी वैध व्याख्या द्वारा विवरणों मे परिवर्तन नही आना चाहिये, यद्यपि वह मूलभूत विचारो को एक नवीन अर्थ प्रदान कर सकती है। व्यवहार की दृष्टि से इसका तात्पर्य यह है कि 'रचना' का परिरक्षण करना अनिवार्य है। और इसकी एक कसौटी यह है कि किसी विज्ञान के सभी तर्कवाक्य बने रहने चाहिये, यद्यपि उनके पदो के नवीन अर्थ लगाये जा सकते हैं। एक अदार्शनिक स्तर का उदाहरण प्रकाश के भौतिक सिद्धान्त का हमारे रग के प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्ध का लिया जा सकता है। यह सिद्धान्त विभिन्न दृष्ट रगो के अनुरूप विभिन्न भौतिक घटनाओं की व्यवस्था करता है तथा इस प्रकार भौतिक वर्ण-क्रम की ठीक वैसी ही रचना निर्धारित करता है जैसी हम इन्द्र-धनुष का प्रत्यक्षीकरण करते समय देखे गये वर्ण-क्रम मे पाते हैं। यदि रचना का परिरक्षण नहीं हो तो हम किसी व्याख्या को वैध नहीं मान सकते। और एक एकवादी तर्कशास्त्र के द्वारा ठीक इस रचना ही का विनाश किया जाता है।

निश्चय ही मेरा यह सुझाव देने का तात्पर्य नहीं है कि विज्ञान के किसी भी क्षेत्र मे वर्तमान समय मे निरीक्षण के द्वारा जो रचना प्रकट की गई है वह ठीक वही है जो वास्तव मे अस्तित्व रखती है। इसके विपरीत यह उच्चतम अशो मे सम्भाव्य है कि वास्तविक रचना निरीक्षित रचना से अधिक सूक्ष्म हो। यह बात मनोवैज्ञानिक सामग्री पर उतनी ही लागू होती है जितनी भौतिक सामग्री पर यह इस तथ्य पर आधारित है कि जहाँ हम एक भेद (यथा दो रगो के मध्य) का प्रत्यक्षीकरण करते हैं वहाँ एक भेद होता है, किन्तु जहाँ हम एक भेद का प्रत्यक्षीकरण नहीं करते वहाँ यह निष्कर्ष नही निकलता कि एक भेद नही है। अत सभी व्याख्याओ मे हमे यह माँग करने का अधिकार है कि निरीक्षित भेदो का परिरक्षण हो तथा अनिरीक्षित भेदो के लिए व्यवस्था रक्खी जाय, यद्यपि निरीक्षित भेदो से अनुमान द्वारा सम्बन्धित अनिरीक्षित भेदो के अतिरिक्त हम पहले से यह नही बता सकते कि अनिरीक्षित भेद किस प्रकार के होंगे।

विज्ञान मे रचना ही अध्ययन का प्रमुख विषय होती है। सापेक्षता के सिद्धान्त का अधिकाश महत्व इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि उसने त्रिविमितीय दिक् और एक विमितीय काल नामक दो समुच्चयो के स्थान पर एक ही चतुर्विमितीय समुच्चय (दिक्-काल) की

प्रतिस्थापना की है। यह एक रचना-सम्बन्धी परिवर्तन है, अतएव इसके दूरगामी परिणाम होते हैं, परन्तु जिस परिवर्तन मे रचना-सम्बन्धी परिवर्तन का समावेश नही होता उसका कोई प्रभाव नही पडता। गणितीय परिभाषा एव रचना का अध्ययन ("सम्बन्ध-सख्याओ" के नाम से) "प्रिंसिपिया मेथेमेटिका" के चतुर्थ भाग के अन्तर्गत आता है।

मेरी सधारणा के अनुसार दर्शन-शास्त्र का कार्य-व्यापार प्रमुखत तार्किक विश्लेषण है, जिसके पश्चात् तार्किक सश्लेषण आना चाहिये। दर्शन-शास्त्र किसी भी विशिष्ट विज्ञान की तुलना मे विभिन्न विज्ञानो के सम्बन्धो एव उनके सम्भाव्य पारस्परिक द्वन्द्वो से अधिक सम्बन्धित होता है, विशेषत वह भौतिकी एव मनोविज्ञान अथवा मनोविज्ञान एव तर्कशास्त्र के पारस्परिक द्वन्द्वो को सहन नही कर सकता। दर्शन-शास्त्र को व्यापक होना चाहिये, तथा उसमे जगत् के सम्बन्ध मे ऐसी परिकल्पनाओ को निर्दिष्ट करने का साहस होना चाहिये जिनकी परिपुष्टि अथवा खण्डन करने की स्थिति मे विज्ञान अब तक नही है। किन्तु इनको सदा परिकल्पनाओ के रूप मे ही प्रस्तुत किया जाना चाहिये, न कि (जैसा प्राय किया जाता है) धर्म के मताग्रहो की भाँति अटल सत्यो के रूप मे। यद्यपि व्यापक रचना दर्शन-शास्त्र के कार्य-व्यापार का एक भाग है, तथापि मेरी धारणा यह नही है कि वह सबसे महत्वपूर्ण भाग है। मेरे विचार से उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग ऐसी सधारणाओ की आलोचना एव स्पष्टीकरण करने मे निहित है, जिनको मूलभूत समझ कर बिना आलोचना के स्वीकार कर लेने की आशका रहती है। उदाहरण के रूप मे मैं निम्नलिखित का उल्लेख करता हूँ मनस्, जड द्रव्य, चैतन्य, ज्ञान, अनुभव, कारणता, सकल्प, काल। मेरा विश्वास है कि ये सभी सधारणाएँ अनिश्चित एव अनुमानित हैं, मूलत अस्पष्टता से दूषित हैं, किसी भी निश्चित विज्ञान मे समाविष्ट होने के अयोग्य हैं। घटनाओ के भौतिक समुच्चयो मे ऐसी तार्किक सरचनाएँ निर्मित की जा सकती हैं जिनमे उपर्युक्त सामान्य सधारणाओं के यथेष्ट समरूप गुण हो सकते हैं, जिनके आधार पर उनके प्रचलन की व्याख्या की जा सके, किन्तु जिनमे यथेष्ट असमान गुण भी हो सकते हैं और फलत उपयुक्त सधारणाओ को मूलभूत मान लेने के कारण बहुत सी त्रुटियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

मैं जगत् की सम्भाव्य रचना की निम्नलिखित रूप-रेखा निर्दिष्ट करता हूँ, यह एक रूप-रेखा से अधिक कुछ भी नही है, तथा केवल सम्भावना के रूप मे ही प्रस्तुत की जाती है।

जगत् अनेक सत्ताओ से निर्मित है जो सख्या मे कदाचित् परिमित, कदाचित् अपरिमित हैं और एक-दूसरी से विभिन्न सम्बन्ध रखती हैं, तथा कदाचित् विभिन्न गुणो से युक्त हैं। इन सत्ताओ मे से प्रत्येक को एक "घटना" कहा जा सकता है, पुरातन भौतिकी के दृष्टिकोण से एक घटना एक लघु परिमित काल एव एक लघु परिमित परिमाण के दिक् में स्थित रहती है, परन्तु चूँकि हम एक पुरातन धारणा के दिक् एव एक पुरातन धारणा के काल को मान्यता नही देते, इसलिए उक्त कथन को उसके अकित-मूल्य के अनुसार स्वीकार नही किया जा सकता। प्रत्येक घटना अन्य निश्चित सख्यक घटनाओ से एक सम्बन्ध रखती

है जिसे "सह-उपस्थिति" कहा जा सकता है, भौतिकी दृष्टि से "सह-उपस्थित" घटनाओं का एक समूह दिक्-काल के एक लघु क्षेत्र मे स्थित रहता है। सह-उपस्थित घटनाओ के समूह का एक उदाहरण एक काल में किसी व्यक्ति के मनस् की अन्तवस्तुएँ हैं—अर्थात् उसकी समस्त सवेदनाएँ, प्रतिमाएँ, विचार आदि, जो कालिक सह-अस्तित्व रखते हैं। उसका दृष्टि-क्षेत्र एक अर्थ में दिक्कीय विस्तार रखता है, परन्तु उसे भौतिक दिक्-काल के विस्तार से सम्भ्रान्त नही करना चाहिये, उसके दृष्टि-क्षेत्र का प्रत्येक अश प्रत्येक अन्य अश से एव "उसके मनस् की तत्कालीन शेष अन्तर्वस्तुओ" से सह उपस्थिति रखता है, और सह-उपस्थित घटनाओ का एक समुदाय दिक्-काल के एक लघुतम क्षेत्र में स्थित रहता है। ऐसे समुदाय न केवल मस्तिष्को मे वरन् सभी स्थानो में विद्यमान रहते हैं। यदि एक कैमरा स्थापित किया जा सके तो, 'रिक्त आकाश" में किसी भी विन्दु पर अनेक तारो का फोटोग्राफ लिया जा सकता है, हमारा विश्वास है कि प्रकाश अपने उद्गम-स्थान और हमारे नेत्रो के मध्य मे स्थित क्षेत्रो मे से यात्रा करता है, अतएव इन क्षेत्रो में कुछ न कुछ घटित होता रहता है। यदि अनेक विभिन्न उद्गम-स्थानो से प्रकाश दिक्-काल के किसी लघुतम क्षेत्र तक पहुँचता है तो इन उद्गम-स्थानो मे से प्रत्येक के अनुरूप कम से कम एक घटना इस लघुतम प्रदेश में स्थित रहती है, तथा ये सभी घटनाएँ सह-उपस्थिति रखती हैं।

सह-उपस्थित घटनाओं के एक समूह को हम एक "लघुतम क्षेत्र' के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। हम देखते हैं कि लघुतम क्षेत्र एक चतुर्विमितीय समुच्चय का निर्माण करते हैं, तथा अल्प तार्किक कौशल द्वारा उनसे भौतिकी द्वारा अपेक्षित दिक्-काल के समुच्चय की रचना कर सकते हैं। हम यह भी देखते हैं कि अनेक विभिन्न लघुतम क्षेत्रो में प्रत्येक मे मे हम प्राय एक-एक घटना-समूह को उपलब्ध कर सकते हैं जो निकटवर्ती क्षेत्रो से उपलब्ध होने की दशा में गहरी समानता रखते हैं, तथा अन्वेषण योग्य नियमो के अनुसार क्षेत्र-क्षेत्र मे विभिन्न होते हैं। ये नियम प्रकाश, ध्वनि आदि के सचरण के नियम होते हैं। हमे यह भी विदित होता है कि दिक्-काल-गत कुछ क्षेत्रों में सवथा विलक्षण गुण होते हैं, ये वे क्षेत्र हैं जिन्हें 'जडद्रव्य' से युक्त कहा जाता है। भौतिकी के नियमों के अनुसार इन क्षेत्रो को ऐसे परिपथो अथवा नलिकाओं मे एकत्रित किया जा सकता है जो दिक्-काल की अन्य तीन विमितियों की अपेक्षा एक विमिति मे अधिक विस्तारित होते हैं। ऐसी नलिका जड-द्रव्य के एक खण्ड के "इतिहास" को निर्मित करती है, स्वय जड-द्रव्य के खण्ड की दृष्टि से जिस विमिति में वह अधिकतम विस्तारित होता है उसे "काल" कहा जा सकता है, किन्तु वह केवल उक्त जडद्रव्य खण्ड का व्यक्तिगत काल होता है, क्योंकि वह अन्य जडद्रव्य-खण्ड जिस विमिति में अधिकतम विस्तारित है उसके ठीक ठीक अनुरूप नही होता। दिक्-काल एक जड-द्रव्य-खण्ड के अन्तगत ही विलक्षण नहीं होता, वरन् वह अपने पडौसी क्षेत्र में भी विलक्षण होता है, तथा ज्यों-ज्यों दिक्-कालिक दूरी अधिक होती जाती है त्यों-त्यों वह कम विलक्षण होता जाता है इस विलक्षणता का नियम गुरुत्वाकर्षण का नियम है।

कुछ सीमा तक सभी प्रकार के जड द्रव्य, किन्तु विशेषत कुछ प्रकार के जड-द्रव्य

(अर्थात् तात्त्विकोतक) "आदतो" के निर्माण की प्रवृत्ति रखते हैं, अर्थात् वे एक प्रदत्त वातावरण मे अपनी रचना को इस रूप मे परिवर्तित कर लेते हैं कि जब भविष्य मे वे एक सम रूप वातावरण मे होते हैं तब वे एक नवीन ढग से प्रतिक्रिया करते हैं, परन्तु यदि समरूप वातावरणो की अक्सर पुनरावृत्ति होती है तो अन्त मे प्रतिक्रिया प्रथम अवसर पर की गई प्रतिक्रिया से भिन्न रहते हुए भी लगभग एक रूप हो जाती है। (जब मैं वातावरण के साथ एक जड द्रव्य की प्रतिक्रिया का कथन करता हूँ, तब मैं उसे निर्मित करने वाली सहउपस्थित घटनाओ के समूह के सघटन एव दिक्-काल गत उस परिपथ के स्वरूप का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसे साधारणत हमे उसकी गति कहना चाहिये, इनको "वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया" उस सीमा तक कहा जाता है जिस सीमा तक उनको वातावरण के लक्षणो से सह-सबधित करने वाले नियम उपलब्ध होते हैं।) आदत के आधार पर "मनस्" कही जाने वाली सत्ता की विलक्षणताओ की सरचना की जा सकती है, एक मनस् दिक्-काल के उस क्षेत्र की सहउपस्थित घटनाओ के समूहो का एक परिपथ है जहाँ ऐसा जड-द्रव्य विद्यमान हो जिसमे आदतें निर्मित करने की विशेष प्रवृत्ति होती है। जितनी अधिक मात्रा मे उक्त प्रवृत्ति विद्यमान होती है, मनस् उतना ही अधिक जटिल एव सगठित हो जाता है। इस प्रकार एक मनस् और एक मस्तिष्क वस्तुत भिन्न नही होते अपितु जब हम एक मनस् का प्रकथन करते हैं तब मुख्यत हम सम्बन्धित क्षेत्र मे सहउपस्थित घटनाओ के समूह, तथा उन अन्य घटनाओ से उनके विभिन्न सबधो का उल्लेख करते हैं जो विचाराधीन दिक्-कालिक नलिका के इतिहास की अन्य अवधियो की अश होती है, और जब हम एक मस्तिष्क का प्रकथन करते हैं तब हम सहउपस्थित घटनाओ के समूह को उसकी सम्पूर्णता मे लेते हैं, तथा सहउपस्थित घटनाओ के अन्य सम्पूर्ण समूहो से उसके बाह्य सम्बन्धो पर विचार करते हैं, एक शब्द मे, हम उक्त नलिका के आकार पर विचार करते हैं, न कि उन घटनाओ पर जिनसे उसका प्रत्येक अनु-प्रस्थ-विभाग निर्मित होता है।

हाँ, उपर्युक्त सक्षिप्त परिकल्पना को वैज्ञानिक तथ्यो से पूर्णत अनुकूल बनाने के लिये कई रूपो मे प्रवधित एव परिष्कृत करना पडेगा। उसको एक पूर्ण सिद्धात के रूप मे नही, अपितु केवल इस प्रकार के विचार के एक सुझाव के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जो सत्य हो सकता है। हाँ, अन्य ऐसी परिकल्पनाओ को सरलता से कल्पित किया जा सकता है, जो सत्य हो सकती हैं, यथा यह परिकल्पना कि मेरे इतिहास को निर्मित करने वाले घटना-समूहो की श्रेणी से बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नही है। मैं यह नही मानता कि किसी एक-मात्र सम्भाव्य परिकल्पना को उपलब्ध करने की कोई पद्धति हो सकती है, अतएव मुझे तत्त्वमीमांसा में निश्चितता अप्राप्य प्रतीत होती है। इस दृष्टि से मुझे स्वीकार करना पडता है कि अन्य अनेक दर्शन उत्कृष्ट स्थिति मे हैं, क्योकि अपने पारस्परिक मतभेदो के अनन्तर भी उनमे से प्रत्येक अपने-अपने अनन्य सत्य की निश्चितता को प्राप्त करता है।

सामान्य ज्ञान का पक्ष

ज्यॉर्ज एडवर्ड मूर

जो कुछ आगे कहा जायगा, उसमे मैंने एक एक करके केवल उन कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण बातों के कथन का प्रयास किया है जिनमे मेरी दाशनिक स्थिति दूसरे कुछ दाशनिको द्वारा अपनाई गई स्थिति से भिन्न है। यह हो सकता है कि जिन बातो के कथन करने का मुझे अवकाश मिला है, वे वास्तव में अत्यधिक महत्वपूण न हो, और सभवतया उनमें से कुछ बातें ऐसी हो जिनके बारे में किसी दाशनिक का मेरे से कभी कोई वास्तविक भेद न रहा हो। परन्तु, मेरा ऐसा विश्वास है कि (कही जाने वाली) प्रत्येक एक ऐसी बात है जिसके बारे मे बहुतो का मुझसे वास्तविक भेद रहा है, यद्यपि (अधिकाशतया) प्रत्येक एक ऐसी बात भी है जिसके बारे मे बहुतो का मुझसे सामजस्य रहा है।

१ प्रथम बात ऐसी है जिसके अन्तगत बहुत सी दूसरी बातें गर्भित हैं। और यह बात ऐसी है जिसका, सिवाय विस्तृत रूप से कह सकने के, मैं जैसा चाहता हूँ वैसा स्पष्ट कथन नहीं कर सकता। इस बात का कथन करने के लिए जिस पद्धति का मैं उपयोग करूंगा, वह यह है। मैं [१] शीपक के अन्तगत तक वाक्यो की एक बडी सूची का कथन करके प्रारम्भ करूंगा जो प्रथम दृष्टि मे ऐसे स्पष्ट सत्य प्रतीत हो सकते हैं जिनका कथन करना उचित न मालूम पडे। वे तक वाक्य वास्तव मे ऐसे तर्क वाक्यो का एक समूह है जिनमे से प्रत्येक की सत्यता का (मेरे स्वय की दृष्टि मे) मुझे सुनिश्चित ज्ञान है। तत्पश्चात्, मैं [२] शीपक के अन्तर्गत उस एक तर्क वाक्य का कथन करूंगा जो तक वाक्यों के वर्गों के सम्पूण समूह का कथन करेगा। प्रत्येक वग की परिभाषा इस प्रकार है — वग वह है जिसमे वे सब तर्क वाक्य सम्मिलित हैं जो [१] में व्यक्त तक वाक्यो मे से किसी एक के किसी एक दृष्टि से समान हैं। अत [२] एक ऐसा तर्क वाक्य है जिसका तब तक कथन नही किया जा सकता जब तक [१] मे व्यक्त तक वाक्यों की सूची अथवा उसी प्रकार की कोई और सूची न दे दी गई हो। [२] स्वय एक तक वाक्य है जो एक ऐसा स्पष्ट सत्य प्रतीत हो सकता है जिसका कथन उचित न मालूम पडे। और यह भी (मेरी स्वय की दृष्टि में) एक ऐसा तक वाक्य है जिसकी सत्यता का मुझे सुनिश्चित ज्ञान है। परन्तु, फिर भी मेरा विश्वास है कि यह एक ऐसा तक वाक्य है जिसके बारे मे बहुत से दाशनिको का भिन्न-भिन्न कारणों से मुझ से भेद रहा है। यद्यपि उन्होंने सीधे रूप मे स्वय [२] को अस्वीकार नहीं किया है तो भी उन्होंने जो विचार अपनाये हैं वे इससे असगत हैं। अत मेरी पहली बात यह कही जा सकती है कि [२], अपने सब अभिप्रायो सहित,

जिनमे से कुछ को मैं स्पष्टतया व्यक्त करूँगा, सत्य है।

[१] मैं अब सत्यों की अपनी सूची से प्रारम्भ करता हूँ, उनमे से प्रत्येक की सत्यता का (मेरी स्वय की दृष्टि मे) मुझे सुनिश्चित ज्ञान है। इस सूचि मे जिन तर्क वाक्यों का समावेश करना है वे निम्नलिखित हैं

वर्तमान मे एक जीवित मनुष्य शरीर का अस्तित्व है और यह मेरा शरीर है। इस शरीर की उत्पत्ति किसी समय मे भूतकाल मे हुई थी। और उस समय से अब तक लगातार इसका अस्तित्व रहा है, यद्यपि इसका अस्तित्व बिना परिवर्तनो के नही रहा है। उदाहरणार्थ उत्पत्ति के समय और उसके कुछ समय पश्चात् यह वर्तमान समय से बहुत छोटा था। उत्पत्ति के समय से यह या तो पृथ्वी की सतह के ससर्ग मे रहा है या पृथ्वी की सतह से अधिक दूर नही रहा है, और इसके उत्पन्न होने के प्रत्येक क्षण से उन दूसरी वस्तुओ का भी अस्तित्व रहा है जो तीन विस्तारो मे आकार और माप लिये हुए है (उसी परिचित अर्थ मे जिसमे यह शरीर लिये हुए है), उन दूसरी वस्तुओ से यह विभिन्न दूरियों पर रहा है (उसी परिचित अर्थ मे जिसमें यह अब उस अगीठी कानस (मैंटल पीस) और उस पुस्तक कपाट (बुक-केस) इन दोनो से दूरी पर है, और अगीठी कानस की अपेक्षा पुस्तक कपाट से अधिक दूरी पर है,, इसी प्रकार की दूसरी वस्तुओ का भी अस्तित्व (प्राय सब अवस्थाओ मे) रहा है जिनके साथ इसका ससर्ग था, (उसी परिचित अर्थ मे जिसमे यह मेरे दायें हाथ मे पकडी हुई कलम से, और मेरे पहने हुए कपडो से सम्बन्धित है)। उन वस्तुओ मे से जिन्होंने इस अर्थ मे इसके वातावरण का निर्माण किया है (अर्थात् या तो इसके ससर्ग में रहे हैं या इससे कुछ दूरी पर रहे हैं, वह दूरी चाहे जितनी अधिक हो), इसके उत्पन्न होने के प्रत्येक क्षण से, एक बहुत बडी सख्या मे दूसरे जीवित मनुष्य शरीर रहे हैं, उनमे से प्रत्येक इस शरीर की तरह (क) किसी समय उत्पन्न हुआ है (ख) उत्पन्न होने के पश्चात् अस्तित्व में रहा है (ग) उत्पन्न होने के प्रत्येक क्षण से या तो पृथ्वी सतह के ससर्ग मे रहा है या पृथ्वी सतह से अधिक दूर नही रहा है, और इन शरीरो मे से बहुत से पहले ही मर चुके हैं और अब अस्तित्व मे नही रहे हैं। परन्तु पृथ्वी मेरे शरीर के उत्पन्न होने के बहुत वर्षों पूर्व भी अस्तित्व मे थी, और इन बहुत वर्षों मे प्रत्येक समय एक बहुत बडी सख्या मे मनुष्य शरीर भी इस पृथ्वी पर जीवित थे, और इनमे से बहुत से शरीर मेरे उत्पन्न होने से पूर्व मर चुके थे और अपना अस्तित्व खो चुके थे। अन्त मे (एक भिन्न प्रकार के तर्क वाक्यो के वर्ग की ओर यदि हम ध्यान दें) मैं एक मनुष्य हूँ, और मेरे शरीर के उत्पन्न होने के पश्चात् विभिन्न समयो मे मुझे बहुत से विभिन्न अनुभव बहुत से विभिन्न प्रकार के हुए हैं। उदाहरणार्थ, मैंने प्राय दोनो, अपने शरीर और दूसरी वस्तुओ का, जिनमे दूसरे मनुष्य शरीर भी समाविष्ट हैं, जिन्होंने इस वातावरण का निर्माण किया, प्रत्यक्ष किया है। मैंने इस प्रकार की वस्तुओं का केवल प्रत्यक्ष ही नहीं किया, वरन् उनके बारे मे तथ्यो का भी अवलोकन किया है। उदाहरणार्थ, तथ्य जिसका मैं अवलोकन कर रहा हूँ वह यह है कि वह अगीठी कानस वर्तमान मे उस पुस्तक कपाट की अपेक्षा मेरे शरीर के अधिक निकट है, मुझे दूसरे तथ्यो की भी चेतना

रही है, जिनका मैं उस समय अवलोकन नहीं कर रहा था, उदाहरणार्थ, तथ्य जिसकी मुझे अभी चेतना है वह यह है कि मेरा शरीर कल अस्तित्व-मान था और तब भी कुछ समय के लिये उस पुस्तक रूपाट की अपेक्षा उस अगीठी कानस के अधिक निकट था, मैं भविष्य के बारे मे कई आशाओ को लिये हुए हूँ, और सत्य और असत्य दोनों प्रकार के बहुत से दूसरे विश्वासो को भी, मैंने उन काल्पनिक वस्तुओ, व्यक्तियो और घटनाओं के बारे मे सोचा है, जिनकी वास्तविकता मे मैंने कभी विश्वास नही किया, मैंने स्वप्न देखे हैं और मैंने बहुत स विभिन्न प्रकार के भावो का अनुभव किया है और जैसे मेरा शरीर एक ऐसे मनुष्य का अर्थात् मेरे स्वय का शरीर रहा है जिसने अपने जीवनकाल में उपयुक्त (और अन्य) प्रकार के विभिन्न अनुभव किये है, उसी प्रकार उन दूसरे बहुत से मनुष्य शरीर के सम्बन्ध मे है जो इस पृथ्वी तल पर रहे हैं, उनमे से प्रत्येक का शरीर ऐसे भिन्न मनुष्य का शरीर रहा है जिसने अपने शरीर के जीवनकाल में उपयुक्त (और अन्य) विभिन्न प्रकार के बहुत से विभिन्न अनुभव किये हैं।

[२] मैं अब एक स्पष्ट सत्य को व्यक्त करता हूँ जिसका कथन, जैसा कि दृष्टिगोचर होगा, बिना [१] मे दिये गये स्पष्ट सत्यो की सूची के नही किया जा सकता था। मेरी दृष्टि से यह स्पष्ट सत्य भी ऐसा है जिसकी सत्यता का मुझे सुनिश्चित ज्ञान है, और यह निम्न लिखित है

बहुत अधिक (मैं 'सब' शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ) मनुष्यो के बारे मे जो एक वर्ग मे समाविष्ट है (जिसमे मैं भी सम्मिलित हूँ) (उस वर्ग की परिभाषा निम्न प्रकार से प्रस्तुत की जा सकती है मनुष्यो के वर्ग से अभिप्राय है वे मनुष्य जिनके मनुष्य शरीर हैं, जो उत्पन्न हुए थे और पृथ्वी पर कुछ समय के लिये जीवित रहे और जिन्होंने उन शरीरो के जीवन काल मे [१] मे व्यक्त प्रकारो के बहुत से विभिन्न अनुभव प्राप्त किय है), यह सत्य है कि प्रत्येक ने अपने जीवन काल में अपने आप या अपने शरीर के बारे में और [१] मे तर्क वाक्यो के लिखने के समयो से पूर्व किसी समय के बारे मे बहुधा ऐसे एक तर्क वाक्य का ज्ञान प्राप्त किया है, जिसकी सगति [१] मे व्यक्त प्रत्येक तर्क वाक्य से है। वह ज्ञान इस अर्थ मे है कि इसका कथन अपने आप या अपने शरीर के बारे में और [१] की अपेक्षा पूर्व समय के बारे मे (अर्थात् प्रत्येक दशा मे वह समय जब उसने इसे जाना) ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि [१] मे व्यक्त उस सगत तर्क वाक्य का है जो मेरे या मेरे शरीर के बारे मे और उस तर्क वाक्य के लिखने के समय के बारे मे कथन करता है।

दूसरे शब्दो मे, जो कुछ [२] शीर्षक का कथन है वह तो केवल यही है कि हमारे मे से प्रत्येक ने ('हमारे' से अभिप्राय बहुत से मनुष्यो से है जो एक वर्ग में समाविष्ट हैं और जिसकी परिभाषा ऊपर प्रस्तुत की जा चुकी है) बहुधा अपने आप या अपने शरीर के विषय मे और इसको जानने के समय के विषय मे प्रत्येक उस तथ्य का ज्ञान प्राप्त किया है, जिसे [१] शीर्षक के अन्तर्गत तर्क वाक्यो की सूची लिखने मे मैंने अपने आप या अपने शरीर के विषय मे और उस तर्क वाक्य को लिखने के समय के विषय मे प्राप्त करने का दावा किया था, अर्थात् जैसा

मुझे ज्ञात था (जब मैंने इसको लिखा) "वर्तमान मे एक जीवित मनुष्य शरीर का अस्तित्व है और यह मेरा शरीर है", उसी प्रकार हममे से प्रत्येक ने अपने आप के विषय मे और किसी दूसरे समय के विषय मे एक भिन्न किन्तु सगत तक वाक्य का वहुधा ज्ञान प्राप्त किया है, जिसको वह तव इस प्रकार उचित रूप से व्यक्त कर सकता था "वतमान मे एक मनुष्य शरीर का अस्तित्व है जो मेरा शरीर है", जैसा मुझे ज्ञान है "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य शरीर वर्तमान समय से पूव पृथ्वी पर जीवित रहे हैं" उसी प्रकार हममे से प्रत्येक को एक भिन्न किन्तु सगत तक वाक्य का वहुधा ज्ञान है और वह यह है "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य शरीर वर्तमान समय से पूर्व पृथ्वी पर जीवित रहे हैं, जैसा मुझे ज्ञान है, 'मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्यों ने वतमान समय से पूव प्रत्यक्ष किया है, स्वप्न देखा है, और महसूस किया है" उसी प्रकार हममे से प्रत्येक को एक भिन्न किन्तु सगत तर्क वाक्य का वहुधा ज्ञान है और वह यह है कि मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्यो ने वतमान समय से पूव प्रत्यक्ष किया है, स्वप्न देखा है कि और महसूस किया है, इसी प्रकार [१] शीषक के अन्तगत गिनाये गये तक वाक्यो मे से प्रत्येक के लिये उपयुक्त दृष्टि प्रस्तुत की जा सकती है।

मुझे आशा है कि [२] तक वाक्य का क्या कथन है इसको यहाँ तक समझने में कोई कठिनाई नही है। मैंने उदाहरणो द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मेरा यह कथन कि "तर्क वाक्यो की [१] मे व्यक्त तक वाक्यो मे से प्रत्येक से सगति" इससे क्या अभिप्राय है। और [२] का जो कुछ कथन है वह तो केवल यह है कि हममे से प्रत्येक को बहुधा यह ज्ञात है कि वह तक वाक्य जिसकी सगति [१] मे व्यक्त तर्क वाक्य से है, सत्य है। हाँ, प्रत्येक समय मे जब उसने एक ऐसे तक वाक्य की सत्यता का ज्ञान प्राप्त किया तो उसने एक भिन्न सगत तर्क वाक्य का ही ज्ञान प्राप्त किया।

परन्तु दो बातें ऐसी हैं जिनका, उन कुछ दार्शनिको के दृष्टिकोण से जिन्होने आग्ल भाषा का प्रयोग किया है, मेरे विचार से स्पष्ट कथन किया जाना चाहिये, यदि मुझे इस बात को बिलकुल स्पष्ट करना है कि [२] का कथन करने मे यथाथ रूप से क्या कथन कर रहा हूँ।

प्रथम बात यह है कुछ दाशनिको ने 'सत्य' शब्द का प्रयोग एक ऐसे अथ मे करना उचित सोचा प्रतीत होता है कि एक तक वाक्य जो आशिक रूप से असत्य है वह ऐसा होते हुए भी सत्य हो सकता है, और इसलिए उनमे से कुछ दाशनिक सभवतया यह कहेगे कि [१] मे गिनाये गये तक वाक्य उनकी दृष्टि मे सत्य हैं, जब कि सदैव वे विश्वास करते हैं कि ऐसा प्रत्येक तक वाक्य आशिक रूप से असत्य है। अत मैं यह बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं 'सत्य' शब्द का प्रयोग ऐसे किसी भी अथ मे नही कर रहा हूँ। मैं इसका प्रयोग ऐसे अथ मे कर रहा हूँ (और मेरे विचार से यह साधारण प्रयोग है) कि यदि एक तक वाक्य आशिक रूप मे सत्य है, तो यह परिणाम निकलता है कि यह सत्य नहीं है, यद्यपि यह आशिक रूप से सत्य हो सकता है। सक्षेप मे, मैं इस बात का समर्थन कर रहा हूँ कि [१] मे व्यक्त सब तक वाक्य, और बहुत से दूसरे तर्क वाक्य भी जो इनमें से प्रत्येक से सगति रखते हैं, पूर्णतया सत्य हैं, मैं [२] का कथन करने मे यह कथन कर रहा हूँ। और इसलिये कोई भी

दार्शनिक जो वास्तव मे इन तक वाक्यो के वर्गों मे से किसी या सब के बारे मे यह विश्वास रखता है कि प्रस्तुत वर्ग का प्रत्येक तर्क वाक्य आंशिक रूप से असत्य है, वास्तव मे मुझसे सहमत नही है और ऐसी दृष्टि अपनाये हुए हैं जो [२] से असगत है, यद्यपि वह यह कहने मे अपने आपको उचित समझे कि वह इन सब वर्गों से सम्बन्धित कुछ तर्क वाक्यो की सत्यता मे विश्वास करता है।

और द्वितीय बात यह है। कुछ दार्शनिको ने ऐसे कथनो का प्रयोग करना जैसे कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है" उचित सोचा प्रतीत होता है। इससे ऐसा लगता है कि उन्होने वही कथन किया जिसमें उन्होने सचमुच विश्वास किया, जबकि वास्तव मे उनका विश्वास यह है कि प्रत्येक तर्क वाक्य जो ऐसा कथन करने वाला साधारणतया समझा जायगा, कम से कम आंशिक रूप से असत्य है, और वास्तव मे उनका जो कुछ विश्वास है वह यह ह कि तर्क वाक्यो का कोई दूसरा समूह है जो किसी प्रकार उनसे सम्बन्धित है जिनको उपयुक्त कथन वस्तुत व्यक्त करते हैं, और जो इनके विपरीत वास्तव मे सत्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि वे दार्शनिक ऐसे कथन का प्रयोग कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है" यह व्यक्त करने के लिये नही करते कि यह कथन क्या व्यक्त करने वाला साधारणतया समझा जायगा, वरन् यह व्यक्त करने के लिये करते हैं कि कोई तर्क वाक्य जो इनसे किसी प्रकार सम्बन्धित है सत्य है, जब कि सदैव वे यह विश्वास करते हैं कि वह तर्क वाक्य जो इस कथन को व्यक्त करने वाला साधारणतया समझा जायगा, कम से कम आंशिक रूप से असत्य है। अत मैं यह बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं [१] मे प्रयुक्त कथनो का किसी सूक्ष्म अर्थ मे प्रयोग नही कर रहा था। उनमे से प्रत्यक का मैंने ठीक ठीक वही अर्थ समझा जिसको प्रत्येक पाठक ने उनको पढते समय चाहा होगा कि मैं समझूँ। और इसलिये कोई भी दार्शनिक जिसका यह मत है कि इनमे से प्रत्येक का कथन ऐसा है कि यदि इसको इसी प्रचलित अर्थ मे समझा जाय तो एक ऐसे तर्क वाक्य को व्यक्त करता है जो किसी प्रचलित भ्रम का द्योतक है, मुझ से सहमत नही है और ऐसी दृष्टि लिये हुए है जो [२] से असगत है, यद्यपि चाहे वह यह विश्वास करे कि कोई दूसरा सत्य तर्क वाक्य है जो प्रस्तुत कथन द्वारा उचित रूप से व्यक्त किया जा सकता है।

जो कुछ मैंने अभी कहा है, उसमे मैंने यह स्वीकार किया है कि ऐस कथनो का जैस कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है" एक अर्थ है जो साधारणतया प्रचलित अर्थ कहा जा सकता है। और यह, मुझे भय है, मेरी एक ऐसी मान्यता है जिसका कुछ दार्शनिक खण्डन कर सकते हैं। वे यह सोचते प्रतीत होते हैं कि यह प्रश्न, कि "क्या आप विश्वास करते हैं कि पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है' एक ऐसा स्पष्ट प्रश्न नही है जिसका 'हाँ' या ना' मे उत्तर दिया जा सके या उत्तर के रूप मे यह कहा जा सके कि "मैं कोई कथन नही कर सकता", परन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उचित रूप मे इस प्रकार कहकर उत्तर दिया जा सकता है कि "इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि आप "पृथ्वी' और "अस्तित्व" और "वर्षों' का क्या अर्थ लगाते हैं यदि आपका अर्थ

क्रमश अमुक है और अमुक है अमुक है तो मुझे उत्तर स्वीकृत है, किन्तु आपका अर्थ क्रमश अमुक है और अमुक है और अमुक है या क्रमश अमुक है और अमुक है और अमुक है या क्रमश अमुक है और अमुक है और अमुक है तो मुझे उत्तर स्वीकृत नही है या यह कम से कम अत्यन्त सदिग्ध है। मुझे यह प्रतीत होता है कि ऐसा दृष्टिकोण उतना ही गभीरता से त्रुटिपूर्ण है जितना कोई अन्य दृष्टिकोण हो। सकता है ऐसा कथन जैसे कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है" एक असदिग्ध कथन का प्रतिरूप है, जिसका अर्थ हम सब समझते हैं। कोई भी जो इसके प्रतिकूल दृष्टि अपनाता है, मेरी मान्यता है, इस प्रश्न को कि क्या हम इसका अर्थ समझते हैं (जिसको हम सब समझते हैं) दूसरे पूर्णतया भिन्न प्रश्न से कि क्या हमें इसके अर्थ का ऐसा ज्ञान है जिससे हम इसके अर्थ का एक यथार्थ विश्लेषण दे सकें, अवश्य गडबडा देता है। यह प्रश्न कि किसी भी समय (क्योंकि जैसा मैंने [२] की व्याख्या करते हुए कहा था, प्रत्येक भिन्न समय जब कथन किया जाता है तो एक भिन्न तर्क वाक्य सूचित होता है) इस तर्क वाक्य का कि "पृथ्वी बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है यथार्थ विश्लेषण क्या है, मुझे लगता है, एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है, और ऐसा प्रश्न है जिसका, जैसा मैं शीघ्र ही स्पष्ट करूँगा, उत्तर किसी को भी ज्ञात नही है। किन्तु यह विश्वास करना कि जो कुछ हम कथन से समझते हैं उसका कई अपेक्षाओं से क्या विश्लेषण है इसे हम नहीं जानते हैं पूर्णतया इस विश्वास से भिन्न है कि हम इस कथन को समझते ही नही हैं। यह स्पष्ट है कि यदि हम उस कथन को समझते ही नही तो हम यह प्रश्न भी नही उठा सकते कि जो कुछ हम उस कथन से समझते हैं उसका विश्लेषण कैसे किया जाय। अत ज्योंही हमें यह ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति जो ऐसे कथन का प्रयोग करता है इसका अपने साधारण अर्थ मे प्रयोग कर रहा है त्योंही हम उसके अर्थ को समझ जाते हैं। इसलिये यह व्याख्या करने मे कि [१] मे प्रयुक्त कथनो का (उनमें से वे ही जिनका साधारण अर्थ है, यह साधारण अर्थ स्वका नही है) मैं साधारण अर्थ मे प्रयोग कर रहा था, मैंने अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये जो कुछ आवश्यक है उसे प्रस्तुत किया है।

परन्तु अब, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि [२] को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त कथन समझे गये हैं तो, मेरा विचार है, जैसा मैंने कहा है, कि बहुत से दार्शनिकों ने वास्तव मे ऐसे विचार अपनाये हैं जो [२] से असगत हैं। और जिन दार्शनिकों ने ऐसा किया है उनको, मेरे विचार से, दो प्रमुख समुदायो मे विभाजित किया जा सकता है [क] तर्क वाक्यो के वर्गों के सम्पूर्ण समूह के बारे मे जो कुछ [२] का कथन है वह तो यह है कि हमने, हममे से प्रत्येक ने इन वर्गों मे से प्रत्येक सम्बन्धित तर्क वाक्यो की सत्यता का बहुधा ज्ञान प्राप्त किया है। और इस तर्क वाक्य से असगत विचार रखने का एक तरीका प्रस्तुत वर्गो मे से एक या अधिक के बारे मे, यह विश्वास करना है कि उस वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नही है—कि सब तर्क वाक्य कम से कम आंशिक रूप से असत्य हैं। क्योंकि इन वर्गो मे से किसी एक के भी सम्बन्ध मे, यदि उस वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नही है तो यह स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति उस वर्ग के किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता का ज्ञान

प्राप्त नहीं कर सकता और इसलिये यह स्पष्ट है कि हमको इन वर्गों मे से प्रत्येक से सम्बन्धित तक वाक्यो की सत्यता का ज्ञान नही हो सकता है। और दार्शनिको का मे-ा प्रथम समुदाय उन दार्शनिको का है जिनके विचार उपयु क्त कारण से [२] से असगति लिये हुए हैं। उन्होने, प्रस्तुत वर्गों मे से एक या अधिक के बारे मे केवल यह दृष्टि अपनाई है कि उस वग का कोई भी तक वाक्य सत्य नही है। उनमे मे कुछ ने प्रस्तुत वर्गों मे से सबके बारे मे यह दृष्टि अपनाई है, और कुछ ने केवल कुछ के बारे मे। परन्तु उन दार्शनिको ने दोनो दृष्टियो में से किसी को भी अपनाया हो, वे [२] से असगत विचार को लिये हुए हैं। [ख] दूसरी ओर कुछ दार्शनिको ने [२] मे व्यक्त वर्गों मे से किसी के बारे में यह कहने का तो साहस नही किया कि उस वग के कोई भी तक वाक्य सत्य नही हैं, परन्तु उन्होने जो कहा वह यह है कि इन वर्गों मे से कुछ ऐसे हैं जिनके बारे मे किसी भी मनुष्य ने कभी यह सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त नही किया कि प्रस्तुत वग का कोई भी तक वाक्य सत्य है अर्थात् उनका [क] समुदाय के दार्शनिको से इस बात मे गहन अन्तर है कि उनके मतानुसार इन सब वर्गों के तक वाक्य सत्य हो सकते हैं परन्तु फिर भी उनके विचार [२] से असगत हैं क्योकि वे इन वर्गों मे से कुछ के बारे मे यह स्वीकार करते हैं कि हममे से किसी ने भी कभी प्रस्तुत वग के किसी भी तक वाक्य की सत्यता का ज्ञान प्राप्त नही किया है।

[क] मैंने यह कथन किया कि कुछ दार्शनिको ने जो इस समुदाय के हैं यह स्वीकार किया है कि [२] मे व्यक्त किसी भी वग के तक वाक्य पूर्णतया सत्य नही हैं जबकि दूसरे कुछ दार्शनिको ने इसी विचार को [२] में व्यक्त वर्गों में से केवल कुछ के बारे मे स्वीकार किया है। और मेरे विचार से इस प्रकार का प्रमुख विभाजन निम्न प्रकार रहा है। [१] मे व्यक्त तक वाक्यो मे से कुछ (और इसलिये [२] मे व्यक्त सगत वर्गों के सब तक वाक्य) तक वाक्य ऐसे हैं जो सत्य नही हो सकते, यदि कुछ भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व न रहा हो और यदि वे एक दूसरे से देश सम्बन्ध न रखे हुए हो अर्थात् वे ऐसे तक वाक्य हैं जो, किसी अर्थ मे भौतिक वस्तुओं की सत्यता और देश की सत्यता को सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ यह तक वाक्य कि 'मेरा शरीर गत बहुत वर्षो से अस्तित्वमान है और उस समय के प्रत्येक क्षण से या तो पृथ्वी के ससर्ग मे रहा है या पृथ्वी से अधिक दूर नही रहा है', एक ऐसा तक वाक्य है जो भौतिक वस्तुओ की वास्तविकता (शर्त यह है कि आप 'भौतिक वस्तुएँ' पद का प्रयोग एक ऐसे अर्थ मे करें कि भौतिक वस्तुओ की वास्तविकता को अस्वीकार करना यह सूचित करे कि कोई भी तक वाक्य जिसका कथन यह है कि मनुष्य शरीरो का अस्तित्व रहा है या पृथ्वी अस्तित्व मे रही है, पूर्णतया सत्य नही है) और देश की वास्तविकता (शर्त यह है कि आप देश पद का प्रयोग एक ऐसे अर्थ मे करें कि देश की वास्तविकता को अस्वीकार करना यह सूचित करे कि कोई भी तक वाक्य जिसका कथन यह है कि कोई भी वस्तु उन्ही परिचित अर्थों मे जो [१] मे निर्दिष्ट हैं, सर्वदा दूसरी वस्तु के ससर्ग मे रही है या उससे दूर रही है, पूर्णतया सत्य नहीं है) इन दोनो को सूचित करता है। परन्तु [१] मे व्यक्त दूसरे तर्क वाक्य (और इसलिये [२] मे व्यक्त सगत वर्गो के तक वाक्य) ऐसे हैं जो (कम से कम स्पष्ट रूप से) न तो भौतिक वस्तुओ की वास्तविकता और न ही देश की वास्तविकता को सूचित

करते हैं उदाहरणार्थ, ये ऐसे तर्क वाक्य हैं कि जैसे कि 'मैंने स्वप्न देखे हैं' और 'मैंने विभिन्न समयो मे कई विभिन्न भावो का अनुभव किया है'। यह सत्य है कि इस द्वितीय वग के तर्क वाक्य एक बात अवश्य सूचित करते हैं जो प्रथम वर्ग के तक वाक्यो द्वारा भी सूचित की जाती है, (और वह बात यह है) कि काल (किसी अथ मे) वास्तविक है, और दूसरी बात भी सूचित करते हैं जो प्रथम वर्ग के तक वाक्यो द्वारा सूचित नही होती, (और वह बात यह है) कि (किसी अर्थ मे) कम से कम एक आत्मा का अस्तित्व वास्तविक है। परन्तु मेरा विचार है कि कुछ दार्शनिक हैं जो, भौतिक वस्तुओ या देश की वास्तविकता को अस्वीकार करते हुए (प्रस्तुत अर्थों मे), वह स्वीकार करने के इच्छुक हैं कि आत्माएँ और काल अभिलपित अर्थ मे वास्तविक हैं। दूसरी ओर, दूसरे दार्शनिको ने इन कथनों का प्रयोग कि काल वास्तविक नही है अपने विचारो को व्यक्त करने के लिये किया है, और कम से कम इनमे से कुछ ने, मैं सोचता हूँ इस कथन का ऐसा कुछ अभिप्राय लिया है जो [१] मे व्यक्त किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता से असगत है। उनका जो अभिप्राय है वह यह है कि प्रत्येक तक वाक्य जो "अब" या "वतमान मे" इन शब्दो के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया जाता है, उदाहरणार्थ, "मैं अब देखने और सुनने की दोनो क्रियाओं को कर रहा हूँ" या "वर्तमान मे एक जीवित मनुष्य शरीर है" या जो भूतकाल के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया जाता है, उदाहरणाथ, "भूतकाल मे मुझे बहुत से अनुभव हुए हैं या "पृथ्वी बहुत समय से अस्तित्व मे रही है", कम से कम आशिक रूप से असत्य तो है ही।

चारो कथन जिनको मैंने अभी प्रस्तुत किया है, अर्थात्, "भौतिक वस्तुएँ वास्तविक नहीं हैं", 'देश वास्तविक नही है', 'काल वास्तविक नही है', 'आत्मा वास्तविक नही है', मैं सोचता हूँ [१] मे प्रयुक्त तथ्यो के विपरीत वस्तुत सदिग्ध हैं। और यह सम्भव है कि उनमे से प्रत्येक के लिये किसी दार्शनिक ने अपने किसी ऐसे विचार के सूचनाथ प्रस्तुत कथन का प्रयोग किया हो जो [२] के साथ असगत न हो। मेरा ऐसे दार्शनिको से, यदि कोई हैं, इस समय कोई प्रयोजन नही है। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से प्रत्येक कथन का अत्यधिक स्वाभाविक और समुचित प्रयोग ऐसा है जिसके अनुसार यह अवश्य ही [२] से असगत विचार को व्यक्त करता है, और उनमे से प्रत्येक के लिये कुछ दार्शनिको ने, मैं सोचता हूँ, उपर्युक्त विचार को व्यक्त करने के अभिप्राय से प्रस्तुत कथन का वास्तव मे प्रयोग किया है। इसलिये ऐसे प्रत्येक दार्शनिक [२] से असगत विचारो को लिये हुए है।

ऐसे सब विचार, जो चाहे [१] मे व्यक्त सब तक वाक्यो से असगत है या उनमे से केवल कुछ के साथ, मुझे निश्चित रूप से बिलकुल असत्य प्रतीत होते हैं, मैं सोचता हूँ कि उनके विषय मे निम्नलिखित बातें विशेषत उल्लेखनीय हैं

[अ] यदि [२] मे व्यक्त तर्क वाक्यो के वर्गों मे से कोई भी ऐसा है कि उस वग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है तो यह परिणाम निकलता है कि कोई भी दार्शनिक कभी अस्तित्व में नही रहा है, और इसलिये ऐसे किसी वर्ग के बारे मे कोई भी व्यक्ति कभी यह विश्वास नहीं कर सकता है, कि इससे सम्बन्धित कोई भी तक वाक्य सत्य नही है। दूसरे

शब्दो मे, यह तर्क वाक्य कि इन वर्गो मे से प्रत्येक से सम्बन्धित कुछ तक वाक्य सत्य हैं, एक ऐसा तक वाक्य है जो इस विशेषता को लिये हुए है कि, यदि किसी दार्शनिक ने इसको कभी भी अस्वीकार किया है तो इससे यह परिणाम निकलता है कि उसने इसका सवथा निषेध किया है, और इसका निषेध करने मे उसने अवश्य त्रुटि की है। क्योकि जव मैं 'दाशनिकों' शब्द का प्रयोग करता हूं तो मेरा अभिप्राय जैसा कि हम सब का निश्चित रूप से केवल उन दाशनिको से है जो मनुष्य शरीर लिये हुए ऐसे मनुष्य हैं जो पृथ्वी पर रहे हैं और जिन्होने विभिन्न समयो मे बहुत से विभिन्न अनुभव किये हैं। इसलिए यदि कोई दाशनिक रहे हैं तो वे उपयुक्त वग के मनुष्य भी रहे हैं, और यदि वे उपयुक्त वग के मनुष्य भी रहे हैं तो [१] मे कथित अवशेष बातें सत्य भी अवश्य हैं। इसलिये कोई भी विचार जो इस तक वाक्य से कि बहुत से तक वाक्य जिनकी [१] मे व्यक्त तक वाक्यो मे से प्रत्येक से सगति है, सत्य हैं, असगत है, केवल इसी प्राक्कल्पना पर सत्य हो सकता है कि किसी दाशनिक ने कभी कोई ऐसा विचार नहीं अपनाया है। इसलिये यह परिणाम निकलता है कि, यह विचारने मे कि क्या उपयुक्त तक वाक्य सत्य हैं, मैं अविरुद्ध रूप से इस तथ्य को महत्व नही दे सकता कि बहुत से दाशनिको ने, जिनका मैं सम्मान करता हूं, जहाँ तक मेरा विश्वास है, उन विचारो को अपनाया है जो इससे असगत हैं और जो इसके प्रतिकूल कोई प्रभाव रखते हैं। क्योकि, यदि मुझे मालूम है कि उन्होने ऐसे विचार अपनाये हैं तो मुझे वास्तव मे ज्ञात है कि वे गलती पर हैं, और यदि मेरे इस विश्वास का कि प्रस्तुत तर्क वाक्य सत्य है कोई प्रमाण नही है तो मेरे पास उससे भी कम प्रमाण इस विश्वास का है कि उन्होंने इससे असगत विचार अपनाये हैं। क्योंकि मैं इस बात के लिये अधिक निश्चित हूँ कि वे अस्तित्वमान रहे हैं और उन्होने कुछ विचार अपनाये हैं, अर्थात् मैं इसकी अपेक्षा कि उन्होने प्रस्तुत तक वाक्य से असगत विचार अपनाये ह अधिक निश्चित हूँ कि प्रस्तुत तक वाक्य सत्य है।

[आ] यह बात अवश्य है कि उन सब दाशनिको ने जिन्होने ऐसे विचार अपनाये हैं, बार बार, अपने दाशनिक ग्रन्थो में भी उन दूसरे विचारो को व्यक्त किया है जो उनसे असगत हैं। अर्थात् कोई भी दाशनिक ऐसे विचारो को सगत रूप से नही अपना सका है। उनकी असगतता प्रथम इस बात से व्यक्त हुई कि उन्होने दूसरे दाशनिको के अस्तित्व का निर्देश किया है। दूसरे इस बात से व्यक्त हुई है कि उन्होने मनुष्य जाति के अस्तित्व का निर्देश किया है और विशेषतया इस बात से व्यक्त हुई है कि उन्होने 'हम' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ मे किया है जिस अर्थ मे मैंने पहले लगातार किया है जिस अथ मे कोई भी दाशनिक यह कथन करता है कि 'हम' ऐसा ऐसा करते हैं, उदाहरणाथ, यह कि हम कभी कभी उन तक वाक्यो का विश्वास करते हैं जो सत्य नही हैं, केवल इस बात का ही कथन नही कर रहा है कि उसने स्वय न ऐसा विश्वास किया है, वरन् इस बात का भी कथन कर रहा है कि बहुत से मनुष्यो ने जो शरीर लिये हुए हैं और पृथ्वी पर रहे हैं वैसा ही किया है। निस्सदेह बात यह है कि सब दाशनिक मनुष्यो के ऐसे वग मे सम्मिलित हैं जिसका अस्तित्व [२] के सत्य होने पर ही सभव है अर्थात् सब दाशनिक मनुष्यो के ऐसे वग मे सम्मिलित हैं जिन्होंने बहुधा उन तर्क वाक्यो का ज्ञान प्राप्त किया है जिनकी [१] मे व्यक्त प्रत्येक तक वाक्य से सगति

है। इस तर्क वाक्य से कि इन सब वर्गों के तर्क वाक्य सत्य हैं, असगत विचार रखने मे, वे उन तर्क वाक्यो से असगत विचार रखे हुए हैं जिनकी सत्यता का उन्होंने स्वय ज्ञान प्राप्त किया, और इसलिये उनसे केवल यह आशा की जाती थी कि वे ऐसे तर्क वाक्यो के बारे मे कभी अपना ज्ञान प्रदर्शित करें। विचित्र बात यह है कि दार्शनिकों ने वस्तुत उन तर्क वाक्यों को जो ऐसे तर्क वाक्यो से असगत हैं जिनकी सत्यता का उनको स्वय को ज्ञान था अपने दार्शनिक मतव्यों के भाग के रूप मे स्वीकार किया है। और फिर भी जहाँ तक मुझे विदित है ऐसा वस्तुत बहुधा हुआ है। इसलिये मेरी स्थिति इस प्रथम बात मे [क] समूह के दार्शनिको से भिन्न है, वह भिन्नता इस बात मे नही है कि मैं कोई ऐसी बात स्वीकार करता हूँ जिसको वे स्वीकार नही करते हैं वरन् वह भिन्नता केवल इस बात मे है कि मैं उन बातो को अपने दार्शनिक मतव्यों के भाग के रूप मे स्वीकार नही करता जिनको वे इस रूप मे स्वीकार करते हैं, अर्थात् मैं ऐसे तर्क वाक्यो को स्वीकार नही करता जो उन कुछ तर्क वाक्यो से असगत हैं जिनको वे और मैं समान रूप से स्वीकार करते हैं। परन्तु यह अन्तर मुझे महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

[इ] इनमे से कुछ दार्शनिकों ने, अपनी स्थिति के पक्ष मे, [१] मे व्यक्त कुछ या सब तर्क वाक्यों के बारे मे यह दिखाने के लिये तर्क प्रस्तुत किये हैं कि इस प्रकार का सभवतया कोई भी तर्क वाक्य पूर्णतया सत्य नही हो सकता। क्योकि प्रत्येक ऐसा तर्क वाक्य दो असगत तर्क वाक्यो को जन्म देता है और निस्सदेह मुझे यह स्वीकार है कि यदि [१] मे व्यक्त किसी भी तर्क वाक्य ने दो असगत तर्क वाक्यो को जन्म दिया तो यह सत्य नही हो सकता था। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मेरे पास एक पूर्णतया निर्णायक तर्क यह दिखाने के लिये है कि उनमें से कोई भी तर्क वाक्य दो असगत तर्क वाक्यो को जन्म नही देता। अर्थात् वह तर्क यह है [१] मे व्यक्त सब तर्क वाक्य सत्य हैं, कोई भी सत्य तर्क वाक्य दो असगत तर्क वाक्यो को जन्म नही देता है, अत [१] मे व्यक्त कोई भी तर्क वाक्य दो असगत तर्क वाक्यो को जन्म नही देता है।

(ई) यद्यपि, जैसा मैंने कहा है, किसी भी दार्शनिक ने, जिसने तर्क वाक्य के इन प्रकारो मे से किसी के भी बारे मे यह स्वीकार किया है कि उस प्रकार का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नही है, साथ में उन दूसरे विचारो को भी अस्वीकार नही किया है जो इस सम्बन्ध में उसके अपने विचार से असगत हैं, तथापि मेरा यह विचार नही है कि इन तर्क वाक्यो में से किसी या सबके बारे मे यह दृष्टि कि उनमे से कोई भी तर्क वाक्य सत्य नही है, अपने आप मे आत्म-विरोधी विचार है, अर्थात् यह विचार दो असगत तर्क वाक्यो का सूचक है। इसके विपरीत मुझे ऐसा बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सोचना कि "काल वास्तविक नही था", "भौतिक वस्तुएँ वास्तविक नही थी", "देश वास्तविक नहीं था", "आत्माए वास्तविक नही थीं", सभव था। और मेरे इस विचार के पक्ष मे कि उपयुक्त बातों मे से कोई भी बात जो हो सकती थी वास्तव मे नही है मेरे पास, मैं सोचता हूँ, केवल इस तर्क से अधिक उपयुक्त तर्क नहीं है कि [१] मे व्यक्त सब तर्क वाक्य वास्तव मे सत्य हैं।

[ख] यह विचार जो साधारणतया [क] की अपेक्षा अधिक सही समझा जाता है इस दोष को लिये हुए है कि, [क] के विपरीत, यह वास्तव मे आत्म-विरोधी है, अर्थात् दो परस्पर असगत तर्क वाक्यो का सूचक है ।

अधिकाश दार्शनिको का जिन्होने यह विचार अपनाया है विश्वास है कि यद्यपि हममे से प्रत्येक को उन तर्क वाक्यो का ज्ञान है जो [१] मे व्यक्त कुछ तर्क वाक्यो से सगत हैं, अर्थात् जो उन तर्क वाक्यों से सगत हैं जो केवल यह कथन करते हैं कि मैंने स्वय भूतकाल मे विभिन्न समय मे अमुक प्रकारो के अनुभव किये हैं, तथापि हममे से किसी को भी ऐसे तर्क वाक्यों का सुनिश्चित ज्ञान नहीं है, जो या तो (अ) भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व का कथन करते हैं या (आ) मेरे अतिरिक्त दूसरी आत्माओ के अस्तित्व का कथन करते हैं और इस बात का कथन करते हैं कि उन दूसरी आत्माओ ने भी अनुभव प्राप्त किये हैं । वे दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि हम वास्तव में अवश्य उपयु क्त दोनो प्रकार के तर्क वाक्यों में विश्वास करते हैं कि वे सत्य हो सकते हैं उन दार्शनिकों मे से कुछ यहाँ तक भी कहेगे कि हम उनके बारे मे यह जानते हैं कि वे अति सभाव्य हैं, परन्तु वे यह स्वीकार नही करते कि हमको उनकी सत्यता का सुनिश्चित ज्ञान है । उनमे कुछ दार्शनिको ने ऐसे विश्वासो को "साधारण ज्ञान के विश्वास" कहा है, जिसके द्वारा उन्होंने अपना यह मत व्यक्त किया है कि इस प्रकार के विश्वास मनुष्य जाति द्वारा बहुधा अपनाये गये हैं परन्तु उनका यह निर्णय है कि प्रत्येक दशा मे उपयु क्त बातो का केवल विश्वास किया जा सकता है, उनका सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता और कुछ दार्शनिकों ने इसी बात को यह कह कर व्यक्त किया है कि वे श्रद्धा की वस्तुएँ हैं, ज्ञान की नही।

उन लोगों के विषय में जिन्होंने यह उपयु क्त दृष्टिकोण अपनाया है अब एक उल्लेखनीय बात जिसको सामान्यतया, मेरे विचार से, उन्होंने उचित महत्व नहीं दिया है यह है कि प्रत्येक दशा मे, वह दार्शनिक जो इस दृष्टिकोण को अपनाता है "हमारे" विषय मे कथन कर रहा है—अर्थात् केवल अपने ही विषय में नहीं बरन् दूसरे बहुत से मनुष्यों के विषय में भी कथन कर रहा है। जब वह यह कहता है कि "किसी भी मनुष्य ने कभी दूसरे मनुष्यो के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नही किया है', तो वह यह कह रहा है कि "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य रहे हैं, और उनमें से किसी ने भी (किसी मे मैं भी सम्मिलित हूँ) कभी दूसरे मनुष्यो के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नही किया है" यदि वह यह कहता है कि "ये विश्वास तो साधारण विश्वास हैं किन्तु ये ज्ञान के विषय नही हैं तो वह यह कह रहा है के "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य रहे हैं जिन्होंने ये विश्वास किये हैं, परन्तु न तो मैंने न दूसरे किसी ने उनकी सत्यता का कभी ज्ञान प्राप्त किया है ।" दूसरे शब्दो में, वह दृढ निश्चय पूवक (यह तो) कथन करता है कि ये विश्वास साधारण विश्वास हैं पर इस बात की ओर प्राय ध्यान नही देता कि यदि वे साधारण विश्वास हैं तो वे अवश्य सत्य हैं, क्योंकि यह तर्क वाक्य कि ये साधारण विश्वास हैं ऐसा है जिससे अ और आ दोनो प्रकार के तर्क वाक्य तार्किक रूप से निकलते हैं, यह तर्क वाक्य तार्किक रूप मे इस तर्क वाक्य का सूचक है कि स्वय दार्शनिक के अतिरिक्त बहुत से मनुष्यो के

ऐसे मनुष्य शरीर रहे हैं जो पृथ्वी पर रहे हैं और जिन्होंने इस प्रकार के विश्वासो सहित अनेक अनुभव किये हैं। यही कारण है कि यह मतव्य समूह [क] के मतव्यों के विपरीत मुझे आत्म-विरोधी प्रतीत होता है। इसका [क] से अन्तर इस बात मे है कि इसका कथन सामान्यतया मनुष्य ज्ञान के विषय मे है अतएव यह बहुत से मनुष्यो के अस्तित्व का वस्तुत कथन रहा है जबकि [क] समूह के दार्शनिक अपने मतव्य का कथन करने मे ऐसा नही कर रहे हैं, वे तो केवल उन दूसरी बातो का विरोध कर रहे हैं जिनको वे स्वय अपनाये हुए हैं। यह सत्य है कि एक दार्शनिक जो यह कहता है कि "मेरे अतिरिक्त बहुत से मनुष्य अस्तित्व मे रहे हैं, और हममे से किसी ने कभी अपने अतिरिक्त किसी दूसरे मनुष्य के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नही किया है" केवल अपना विरोध कर रहा है यदि वह यह स्वीकार करता है कि "मेरे अतिरिक्त निस्सदेह बहुत से मनुष्य अस्तित्व मे रहे हैं या, दूसरे शब्दो में मुझे ज्ञान है कि मेरे अतिरिक्त दूसरे मनुष्य अस्तित्व में रहे हैं। परन्तु, मुझे लगता है, इसी प्रकार का विरोध ऐसे दार्शनिक वस्तुत सामान्य रूप से करते आ रहे हैं। वे मुझे सदा इस तथ्य को प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं कि वे इस तक वाक्य को कि ये विश्वास साधारण विश्वास हैं या इस तक वाक्य को कि वे स्वय अकेले ही मनुष्य जाति के सदस्य नहीं हैं, कोरा सत्य ही नही मानते वरन् निश्चित रूप से सत्य मानते हैं, और यह निश्चित रूप से सत्य नही हो सकता यदि कम से कम मनुष्य जाति के एक सदस्य ने अर्थात् स्वय ने उन्ही वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त न कर लिया हो जिनको वह सदस्य यह कह कर घोषित कर रहा है कि किसी भी मनुष्य ने उनका कभी ज्ञान प्राप्त नही किया है।

फिर भी, मेरा मतव्य कि मुझे [१] मे व्यक्त सब तर्क वाक्यो की सत्यता का सुनिश्चित ज्ञान है एक ऐसा मतव्य कदापि नही है जिसको इन्कार करने पर दो असगत तर्क वाक्य सूचित होते हो। यदि मुझे इन सब तक वाक्यो की सत्यता का सुनिश्चित ज्ञान है तो, मैं सोचता हूँ, यह बिल्कुल असदिग्ध है कि दूसरे मनुष्यो ने भी इनसे सगत तर्क वाक्यो का ज्ञान प्राप्त किया है अर्थात् [२] भी सत्य है, और इसकी सत्यता का मुझे ज्ञान है। परन्तु (प्रश्न यह है कि) क्या मुझे [१] मे व्यक्त तर्क वाक्यो की सत्यता का वस्तुत ज्ञान है? क्या यह सभव नही है कि मुझे उस पर केवल विश्वास ही हो? या मुझे उनके प्रति सभाव्य होने का ज्ञान हो? इस प्रश्न के उत्तर मे मुझे इससे अधिक कुछ नही कहना है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे तो उनका सुनिश्चित ज्ञान है। यह वस्तुत स्पष्ट है कि उनमें से बहुतो के विषय मे मुझे सीधा ज्ञान नही है अर्थात् मुझे उनका इसलिये ज्ञान है कि भूतकाल में मैंने उन दूसरे तक वाक्यो की सत्यता का ज्ञान प्राप्त किया है जो उनके लिये प्रमाण थे। उदाहरणार्थ, यदि मुझे इस बात का ज्ञान है कि पृथ्वी मेरे उत्पन्न होने के बहुत वर्षों पूर्व अस्तित्व मे रही थी तो मुझे इस का सुनिश्चित ज्ञान इसीलिये है कि मैंने भूतकाल में उन दूसरी वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त किया है जो इसके लिये प्रमाण थी। पर मुझे सुनिश्चित रूप से इस बात का ज्ञान नही है कि यथार्थ रूप से प्रमाण क्या था। तथापि यह बात मेरे इसके ज्ञान पर सदेह करने के लिये मुझे उपयुक्त तक प्रतीत नही होती। हम सब, मैं सोचता हूँ, इस विचित्र स्थिति मे हैं कि यद्यपि हमे बहुत सी बातो का ज्ञान है और उनके बारे मे हमे यह भी ज्ञान है कि हमारे पास उनके लिये कोई प्रमाण अवश्य रहा है, तथापि हमे यह ज्ञान नही है कि हम उनका

ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं अर्थात् हमे यह ज्ञान नही है कि प्रमाण क्या था। यदि 'हम' कोई शब्द है और यदि हमे ज्ञान है कि 'हम' कोई शब्द है, तो ऐसा अवश्य होना चाहिये क्योकि यह कि 'हम' शब्द है प्रस्तुत वस्तुओं मे से एक है और मुझे ज्ञान है कि 'हम' शब्द है अर्थात् मुझे ज्ञान है कि बहुत से दूसरे मनुष्य मनुष्य शरीरो को लिये हुए इस पृथ्वी पर रहे हैं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे सुनिश्चित ज्ञान है।

यदि मेरे दार्शनिक मतव्य की प्रथम बात को अर्थात [२] मे मेरे विश्वास को किसी ऐसे नाम से इंगित करना है जो दार्शनिको द्वारा दूसरे दार्शनिको के मतव्यों का वर्गीकरण करने में वस्तुत प्रयुक्त हुआ है तो इसको यह कह कर, मैं सोचता हूँ, व्यक्त किया जाना चाहिये कि मैं उन दार्शनिको मे से एक हूँ जिन्होने यह स्वीकार किया है कि 'जगत् के विपय मे साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' किन्ही मूलभूत विशेपताओं मे, पूर्णतया सत्य है। परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मेरे कथनानुसार बिना अपवाद के सब दार्शनिकों का इस उपर्युक्त बात को अपनाने में मुझसे सामजस्य रहा है और वास्तविक भेद, जो साधारणतया इस प्रकार व्यक्त किया जाता है केवल उन दो प्रकार के दार्शनिकों मे है जिन्होने जगत् के विपय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि मे व्यक्त इन विशेपताओ से भी असगत विचार अपनाये हैं और जिन्होंने ऐसे असगत विचार नही अपनाये हैं।

प्रस्तुत विशेपताएँ (अर्थात् [२] मे व्यक्त किसी वर्ग के तर्क वाक्य) सब ऐसी विशेपताएँ हैं जो यह विशेप गुण लिये हुए हैं कि यदि हमे ज्ञान है कि वे 'जगत् के विषय मे साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' मे व्यक्त विशेपताएँ हैं तो यह परिणाम निकलता है कि वे सत्य हैं यह स्वीकार करना आत्म विरोधी है कि हमे उन विशेपताओ के बारे मे यह ज्ञान है कि वे साधारण ज्ञान वाली दृष्टि मे व्यक्त विशेषताएँ हैं और फिर भी वे सत्य नहीं है क्योकि यह कथन कि हमे उपयुक्त बात का ज्ञान है इस कथन जैसा है कि वे विशेपताएँ सत्य हैं। और उनमे से बहुत सी विशेपताओं का यह विशेष गुण भी है कि यदि वे 'जगत् के विपय मे साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' मे व्यक्त विशेपताएँ हैं (चाहे 'हमें' इस बात का ज्ञान हो चाहे न हो) तो यह परिणाम निकलता है कि वे सत्य हैं, क्यों कि यह कथन कि 'जगत् के विपय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि है', इस कथन जैसा है कि ये सत्य हैं। दार्शनिको द्वारा प्रयुक्त यह पद "जगत् के विपय मे साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' 'या साधारण विश्वास' अत्यधिक अस्पष्ट है और मुझे यह विदित है कि ऐसे बहुत से तर्क वाक्य हो सकते हैं जो "जगत् के विपय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि" मे या साधारण विश्वासो मे व्यक्त विशेपताएँ कही जा सकती हैं, जो सत्य नहीं है और जो इसी प्रकार हेय दृष्टि से व्यक्त करने योग्य है जिस प्रकार कुछ दार्शनिक साधारण विश्वासो के सम्बन्ध मे ऐसी दृष्टि लिये हुए हैं। परन्तु उन 'साधारण विश्वासो' के प्रति हेय दृष्टि अपनाना जिनको मैंने व्यक्त किया है निस्सदेह मूढता की पराकाष्ठा है और अवश्य 'जगत् के विपय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' में बहुत बडी सख्या मे दूसरी विशेपताएँ हैं जो भी निस्सदेह सत्य हैं यदि ये उपर्युक्त विशेपताएँ सत्य हैं तो उदाहरणार्थ, इस पृथ्वी तल पर केवल मनुष्य ही नहीं रहे हैं वरन् पौधो और पशुओं की बहुत सी उपजातियाँ भी, इत्यादि इत्यादि।

उन सब बातो मे से जिनमे मेरी दार्शनिक स्थिति कुछ दूसरे दार्शनिकों द्वारा अपनाई गई स्थिति से भिन्न है द्वितीय महत्वपूर्ण बात जो मुझे प्रतीत होती है वह ऐसी है जिसको मैं निम्न प्रकार से व्यक्त करूँगा। मेरा मत यह है कि यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि (क) प्रत्येक शारीरिक तथ्य तार्किक रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है या (ख) कि प्रत्येक शारीरिक तथ्य कारण रूप से मानसिक तथ्य पर आश्रित है। इस प्रकार कहने मे अवश्य मैं यह कथन नही कर रहा हूँ कि ऐसे कोई शारीरिक तथ्य हैं जो (तार्किक और कारण रूप दोनो से) मानसिक तथ्यो से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। मेरा तो वस्तुत विश्वास है कि ऐसे शारीरिक तथ्य हैं जो मानसिक तथ्यो से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, परन्तु मेरे कथन का उद्देश्य ऐसा सिद्ध करना नही है। मैं तो केवल यही कहना चाहता हूँ कि इसके विपरीत विश्वास करने का कोई उपयुक्त हेतु नही है, इससे मेरा अभिप्राय है कि किसी भी मनुष्य को जो ऐसा शरीर लिये हुए है जो पृथ्वी पर रहा है, अपने शरीर के जीवनकाल मे इसके विपरीत विश्वास करने का कोई उपयुक्त हेतु नही है। बहुत से दार्शनिको ने, मैं सोचता हूँ, केवल यही विश्वास नही किया है कि या तो प्रत्येक शारीरिक तथ्य तार्किक रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है ("शारीरिक और मानसिक तथ्य" पदो को उसी अर्थ मे समझा जाना चाहिये जिसमे मैं उनका प्रयोग कर रहा हूँ) या प्रत्येक शारीरिक तथ्य कारण रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है या दोनो प्रकार से, वरन् यह भी विश्वास किया है कि उनके स्वय के पास ऐसे विश्वासो के लिये उपयुक्त हेतु था। अत मेरा उनसे इस सम्बन्ध मे भेद है।

"शारीरिक तथ्य" पद के प्रयोग को केवल उदाहरण देकर समझा सकता हूँ। मेरा शारीरिक तथ्यो से अभिप्राय निम्न प्रकार के सदृश तथ्यो से है "वह अंगीठी-कानस अभी पुस्तक-कपाट की अपेक्षा इस शरीर के अधिक निकट है," "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है", "चन्द्रमा गत वर्षों से सदैव सूर्य की अपेक्षा इस पृथ्वी के अधिक निकट रहा है", "वह अंगीठी-कानस हलके रग का है"। परन्तु जब मैं कहता हूँ "इन तथ्यो के सदृश", तो मेरा यह अभिप्राय किसी अपेक्षा से उनके सदृश तथ्यो से है, यह अपेक्षा क्या है मैं स्पष्ट नही कर सकता हूँ। "शारीरिक तथ्य" पद तो सामान्यतया प्रयुक्त होता है और मैं सोचता हूँ कि मैं तो इसका प्रयोग साधारण अर्थ मे ही कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी बात को स्पष्ट करने के लिये कोई परिभाषा देने की आवश्यकता नही है, क्योकि जो उदाहरण मैंने प्रस्तुत किये हैं उनमे से कुछ ऐसे है जिनके विषय मे मेरा मत है कि उनको (अर्थात् इन विशेष शारीरिक तथ्यो को) तार्किक रूप से या कारण रूप से मानसिक तथ्य पर आश्रित मानने का कोई हेतु नही है।

दूसरी ओर, 'मानसिक तथ्य', 'शारीरिक तथ्य' से अधिक असाधारण पद है, और मैं इसका प्रयोग एक विशेष सीमित अर्थ मे कर रहा हूँ, जो अर्थ सभवतया स्वाभाविक होते हुए भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। यह सही है कि दूसरे कई अर्थ हो सकते हैं जिनमे इस पद का उचित प्रयोग हो सकता है, परन्तु मेरा अभिप्राय तो सीमित अर्थ से है, और अत यह आवश्यक है कि मैं इसका स्पष्टीकरण करूँ।

सम्भवतया, मेरे विचार से, तीन विभिन्न प्रकार के 'मानसिक तथ्य' हो सकते हैं। मुझे यकीन है कि केवल प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्यों के बारे मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के तथ्य हैं, परन्तु अन्य दो प्रकारो मे से किसी भी प्रकार के तथ्य यदि हैं तो वे सीमित अर्थ मे 'मानसिक तथ्य' हैं, और अत मुझे इस बात का अवश्य स्पष्टीकरण करना चाहिये कि उन दो प्रकार के तथ्यो की प्राक्कल्पना से क्या अभिप्राय है।

[य] प्रथम प्रकार यह है मैं अभी सचेत हूँ, और साथ मे मैं अभी किसी वस्तु का अवलोकन भी कर रहा हूँ। ये दोनो तथ्य प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य हैं, और मेरे प्रथम प्रकार के तथ्य के अन्तगत केवल वे ही तथ्य हैं जो इन दो प्रकारो मे किसी एक के या दूसरे के किसी एक अपेक्षा से, सदृश हैं।

[च] यह बात कि मैं अभी सचेत हूँ विशेष व्यक्ति और विशेष समय के सम्बन्ध मे किसी अर्थ में स्पष्टतया एक तथ्य है। इसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति उस समय सचेत है। और प्रत्येक तथ्य जो इस अर्थ मे इसके सदृश है, प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य के अन्तगत गर्भित है। इस प्रकार यह तथ्य कि मैं गत दिवस भी विभिन्न समयो से सचेत था प्रथम प्रकार का तथ्य नही है परन्तु इससे यह परिणाम निकलता है कि इस प्रकार के दूसरे बहुत से तथ्य हैं (या हमे साधारणतया 'थे' शब्द का प्रयोग करना चाहिये क्योकि वतमान मे हमारा सम्बन्ध भूतकालीन समयो से है) अर्थात् ऐसे वे तथ्य ह जिनको मैं प्रत्येक प्रस्तुत समय मे उचित रूप से यह कह कर कि "मैं अभी सचेत हूँ" व्यक्त कर सकता था। कोई भी तथ्य जो व्यक्ति और समय के बारे मे इस अर्थ को लिये हुए है (चाहे व्यक्ति मैं हूँ या दूसरा, और चाहे समय भूतकाल है अथवा वतमानकाल) और जिससे यह परिणाम निकलता है कि वह व्यक्ति उस समय सचेत है, प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य के अन्तगत सम्मिलित किया जाना चाहिये और मैं ऐसे तथ्यो को [च] वग से सम्बन्धित तथ्य नाम देता हूँ।

[छ] मेरे द्वारा प्रस्तुत यह दूसरा उदाहरण कि मैं अभी किसी वस्तु का अवलोकन कर रहा हूँ, इस तथ्य से कि मैं अभी एक विशेष प्रकार से सचेत हूँ, स्पष्टतया सम्बन्धित है। इससे केवल यही परिणाम नही निकलता कि मैं अभी सचेत हूँ (क्योंकि इस तथ्य से कि मैं किसी वस्तु का अवलोकन कर रहा हूँ यह परिणाम निकलता है कि मैं सचेत हूँ यदि मैं सचेत नही होता तो किसी वस्तु का अवलोकन नही कर सकता था, यद्यपि यह सम्भव है कि मैं बिना किसी वस्तु का अवलोकन किये सचेत हो सकता था), वरन् यह भी कि विशेष प्रकार से सचेत होना भी एक तथ्य है, जिसका अभिप्राय है कि मैं उस प्रकार सचेत हूँ यह सब उसी अर्थ मे जिस अर्थ मे यह तक वाक्य (किसी विशेष वस्तु के सम्बन्ध मे) कि 'यह लाल है' इस तक वाक्य को (उसी वस्तु के सम्बन्ध मे) कि 'यह रूपवान है' जन्म देता है और यह रूपवान होने के एक विशेष प्रकार से सम्बन्धित तक वाक्य भी है, जिसका अभिप्राय है कि वह वस्तु उस प्रकार रूपवान है और किसी भी तथ्य को जो [च] वग के किसी भी तथ्य से

न्तगत सम्मिलित

किया जाना चाहिए, और उसे [छ] वर्ग का तथ्य नाम दिया जाना चाहिये। अत यह तथ्य कि मैं अभी सुन रहा हूँ इस तथ्य के कि मैं अभी अवलोकन कर रहा हूँ सदृश होने से [छ] वर्ग का तथ्य है, और अपने से तथा भूतकाल से सम्बन्धित प्रत्येक तथ्य ऐसा है, जिसे उस भूतकाल मे यह कह कर उचित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता था कि 'मैं अभी स्वप्न देख रहा हूँ', 'मैं अभी कल्पना कर रहा हूँ', 'मैं वर्तमान मे इस तथ्य से अभिज्ञ हूँ'—इत्यादि। सक्षेप मे, 'कोई भी तथ्य जो विषय व्यक्ति (स्वय अथवा अन्य)' विशेष समय (भूतकाल अथवा वर्तमान काल), और किसी विशेष प्रकार के अनुभव से ऐसा सम्बन्धित है कि उस व्यक्ति को उस समय उस विशेष प्रकार का अनुभव है, एक [छ] वर्ग का तथ्य है और केवल ऐसे तथ्य ही [छ] वर्ग के तथ्य हैं।

मेरे प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्यो मे केवल [च] और [छ] से सम्बन्धित तथ्य ही सम्मिलित हैं और वे सब तथ्य सम्मिलित हैं जो इनमे से किसी भी प्रकार के हैं।

[र] यह कि [च] और [छ] वर्गों के बहुत से तथ्य हैं मुझे पूर्णतया निश्चित प्रतीत होता है। परन्तु बहुत से दार्शनिकों ने [च] वर्ग के तथ्यो के विश्लेषण के सम्बन्ध मे एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाया प्रतीत होता है कि यदि यह विश्लेषण सत्य है तो दूसरे प्रकार के भी तथ्य होंगे जिन्हे भी मैं मानसिक तथ्य कहना चाहूँगा। मुझे जरा भी विश्वास नहीं है कि यह विश्लेषण सत्य है, लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सत्य हो सकता है, और क्योंकि हम इस बात को समझ सकते हैं कि यह सत्य है, ऐसा मानने से क्या अभिप्राय है, हम यह भी समझ सकते हैं कि इस दूसरे प्रकार के मानसिक तथ्य हैं, ऐसा मानने का क्या अभिप्राय है।

बहुत से दार्शनिको ने इस विश्लेषण के बारे मे कि हममे से प्रत्येक उस समय क्या जानता है जब वह यह जानता (किसी समय) है कि "मैं अभी सचेत हूँ", निम्नलिखित विचार अपनाया है। उन्होंने इस विचार को अपनाया है कि कोई एक आन्तरिक गुण है (जिससे हम सब परिचित हैं और जिसे 'अनुभव' का नाम दिया जा सकता है) जो ऐसा है कि किसी भी समय जब कोई मनुष्य यह जानता है कि "मैं अभी सचेत हूँ" तो वह, उस गुण के, अपने आप के, और समय के बारे मे यह जान रहा है कि अभी एक ऐसी घटना घटित हो रही है जो इस गुण सहित है (अर्थात् जो एक अनुभव है) और जो एक मेरा अनुभव है, और यह तथ्य ऐसा है जैसा वह इस वाक्य के द्वारा कि "मैं अभी सचेत हूँ" प्रकट करता है। और यदि यह विचार सत्य है तो बहुत से तथ्य होने चाहिये जिनमे से प्रत्येक तीन प्रकार का है उनमे से प्रत्येक को मुझे मानसिक तथ्य नाम देना चाहिये। अर्थात् (१) तथ्य जो किसी ऐसी घटना से सम्बन्धित है जो उपयुक्त माने गये आन्तरिक गुण सहित है और जो किसी ऐसे समय मे सम्बन्धित है कि जिसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सके कि वह घटना उस समय घटित हो रही है (२, तथ्य जो इस कल्पित आन्तरिक गुण और किसी समय से ऐसे सम्बन्धित है कि जिनके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सके कि अमुक घटना जो उस गुण सहित है उस समय घटित हो रही है और (३) तथ्य जो किसी ऐसे गुण से सम्बन्धित है

जो कल्पित आन्तरिक गुण होने का एक विशेष प्रकार है (उसी अर्थ मे जिस अर्थ मे ऊपर व्याख्या की गई है कि लाल होना रूपवान होने का एक विशेष प्रकार है) और जो किसी समय से ऐसे सम्बन्धित है कि जिसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सके कि कोई घटना जो उस विशेष गुण सहित है उस समय घटित हो रही है। अवश्य यह बात है कि उपर्युक्त प्रकार के तथ्य न केवल नहीं हैं वरन् सम्भव ही नही हो सकते हैं, यदि उससे सम्बन्धित आन्तरिक गुण न हो जिसे हममे से प्रत्येक (किसी भी अवसर पर) उपयुक्त प्रकार से परिभाषित इस कथन द्वारा कि मैं अभी सचेत हूँ प्रकट करता है, और मुझे ऐसे गुण के होने मे अत्यन्त सदेह है, दूसरे शब्दो मे, यद्यपि मुझे इन दोनो बातो का सुनिश्चित ज्ञान है कि मुझे बहुत से अनुभव हुए हैं और कि मुझे बहुत से प्रकार के अनुभव हुए हैं, तथापि मुझे इस बात मे अत्यन्त सदेह है कि प्रथम कथन से वही अभिप्राय है जो इस कथन से है कि बहुत सी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिनमे से प्रत्येक एक अनुभव थी और मेरा अनुभव थी, और मुझे इस बात मे भी अत्यन्त सदेह है कि द्वितीय कथन से वही अभिप्राय है जो इस कथन से है कि बहुत सी ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनमे से प्रत्येक मेरा अनुभव थी और जिनमे, से प्रत्येक एक ऐसा भिन्न गुण लिये हुए थी जो अनुभव होने का एक विशेष प्रकार थी। यह तक वाक्य कि मुझे अनुभव हुए हैं इस तक वाक्य को आवश्यक रूप से उत्पन्न नही करता कि कुछ घटनाएँ ऐसी हुई हैं जो अनुभवात्मक थी, और मैं इस कथन से अपने आपको सन्तुष्ट नही कर सकता कि मैं उपर्युक्त कल्पित प्रकार की घटनाओ से परिचित हूँ। परन्तु फिर भी मुझे यह सम्भव प्रतीत होता है कि "मैं अभी सचेत हूँ' इसका प्रस्तुत विश्लेषण उचित है, मैं उपयुक्त प्रकार की घटनाओ से वास्तव मे परिचित हूँ, यद्यपि मुझे यह दृष्टिगोचर नही होता कि मैं परिचित हूँ। और यदि मैं परिचित हूँ तो मुझे उपयुक्त विवेचित तीन प्रकार के तथ्यो को 'मानसिक तथ्य' कहने की वाञ्छा होनी चाहिये। यह अवश्य है कि यदि उपर्युक्त अर्थ मे परिभाषित अनुभव है तो यह सम्भव होगा (जैसा बहुतो ने विचारा) कि ऐसे कोई अनुभव नही हो सकते जो किसी व्यक्ति के अनुभव न हो, और उस स्थिति मे उपयुक्त तीन प्रकारो में से कोई भी तथ्य [च] या [छ] वर्ग के किसी तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित होगा, यद्यपि आवश्यक रूप से उनसे अभिन्न नही होगा। परन्तु मुझे यह भी सम्भावना प्रतीत होती है कि यदि "अनुभव" है तो अनुभव ऐसे भी हो सकते हैं जो किसी व्यक्ति से सम्बन्धित न हो, और उस स्थिति मे, ऐसे मानसिक तथ्य होगे जो [च] या [छ] वर्ग के किसी भी तथ्य से न अभिन्न होंगे और न उनमे से किसी पर तार्किक रूप से आश्रित।

[ज] अन्त मे, कुछ दार्शनिको ने, जहाँ तक मैं विचार सका हूँ, यह स्वीकार किया है कि ऐसे तथ्य हैं या हो सकते हैं जो किसी ऐसे व्यक्ति से सम्बन्धित तथ्य हैं, जिससे यह परिणाम निकलता है कि वह सचेत है या कि किसी विशेष प्रकार से सचेत है, परन्तु जो तथ्य [च] और [छ] वर्गों के तथ्यो से इस मुख्य बात मे भिन्न हैं कि वे किसी विशेष समय मे सम्बन्धित तथ्य नहीं हैं उन्होंने इस बात की सम्भावना प्रकट की है कि एक या एक से अधिक व्यक्ति हो सकते हैं जो समयातीत सचेत हो और जो विशेष प्रकार से समयातीत सचेत हो। और दूसरो ने इस प्राक्कल्पना को विचारा है कि [र] में वर्णित आन्तरिक

गुण ऐसा हो सकता है जो केवल किसी घटना से ही सम्बंधित न हो वरन् जो एक या एक से अधिक ऐसे गुणो से भी सम्बन्धित हो जो किसी समय घटित नहीं होते हैं दूसरे शब्दो मे, यह कि एक या एक से अधिक समयातीत अनुभव हो सकते हैं जो किसी व्यक्ति के अनुभव हो या न हो। मुझे यह अत्यन्त सदिग्ध प्रतीत होता है कि उपयुक्त प्राक्कल्पनाओ मे से कोई सम्भवतया भी सत्य हो, परन्तु मैं यह सुनिश्चित रूप से नही कह सकता हूँ कि वे सम्भव ही नहीं हैं और वे यदि सम्भव हैं तो मैं 'मानसिक तथ्य की सज्ञा से निम्नलिखित पाँचों मे किसी को भी इगित कर सकता हूँ अर्थात् (१) किसी भी तथ्य को जो किसी व्यक्ति से सम्बन्धित तथ्य है और वह यह है कि वह व्यक्ति समयातीत सचेत है (२) किसी भी तथ्य को जो किसी व्यक्ति से सम्बन्धित तथ्य है और वह यह है कि वह व्यक्ति एक विशेष रीति से समयातीत सचेत है (३) किसी भी तथ्य को जो समयातीत अनुभव के अस्तित्व की स्वीकृति से सम्बन्धित है (४) किसी भी तथ्य को जो अनुभव के कल्पित आन्तरिक गुण से सम्बन्धित है, वह यह है कि किसी समयातीत वस्तु का अस्तित्व है जो उस गुण को लिये हुए है और (५) किसी भी तथ्य को जो किसी भी ऐसे गुण से सम्बन्धित तथ्य है जो इस कल्पित आन्तरिक गुण की विशेष पर्याय है, वह यह है कि समयातीत वस्तु का अस्तित्व है जो उस गुण को लिये हुए है।

मैंने तीन विभिन्न प्रकार के तथ्यो की परिभाषा प्रस्तुत की है, उनमे से प्रत्येक तथ्य ऐसा है कि यदि उस प्रकार के कोई तथ्य हो (जैसे कि प्रथम प्रकार के तथ्य निश्चित रूप से हैं) तो प्रस्तुत तथ्य मेरे अर्थ मे मानसिक तथ्य होगे, और जिस सीमित अर्थ में मैं "मानसिक तथ्यो" पद का प्रयोग कर रहा हूँ उसकी व्याख्या करने लिये मुझे केवल यह जोडना है कि मैं तथ्यों के एक चौथे वर्ग को भी यही नाम देने का इच्छुक हूँ, अर्थात् किसी भी तथ्य को जो तीन प्रकार के तथ्यो मे से किसी एक से भी सम्बन्धित तथ्य है, या उनमे समाविष्ट किसी भी प्रकार को, और मुझे यह कहना है कि प्रस्तुत प्रकार के तथ्य हैं, अर्थात् [च] वर्ग का कोई विशेष तथ्य ही केवल मेरे अर्थ मे मानसिक तथ्य नही होगा, वरन् यह सामान्य तथ्य भी कि '[च] वर्ग के तथ्य है' एक मानसिक तथ्य होगा, और उसी प्रकार दूसरों के बारे में है उदाहरणार्थ, न केवल यह तथ्य कि मैं अभी प्रत्यक्ष कर रहा हूँ (यह [छ] वर्ग का तथ्य है) एक मानसिक तथ्य होगा, वरन् यह सामान्य तथ्य भी कि व्यक्तियो और समयो से सम्बन्धित तथ्य हैं, जिसके परिणाम स्वरूप यह कहना कि प्रस्तुत व्यक्ति प्रस्तुत समय मे प्रत्यक्ष कर रहा है, एक मानसिक तथ्य होगा।

[क] यदि 'शारीरिक तथ्य' और 'मानसिक तथ्य' पदो को उपयुक्त अर्थों मे समझा जाय, तो मेरा विश्वास है कि ऐसा मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि प्रत्येक शारीरिक तथ्य किसी मानसिक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है। और मैं इन दो तथ्यो के बारे मे प१ और प२ शब्दो का प्रयोग करता हूँ "प१ तार्किक रूप मे प२ पर आश्रित है" यह केवल वहाँ ही सम्भव है जहाँ प१ प२ को उत्पन्न करता है, या तो इस अर्थ मे कि जिसमे "मैं अभी अवलोकन कर रहा हूँ" तर्क वाक्य "मैं अभी सचेत हूँ" तर्क वाक्य को उत्पन्न करता है, या

जिसमे "यह लाल है" तक वाक्य (किसी विशेष वस्तु के वारे मे) "यह रूपवान है" तक वाक्य को उत्पन्न करता है, या इस अधिक दृढ तार्किक अर्थ मे कि जिसमे (उदाहरणाथ) सयुक्त तर्क वाक्य "सव मनुष्य मरणशील हैं" और "श्री वाल्डविन एक मनुष्य है", "श्री वाल्डविन मरणशील है" तर्क वाक्य को उत्पन्न करता है तो दो तथ्यो प१ और प२ के वारे मे यह कहना कि प१ तार्किक रूप से प२ पर आश्रित नहीं है केवल यह कहने के समान है कि प१ एक तथ्य हो सकता है, यद्यपि कोई प२ तथ्य न रहा हो। या केवल यह कहने के सामान है कि सयुक्त तर्क वाक्य प१ एक तथ्य है, लेकिन प२ कोई तथ्य नहीं है "एक ऐसा तर्क वाक्य है जो आत्म विरोधी नही है, अर्थात् जो दो परस्पर असगत तर्क वाक्यो को उत्पन्न नही करता।

तो मेरा विश्वास है कि कुछ शारीरिक तथ्यो के विषय में यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि इस प्रकार का कोई मानसिक तथ्य है जैसे कि प्रस्तुत शारीरिक तथ्य सम्भव नही हो सकता था यदि प्रस्तुत मानसिक तथ्य न होता। और मेरी स्थिति पूर्णतया स्पष्ट है चूंकि मेरा विश्वास है कि उन चारो शारीरिक तथ्यो के लिये जिनके उदाहरण शारीरिक तथ्यो के रूप में मैंने दिए हैं, यह बात सत्य है। उदाहरणाथ, यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि कोई इस प्रकार का मानसिक तथ्य है जैसे कि यह तथ्य कि अगीठी-कानस वतमान मे पुस्तक कपाट की अपेक्षा मेरे शरीर के अधिक समीप है सम्भव नही हो सकता था यदि प्रस्तुत मानसिक तथ्य न होता, और इसी प्रकार, दूसरे तीन उदाहरणों के वारे मे समझना चाहिए।

इस प्रकार स्वीकार करने मे मैं निश्चित रूप से दूसरे कुछ दार्शनिको से भी भिन्न हूं। उदाहरणाथ, मैं वकले से भिन्न हूं जिसने यह विचार प्रस्तुत किया कि वह अगीठी-कानस, वह पुस्तक-कपाट और मेरा शरीर—ये सव या तो प्रत्यय हैं या प्रत्ययो द्वारा निर्मित हैं और यह कि किसी भी प्रत्यय का विना प्रत्यक्ष किये अस्तित्व सम्भव नही है। कहने का अभिप्राय यह है कि उसने स्वीकार किया कि ये उपयुक्त शारीरिक तथ्य मेरे चौथे वग के मानसिक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित हैं अर्थात् कम से कम एक तथ्य ऐसा है जो एक व्यक्ति और वतमान समय से सम्बन्धित तथ्य है, जिसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति अभी कुछ प्रत्यक्ष कर रहा है। उसके कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि यह शारीरिक तथ्य मेरे प्रथम तीन वर्गों मे से किसी एक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है, उदाहरणाथ, किसी ऐसे तथ्य पर जो विशेष व्यक्ति और वर्तमान समय से सम्बन्धित है, (उसके कहने का अभिप्राय यह भी नहीं है) कि यह व्यक्ति अभी कुछ प्रत्यक्ष कर रहा है। उसका कहने का अभिप्राय तो यह है कि शारीरिक तथ्य सम्भव ही नहीं हो सकता था, यदि ऐसा तथ्य नही होता कि इस प्रकार का कोई मानसिक तथ्य है और—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से दार्शनिक जो या तो वकले की इस मान्यता से कि मेरा शरीर एक प्रत्यय या प्रत्ययो द्वारा निर्मित है या इस मान्यता से कि प्रत्ययो का अस्तित्व विना प्रत्यक्ष किये सम्भव नही है या दोनो मान्यताओ मे सम्भवतया असहमत होते हुए भी उससे इस वात मे सहमत होंगे कि यह शारीरिक तथ्य किसी मानसिक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है। अर्थात्

वे यह कह सकते हैं कि इसका तथ्य होना सम्भव नही था यदि किसी समय मे या समयातीत रूप से कोई अनुभव नही होता। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, वास्तव मे बहुतो ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक तथ्य दूसरे प्रत्येक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है। और उन्होंने अपने विचार मे जैसे बर्कले ने अपने विचार मे, स्वीकार किया है कि उनके पास उनके लिए उपयुक्त प्रमाण है।

[ख] मेरा यह भी मत है कि यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि प्रत्यक शारीरिक तथ्य कारण रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है। इस कथन द्वारा कि प१ प२ पर कारण रूप से आश्रित है, मेरा केवल यही अभिप्राय है कि प१ तथ्य ही नही होता यदि प२ न होता मेरा यह अभिप्राय नही है कि (जैसे 'तार्किक रूप से आश्रित का" कथन है) प१ विचारात्मक रूप से तथ्य नही हो सकता यदि प२ न होता। और मैं मेरे अथ की उदाहरण द्वारा, जो मैंने अभी दिया है, व्याख्या कर सकता हूँ। यह तथ्य कि वह अगीठी-कानस वर्तमान मे पुस्तक-कपाट की अपेक्षा मेरे शरीर के अधिक समीप है, तार्किक रूप से (जैसे मैंने अभी समझाया है), जहाँ तक मैं सोचता हूँ, किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित नही है, यदि कोई भी मानसिक तथ्य न होते तो भी यह एक तथ्य होता। परन्तु यह निश्चित रूप से बहुत से मानसिक तथ्यों पर कारण रूप से आश्रित है। मेरा शरीर यहाँ नही होता यदि मैं भूतकाल मे विभिन्न तरीको से सचेत न होता और अगीठी-कानस और पुस्तक-कपाट निश्चित रूप से अस्तित्वमान नही होते, यदि अन्य व्यक्ति भी सचेत न होते।

परन्तु उन दो तथ्यो के सम्बन्ध मे जिनको मैंने शारीरिक तथ्यो के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया था, अर्थात् यह तथ्य कि पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है और यह तथ्य कि चन्द्रमा गत बहुत वर्षों से सूर्य की अपेक्षा पृथ्वी के अधिक समीप है, मेरा मत है कि यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि ये किसी मानसिक तथ्य पर कारण रूप से आश्रित हैं। जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ, इसको मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि ऐसा कोई मानसिक तथ्य है जिसके विषय मे यह सत्य रूप से कहा जा सके कि यदि यह तथ्य न होता तो पृथ्वी का गत बहुत वर्षों से अस्तित्व न होता। और इस प्रकार का मत रखने मे, मैं सोचता हूँ, फिर मेरा कुछ दार्शनिको से भेद है। उदाहरणार्थ, मेरा उन दार्शनिको से भेद है जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि सब भौतिक वस्तुएँ ईश्वर द्वारा रचित थी और उनके पास इस कल्पना के लिये उपयुक्त प्रमाण थे।

मैंने अभी इस बात की व्याख्या की है कि मेरा उन दार्शनिको से भेद है जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि यह मानने का उपयुक्त प्रमाण है कि भौतिक वस्तुएँ ईश्वर द्वारा रची गई। और मेरे विचार से मेरी स्थिति मे एक महत्वपूर्ण बात जिसे व्यक्त करना है, वह यह है कि मेरा उन सब दार्शनिको से भेद है जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि इस बात को मानने का उपयुक्त प्रमाण है कि ईश्वर का अस्तित्व है। चाहे उन्होंने इस सम्भावना को स्वीकार किया हो या नही कि ईश्वर ने सब भौतिक वस्तुओं को रचा।

और उसी प्रकार, इसके विपरीत कि कुछ दार्शनिको ने स्वीकार किया है कि यह

मानने का उपयुक्त प्रमाण है कि हम, मनुष्य मृत्यु-उपरात अस्तित्व मे और सचेत रहेगे, मेरा मत है इसको मानने का कोई उपयुक्त प्रमाण नही है।

मैं अब एक भिन्न बात की व्याख्या की ओर अग्रसर होता हूँ

जैसा कि मैंने प्रथम शीर्षक के अन्तगत बताया है, मैं ऐसे तर्क वाक्यो की जैसे "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान है", "बहुत मनुष्य शरीरी इसके ऊपर बहुत वर्षों से रह रहे हैं", अर्थात् उन तर्क वाक्यो की जो भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, सत्यता के सम्बन्ध मे बिलकुल सदिग्ध नही हूँ। इसके विपरीत मेरा मत है कि हम सब को बहुत से ऐसे तर्क वाक्यो की सत्यता का सुनिश्चित रूप से ज्ञान है। परन्तु मैं ऐसे तर्क वाक्यो के, कई दृष्टिकोणों से, उचित विश्लेषण के सम्बन्ध मे बहुत सदिग्ध हूँ और यह एक ऐसी बात है जिसके बारे मे, मैं सोचता हूँ, मेरा दूसरे बहुत से दार्शनिकों से भेद है। बहुतो का यह मत प्रतीत होता है कि उनके विश्लेषण के बारे मे तो कोई सदेह नही है, और न ही इसलिये उनके अनुसार सदेह है इस तर्क वाक्य के कि "भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व रहा है" कई अपेक्षाओ से विश्लेषण के बारे में, जिनमे मेरा मत है कि प्रस्तुत तर्क वाक्यो का विश्लेषण अति सदिग्ध है, और जैसा हमने व्यक्त किया है, कि कुछ दार्शनिक यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि उनके विश्लेषण के बारे मे कोई सदेह नही है, फिर भी उन्होने ऐसे तर्क वाक्यों की सत्यता के बारे मे सदेह किया है। मेरा इसके विपरीत मत होते हुए भी कि इसमे कोई सदेह नहीं है कि बहुत मे ऐसे तर्क वाक्य पूर्णतया सत्य हैं। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अब तक कोई दार्शनिक उनका कई मुख्य बातो के सम्बन्ध मे ऐसा विश्लेषण करने में सफल नहीं हुआ है जो निश्चित रूप से सत्य होने के बहुत निकट है।

मुझे यह बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्रश्न कि अभी मैंने जो तर्क वाक्य प्रस्तुत किये हैं, उनका विश्लेषण कैसे किया जाय, इस प्रश्न पर आश्रित है कि दूसरे और अधिक सरल तर्क वाक्यों का विश्लेषण कैसे किया जाय। वर्तमान मे मुझे ज्ञात है कि मैं एक मनुष्य के हाथ का, कलम का कागज के पन्ने इत्यादि का, प्रत्यक्ष कर रहा हूँ, और मुझे यह प्रतीत होता है कि मुझे इस बात का ज्ञान नही हो सकता कि इस तर्क वाक्य का कि भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व है किस प्रकार विश्लेषण किया जाय, जब तक मुझे इस बात का ज्ञान नही हो कि किस प्रकार इन अधिक सरल तर्क वाक्यो का कुछ-एक दृष्टिकोणो से विश्लेषण किया जाय। परन्तु ये तर्क वाक्य भी पर्याप्त रूप से सरल नही हैं। मुझे यह बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरा ज्ञान कि मैं अभी एक मनुष्य के हाथ का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ उन अधिक सरल तर्क वाक्यो के युगल से निर्गमित है जिन को मैं केवल इस रूप मे व्यक्त कर सकता हूँ "मैं इसका प्रत्यक्ष कर रहा हूँ" और "यह एक मनुष्य का हाथ है"। इन पिछले प्रकार के तर्क वाक्यों का विश्लेषण ऐसा है जो मेरे लिये उपयुक्त कठिनाइयाँ उपस्थित करता है, फिर भी भौतिक वस्तुओ की प्रकृति के सम्बन्ध मे प्रश्न उनके विश्लेषण पर स्पष्ट रूप से आश्रित है। मुझे यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि बहुत कम दार्शनिको ने, भौतिक वस्तुएँ क्या हैं इस के बारे मे और उनको प्रत्यक्ष करने मे क्या अभिप्राय है, इस बारे मे अत्यधिक रूप से कहते हुए, इस

बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि वे इस बात को जानने मे (या निर्णय करने में, जब उन्होने यह स्वीकार किया है कि हमे ऐसे किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता का ज्ञान नही है या यह भी कि ऐसा कोई तर्क वाक्य सत्य नही है) कि जब वे ऐसी बातो को जानते या उनका निर्णय करते हैं जैसे "यह एक हाथ है", "वह सूर्य है", "यह एक कुत्ता है", इत्यादि, इत्यादि, अपने आप निश्चित रूप से क्या जानने की कल्पना करते हैं।

ऐसे तर्क वाक्यो के विश्लेषण के बारे मे मुझे केवल दो बातें बिल्कुल निश्चित प्रतीत होती हैं (और उनके बारे मे भी मुझे भय है मेरा कुछ दार्शनिको से भेद है) अर्थात् जब कभी मैं जानता हूँ या निर्णय करता हूँ कि यदि ऐसा एक तर्क वाक्य सत्य है तो (१) सदैव कोई संवेद प्रदत्त होता है जिसके बारे मे प्रस्तुत तर्क वाक्य एक तर्क वाक्य है अर्थात् कोई संवेद प्रदत होता है जो प्रस्तुत तर्क वाक्य का विषय है (और किसी अर्थ मे मुख्य या अन्तिम विषय), और (२) फिर भी जो कुछ मैं इस संवेद प्रदत्त की सत्यता के बारे मे जान रहा हूँ या निर्णय कर रहा हूँ वह (सामान्यतया) यह नही है कि यह स्वय ही एक हाथ है या एक कुत्ता है या सूर्य है, इत्यादि, इत्यादि जैसा भी विषय हो।

कुछ दार्शनिको ने, मैं सोचता हूँ, यह सन्देह प्रकट किया है कि क्या ऐसी वस्तुएँ हैं जैसी दूसरे दार्शनिको ने संवेद प्रदत्तो या संवेदो से समझी है और मेरे विचार से यह बिल्कुल सम्भव है कि कुछ दार्शनिको ने (जिनमे पहिले भी मैं सम्मिलित था) इन पदो को ऐसे अर्थों मे प्रयुक्त किया है जिससे यह वस्तुत सन्देहात्मक हो जाता है कि ऐसी वस्तुएं हैं। परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि संवेद प्रदत्त, जिस अर्थ मे मैं अभी उस पद का प्रयोग कर रहा हूँ, होते हैं। मैं अभी उनकी बहुत बडी संख्या को देख रहा हूँ और दूसरो का अनुभव कर रहा हूँ। और केवल पाठक को यह बतलाने के लिए कि संवेद प्रदत्तो से किस प्रकार की वस्तुओ का मेरा अभिप्राय है, मैं केवल उससे उसके दाहिने हाथ की ओर देखने को कहूँगा। यदि वह ऐसा करता है तो वह किसी वस्तु को (और यदि वह दो वस्तुओ को नही देख रहा है तो केवल एक वस्तु को) चुन सकेगा जिसके बारे मे वह यह समझेगा कि प्रथम दृष्टि मे ऐसा स्वीकार करना स्वाभाविक है कि वह वस्तु उसके सम्पूर्ण दाहिने हाथ से वस्तुत अभिन्न नही है, वरन् इसकी सतह के उसी भाग से अभिन्न है जिसको वह वास्तव मे देख रहा है, परन्तु वह (कुछ विचार करने के पश्चात्) यह भी समझ सकेगा कि उस वस्तु का प्रस्तुत हाथ की सतह के भाग से अभिन्न हो सकना भी, संदिग्ध है। जिस प्रकार की यह वस्तु है उस प्रकार की वस्तुओ को (किसी एक दृष्टिकोण से) जिनको वह हाथ की ओर दृष्टिपात करने पर देखता है और जिनके बारे मे वह यह समझ सकता है कि किस प्रकार कुछ दार्शनिको ने इसको उसके हाथ की सतह का भाग, जिसको वह देख रहा है, मान लिया है जब कि दूसरो ने माना है कि ऐसा नही हो सकता है, मैं संवेद प्रदत्त कहता हूँ। अत मैं इस पद की परिभाषा इस प्रकार से प्रस्तुत करता हूँ कि यह एक स्पष्ट प्रश्न हो जाता है कि जिस संवेद प्रदत्त को मैं अपने हाथ की ओर दृष्टिपात करने पर अभी देखता हूँ और जो मेरे हाथ का संवेद प्रदत्त है, क्या वे इसकी सतह के उस भाग मे जिसको मैं अभी वास्तव में देख रहा हूँ,

भिन्न है, या अभिन्न।

जब मैं यह जानता हूँ कि "यह एक मनुष्य का हाथ है" तो इस सवेद प्रदत्त के विषय मे जो कुछ मैं जानता हूँ वह यह नही है कि वह (सवेद प्रदत्त) स्वय एक हाथ है। मुझे यह बात सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि मुझे विदित है कि मेरे हाथ के कई भाग हैं (उदाहरणार्थ, इसकी दूसरी तरफ का भाग, और इसके अन्दर की हड्डियाँ) जो बिल्कुल निश्चित रूप से इस सवेद प्रदत्त के भाग नही हैं।

मैं इसलिये इसे निश्चित समझता हूँ कि, "इस तर्क वाक्य का विश्लेषण कि "यह एक मनुष्य का हाथ है" कम से कम मोटे रूप से इस आकार का है "कि एक वस्तु है, और केवल एक वस्तु है, जिसके बारे मे दोनो बातें सत्य हैं कि यह एक मनुष्य का हाथ है और यह सतह इसकी सतह का एक भाग है"। दूसरे शब्दो मे यदि मैं अपने विचार को प्रतिनिध्यात्मक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत करूँ, तो मैं इस पूर्णतया स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने हाथ का प्रत्यक्ष सीधा नही करता हूँ और यह भी स्वीकार करता हूँ कि जब मुझे इसे प्रत्यक्ष करने को कहा जाता है तो जो मैं प्रत्यक्ष करता हूँ उसका अभिप्राय यह होता है कि मैं किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष करता हूँ (एक भिन्न और आधार भूत अर्थ मे) जो (एक उचित अर्थ में) इसका प्रतिनिधित्व करती है अर्थात् इसकी सतह के किसी "एक भाग" का।

जो कुछ मुझे इस तर्क वाक्य 'यह एक मनुष्य का हाथ है' के विश्लेषण के बारे मे निश्चित रूप से स्वीकार है वह यही उपरोक्त बात है। हम बतला चुके हैं कि इसके विश्लेषण के अन्तर्गत एक इस आकार का तर्क वाक्य 'यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है' समाविष्ट है (यद्यपि 'यह' शब्द उससे भिन्न अभिप्राय रखता है जो इसका अभिप्राय ऐसे मूल वाक्य मे है जिसका विश्लेषण अभी प्रस्तुत किया जा चुका है)। परन्तु यह तर्क वाक्य भी निस्सदेह उस सवेद प्रदत्त के बारे मे एक तर्क वाक्य है जिसे मैं प्रत्यक्ष कर रहा हूँ जो मेरे हाथ का सवेद प्रदत्त है। और इसलिये जो नया प्रश्न उठता है वह यह है जब मैं जानता हूँ कि 'यह एक मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है' तो मैं प्रस्तुत सवेद प्रदत्त के सम्बन्ध मे क्या जान रहा हूँ? इस उपर्युक्त विषय मे, क्या मैं वास्तव मे प्रस्तुत सवेद प्रदत्त के बारे मे यह जान रहा हूँ कि यह स्वय मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है? या जैसा इस तर्क वाक्य 'यह एक मनुष्य का हाथ है' के विषय मे पाया कि जो कुछ मैं सवेद प्रदत्त के बारे मे जान रहा था वह निश्चित रूप मे यह नही था कि यह स्वय एक मनुष्य का हाथ था, अत क्या यही बात शायद इस नये तर्क वाक्य के बारे मे है कि, यहाँ भी मैं सवेद प्रदत्त के बारे में यह नही जान रहा हूँ कि यह स्वय हाथ की सतह का भाग है? और यदि यही बात है तो प्रश्न यह है कि जो कुछ मैं सवेद प्रदत्त के बारे मे जान रहा हूँ, वह क्या है?

यह ऐसा प्रश्न है जिसके बारे मे, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है किसी भी दार्शनिक ने अब तक ऐसा उत्तर नहीं दिया जो निश्चित रूप से सत्य के निकट हो।

मुझे तीन और केवल तीन प्रकार के उत्तर सम्भावित प्रतीत होते हैं, और इनमें से किसी प्रकार का अभी तक जो उत्तर दिया गया, उसके बारे मे मुझे अति गम्भीर आक्षेप दिखाई देते हैं।

(१) पहिले प्रकार का केवल एक उत्तर है वह यह है कि उपर्युक्त उदाहरण में जो कुछ मैं वास्तव मे जान रहा हूँ उसके अनुसार सवेद प्रदत्त स्वय मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है। दूसरे शब्दो मे, मैं इसकी सतह के कुछ भाग का सीधा प्रत्यक्ष करता हूँ, यद्यपि मैं अपने हाथ का सीधा प्रत्यक्ष नही करता हूँ, और सवेद प्रदत्त स्वय इसकी सतह का यह भाग है और न केवल ऐसा भाग जो इसकी सतह के इस भाग का प्रतिनिधित्व करता है, (एक अर्थ मे जिसे अभी मालूम करना है), अत जिस अर्थ में मैं अपने हाथ की सतह के इस भाग का 'प्रत्यक्ष' करता हूँ वह ऐसा अर्थ नही है जिसे 'प्रत्यक्ष करने' के किसी तीसरे अन्तिम अर्थ के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की आवश्यकता हो, और जो ही केवल वह अर्थ हो जिसमें प्रत्यक्ष सीधा हो, अर्थात् वही अर्थ जिसमे मैं सवेद प्रदत्त का सीधा प्रत्यक्ष करता हूँ।

यदि उपर्युक्त विचार सत्य है (जैसा मैं सोचता हूँ कि यह हो सकता है), तो मुझे यह निश्चित प्रतीत होता है कि हमे उस विचार को जो बहुत से दार्शनिको द्वारा सत्य स्वीकार किया गया है त्याग देना चाहिए, अर्थात् उस विचार को कि हमारे सवेद प्रदत्त सदैव वास्तव मे वे गुण रखते हैं जो हमे रखते हुए प्रतीत होते हैं। क्योकि मैं इस बात को जानता हूँ कि यदि कोई दूसरा मनुष्य उसी सतह की ओर जिसे मैं नग्न आँखो से देख रहा हूँ सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखे तो सवेद प्रदत्त जो उसने देखा उसे उससे बिलकुल भिन्न और असगत गुणों को लिये हुए प्रतीत होगा जो मेरा संवेद प्रदत्त मुझे प्रतीत होता है, और फिर भी यदि मेरा सवेद प्रदत्त उस सतह से जिसे हम दोनो देख रहे हैं अभिन्न है तो उसका सवेद प्रदत्त भी उस सतह से अभिन्न होना चाहिए। अत मेरा सवेद प्रदत्त इस सतह से अभिन्न केवल एक शर्त पर हो सकता है जो यह है कि यह सतह उसके सवेद प्रदत्त से अभिन्न है, और क्योंकि उसका सवेद प्रदत्त उसे मेरे सवेद प्रदत्त के उन गुणों से जो मुझे प्रतीत होते हैं असगत गुणों को लिये हुए प्रतीत होता है, इसलिए उसका सवेद प्रदत्त मेरे सवेद प्रदत्त से केवल एक शर्त पर अभिन्न हो सकता है, वह यह है कि या तो प्रस्तुत सवेद प्रदत्त उन गुणो को लिये हुए नहीं है जो मुझे प्रतीत होते हैं, या उन गुणो को लिये हुए नही हैं जो उसे प्रतीत होते हैं।

इतना होते हुए भी मेरा विचार यह नहीं है कि प्रथम प्रकार की दृष्टि के प्रति यह कोई गम्भीर आक्षेप है। इससे अधिक गम्भीर आक्षेप जो मुझे प्रतीत होता है वह यह है कि जब हम एक वस्तु को दोहरा देखते हैं (एक वस्तु की दोहरी प्रतिमा देखते हैं) तो हम निश्चित रूप से दो सवेद प्रदत्तो का प्रत्यक्ष करते हैं जिनमें से प्रत्येक सवेद प्रदत्त अवलोकित सतह का है और इसलिये दोनो इससे अभिन्न नहीं हो सकते, और फिर भी मुझे यह प्रतीत होता है कि यदि कोई सवेद प्रदत्त उस सतह से जिसका यह सवेद प्रदत्त है अभिन्न है तो मानो इनमे से प्रत्येक की प्रतिमाएँ भी अभिन्न होगी। अत यह प्रतीत होता है कि मानो प्रत्येक सवेद प्रदत्त अन्त मे केवल उस सतह का जिसका यह संवेद प्रदत्त है प्रतिनिधित्व करता है।

(२) परन्तु, यदि ऐसा है तो प्रस्तुत सतह से इस सवेद प्रदत्त का क्या सम्बन्ध है ? दूसरी प्रकार की दृष्टि के अनुसार बात यह है कि जब मैं जानता हूँ कि 'यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है, तो उस सतह के सवेद प्रदत्त के सम्बन्ध मे जो कुछ मैं जान रहा हूँ वह यह नही है कि यह स्वय मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है, वरन् निम्नलिखित प्रकार से है इसके अनुसार 'र' नामक कोई सम्बन्ध है जो ऐसा है कि जो कुछ मैं सवेद प्रदत्त के बारे मे जान रहा हूँ वह या तो यह है कि "एक और केवल एक वस्तु है जिसके विषय मे ये दोनो बातें सत्य हैं कि यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है और इस सवेद प्रदत्त से 'र' नामक सम्बन्ध लिये हुए है' या यह है कि "वस्तुओ का एक समूह है जिनके विषय मे ये दोनो बातें सत्य हैं" कि वे समूह, यदि समुच्चय रूप से विचारा जाय, मनुष्य के हाथ की सतह के भाग हैं और समूह का प्रत्येक घटक इस सवेद प्रदत्त से 'र' सम्बन्ध लिये हुए है और जो समूह का घटक नही है वह 'र' सम्बन्ध लिये हुए नही है।

स्पष्ट रूप से, इस दूसरी प्रकार के उत्तर के सम्बन्ध मे, बहुत से वे विभिन्न विचार सम्भव हैं जिनमे 'र' सम्बन्ध की प्रकृति के विचार के अनुसार भेद है। परन्तु उनमे से केवल एक ही ऐसा है जो मुझे सत्य सदृश प्रतीत होता है, अर्थात् वह ऐसा है जिसके अनुसार 'र' एक अन्तिम और अविश्लेषणीय सम्बन्ध है, जिसका कथन यह कह कर किया जा सकता है कि 'अ र आ' से अभिप्राय है कि 'आ' 'अ' का आभास है या अभिव्यक्ति। अर्थात्, "यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है" इसका उत्तर यह विश्लेषण होगा कि "एक और केवल एक वस्तु है जिसके बारे मे दोनो बातें सत्य हैं कि यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है और यह सवेद प्रदत्त इसका एक आभास है या अभिव्यक्ति।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के लिये भी बहुत गम्भीर आक्षेप हैं। ये आक्षेप इन ऐसे प्रश्नों के विचार के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए हैं, जैसे किस प्रकार हम अपने सवेद प्रदत्तो के बारे मे सम्भवतया जान सकते हैं कि एक वस्तु और केवल एक वस्तु है जिसका उनसे इस उपयुक्त प्रकार का कल्पित अन्तिम सम्बन्ध है, और किस प्रकार हम ऐसी वस्तुओ के बारे मे सम्भवतया और कोई बात जान सकते हैं, उदाहरणाथ वे वस्तुएँ किस आकार या किस माप की हैं।

(३) तृतीय प्रकार का उत्तर जो ही मुझे, यदि (१) और (२) को अस्वीकार कर दिया जाय केवल एक सम्भव विकल्प प्रतीत होता है, एक ऐसा उत्तर है जो जे० एस० मिल के मतानुसार सत्य है, जब उसने कहा कि भौतिक वस्तुएँ "सवेदनाओ की स्थायी सम्भवनाएँ हैं"। उसने ऐसा विचारा प्रतीत होता है कि जब मैं ऐसे तथ्य को जानता हूँ जैसे कि "यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है" तो जो कुछ उस सवेद प्रदत्त के बारे मे, जो उस तथ्य का मुख्य विषय है, मैं जान रहा हूँ वह यह नही है कि यह स्वय मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है और न ही किसी सम्बन्ध के बारे मे, यह है कि वह वस्तु जो ऐसा सम्बन्ध लिये हुए है, मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है, परन्तु वह यह है कि सोपाधिक तथ्यो का एक सम्पूर्ण समूह "जिनमे से प्रत्येक इस आकार का एक

तथ्य है" यदि ये शर्तें पूर्ण की गई तो मैं एक ऐसे सवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा जो उपरोक्त सवेद प्रदत्त से इस प्रकार वास्तव मे सम्बन्धित है "यदि ये (दूसरी) शर्तें पूर्ण की गई, तो मैं एक ऐसे सवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा जो उपरोक्त सवेद प्रदत्त से इस प्रकार (दूसरी) वास्तव मे सम्बन्धित है," इत्यादि, इत्यादि।

इस तीसरे प्रकार के उत्तर के बारे मे जो प्रस्तुत तर्क वाक्यो के विश्लेषण से सम्बन्धित है, मुझे यह सम्भव प्रतीत होता है कि यह सत्य है, परन्तु यह स्वीकार करना (जैसे मिल ने स्वय ने और दूसरो ने स्वीकार किया है) कि यह निश्चित रूप से या प्राय निश्चित रूप से सत्य है, मुझे एक उतनी ही बडी भ्रान्ति प्रतीत होती है जितनी (१) या (२) के बारे में यह स्वीकार करना कि वे निश्चित रूप से या प्राय निश्चित रूप से सत्य हैं। मुझे इसके विरुद्ध बहुत गभीर आक्षेप दिखाई देते हैं, वे विशेषतया तीन हैं (क) सामान्यतया, यद्यपि जब मैं ऐसे तथ्यो को जानता हूँ जैसे "यह एक हाथ है" तो मैं ऐसे आकार के सोपाधिक कुछ तथ्यो को निश्चित रूप से जानता हूँ जैसे "यदि ये शर्तें पूर्ण की गई तो मैं एक ऐसे सवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा, जो उसी सतह का सवेद प्रदत्त होता जिस सतह का यह सवेद प्रदत्त है तथापि यह सदिग्ध प्रतीत होता है कि कोई भी शर्त, जिसके विषय मे यह उपरोक्त बात जानता हूँ, स्वय ऐसे आकार की शर्तें नही है जैसे, "यदि यह या वह भौतिक वस्तु उन स्थितियो और शर्तों मे होती " (ख) पुन यह अत्यन्त सदिग्ध प्रतीत होता है कि कोई वास्तविक सम्बन्ध ऐसा है कि मेरा ज्ञान कि (इन शर्तों में) मैं ऐसे सवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा जो उसी सतह का सवेद प्रदत्त होता जिस सतह का यह सवेद प्रदत्त है, उस सम्बन्ध के विषय मे ऐसे ज्ञान के अनुरूप है कि उन शर्तों में मैं इस सवेद प्रदत्त से सम्बन्धित एक सवेद प्रदत्त देख रहा हूँगा। (ग) यदि यह उपरोक्त बात सत्य होती, तो वह अर्थ जिसमे एक भौतिक सतह गोल या वर्गाकार है आवश्यक रूप से उस अर्थ से पूर्णतया भिन्न होगा, जिसमे हमारे सवेद प्रदत्त हमे गोल या वर्गाकार प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार मेरा मत है कि यह तर्क वाक्य, "भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व है और रहा है" बिल्कुल निश्चित रूप से सत्य है, परन्तु यह प्रश्न कि इस तर्क वाक्य का विश्लेषण कैसे किया जाय ऐसा है जिसका जो उत्तर अभी तक दिया गया है, वह कहीं भी सत्यता के निकट नहीं है, उसी प्रकार मेरा मत है कि यह तर्क वाक्य "बहुत सी आत्माओ का अस्तित्व है और रहा है", बिल्कुल निश्चित रूप से सत्य है परन्तु पुन यहाँ भी इस तर्क वाक्य के सब विश्लेषण जो दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं अत्यधिक सदिग्ध हैं।

यह कि मैं अभी बहुत से विभिन्न सवेद प्रदत्तों का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ और कि मैंने कई बार भूतकाल मे भी बहुत से विभिन्न सवेद प्रदत्तो का प्रत्यक्ष किया है, मैं निश्चित रूप से जानता हूँ—कहने का अभिप्राय यह है, मुझे ज्ञान है कि (छ) वर्ग के ऐसे मानसिक तथ्य हैं इनमे ऐसी प्रकार से सम्बन्धित हैं जिसे यह कह कर व्यक्त करना उचित है कि ये सब तथ्य मेरे विषय मे है, परन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध का विश्लेषण कैसे किया जाय, मैं निश्चित रूप से नही जानता हूँ, न ही, मैं सोचता हूँ, कोई भी दार्शनिक निश्चित रूप से जानता है।

जिस प्रकार इस तक वाक्य के विषय में "यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है" कई अत्यधिक विभिन्न दृष्टिकोण इसके विश्लेषण के बारे मे है जिनमे से प्रत्येक मुझे सम्भव प्रतीत होता है, परन्तु कोई भी सत्य के निकट नही है, उसी प्रकार इस तर्क वाक्य के विषय में "यह, वह और वह सवेद प्रदत्त वतमान मे मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किये जा रहे हैं", और इससे भी अधिक इस तक वाक्य के विषय मे, "मैं अभी इस सवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ और भूतकाल मे मैंने इन दूसरी प्रकार के सवेद प्रदत्तों का प्रत्यक्ष किया है"। इन तर्क वाक्यो की सत्यता का मुझे कोई सदेह नहीं है, परन्तु उनके सही विश्लेषण के विषय में मुझे अत्यधिक गम्भीर सदेह है। उदाहरणाय, उनका सही विश्लेषण सम्भवतया बिल्कुल उतना ही विरोधाभासी हो सकता है जितना उपरोक्त प्रस्तुत तीसरा दृष्टिकोण जो इस तर्क वाक्य के कि "यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है" विश्लेषण के बारे में है, परन्तु यह बात कि वह उतना ही विरोधाभासी है जितना यह, मुझे बिल्कुल इसकी तरह सदिग्ध प्रतीत होता है। दूसरी ओर, बहुत से दार्शनिक मुझे यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि ऐसे तर्क वाक्यों के सही विश्लेषण के विषय मे कोई सदेह नहीं है, और उन दार्शनिकों मे से बहुतो ने, ठीक मेरे मतव्य के विपरीत, यह भी स्वीकार किया है कि वे तक वाक्य ही सत्य नहीं हैं।

आदर्शवाद का खण्डन

ज्यार्ज एडवर्ड मूर

आधुनिक आदर्शवाद विश्व के बारे मे यदि किसी भी साधारण निष्कर्ष को दृढता से कहता है तो वह है, कि विश्व आध्यात्मिक है। इस प्रतिज्ञा के बारे मे दो बातें हैं, जिन पर मैं (आपका) ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा, ये हैं (चाहे जो भी इसका सही अर्थ हो) यह निश्चित रूप से दृढता पूर्वक कहना चाहता है कि, १ विश्व वास्तव में उससे बहुत भिन्न है जैसा कि, वह दिखाई देता है और २ इसके ऐसे अनेक गुण भी हैं, जो दृष्टिगोचर नही होते (अर्थात् हम जगत् को उसके सही रूप मे नही जानते हैं)। कुर्सियाँ और मेजें और पहाड हमसे बहुत भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु जबकि समस्त विश्व को आध्यात्मिक घोषित कर दिया जाय, तो इसका निश्चय ही यह तात्पर्य निकलता है कि वे उससे कहीं अधिक हमारी तरह के हैं, जितना हम समझते हैं। आध्यात्मवादी आग्रह पूर्वक यह कहना चाहता है कि कुछ अर्थों मे ये न तो जीवन-विहीन हैं, और न ही अचेतन, जैसे कि वे निश्चय ही दिखलाई पडते हैं, और मैं यह नही सोचता कि उसकी भाषा स्थूल रूप से धोखा देने वाली है, किन्तु उसे हम यह विश्वास करता हुआ मान सकते हैं कि वे वास्तव मे उससे बहुत भिन्न हैं जैसे कि वे दिखाई देते हैं। और दूसरे, जब वह उसे आध्यात्मिक घोषित करता है तो वह उस शब्द मे अनेक प्रकार के विविध गुणो का समावेश करना चाहता है। जब समस्त विश्व को आध्यात्मिक घोषित किया जाता है तो उसका तात्पर्य केवल यही नहीं है कि यह किन्ही अर्थों मे चेतन है, वरन् यह भी कि यह चेतना के उन विभिन्न उच्चतर रूपो का धारण करने वाला है जिनको हम अपने मे पहचानते हैं, कि यह बौद्धिक है या यह सप्रयोजन है, कि यह भौतिक किंवा यान्त्रिक नहीं है — ये सभी विभिन्न बातें इसके बारे मे बलपूर्वक कही जाती हैं। सामान्यत यह कहा जाता है कि यह वाक्यांश कि "सत्ता आध्यात्मिक है" इस विश्वास को उभारता एव प्रकट करता है कि सम्पूर्ण विश्व उन सभी गुणो को धारण करता है, जिनका होना निर्जीव वस्तुओ की अपेक्षा हमे उत्कृष्ट बनाने वाला माना जाता है, कम से कम यदि ये ठीक वे ही गुण न रखता हो जिन्हे हम धारण करते हैं तो यह केवल एक ही नही प्रत्युत बहुत से ऐसे गुणों को धारण करता है जो नैतिक कसौटी द्वारा हमारे समान या इससे अच्छे स्वीकार किये जायेंगे। जब हम कहते हैं कि यह आध्यात्मिक है, तो हम यह कहना चाहते हैं कि यह बहुत से उत्तम गुणो को धारण करने वाला है, जो किन्हीं ऐसे गुणों से पृथक है जिनके द्वारा हम साधारण तौर पर या तो ग्रहो एव नक्षत्रों को, या प्यालो और तश्तरियो को, विशेषित करते हैं।

आदर्शवाद का खण्डन

ज्यार्ज एडवर्ड मूर

आधुनिक आदर्शवाद विश्व के बारे मे यदि किसी भी साधारण निष्कर्ष को दृढता से कहता है तो वह है, कि विश्व आध्यात्मिक है। इस प्रतिज्ञा के बारे मे दो बातें हैं, जिन पर मैं (आपका) ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा, ये हैं (चाहे जो भी इसका सही अर्थ हो) यह निश्चित रूप से दृढता पूर्वक कहना चाहता है कि, १ विश्व वास्तव मे उससे बहुत भिन्न है जैसा कि, वह दिखाई देता है और २ इसके ऐसे अनेक गुण भी हैं, जो दृष्टिगोचर नही होते (अर्थात् हम जगत् को उसके सही रूप मे नही जानते हैं)। कुर्सियाँ और मेजें और पहाड़ हमसे बहुत भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु जबकि समस्त विश्व को आध्यात्मिक घोषित कर दिया जाय, तो इसका निश्चय ही यह तात्पर्य निकलता है कि वे उससे कही अधिक हमारी तरह के हैं, जितना हम समझते हैं। आध्यात्मवादी आग्रह पूर्वक यह कहना चाहता है कि कुछ अर्थों में ये न तो जीवन-विहीन हैं, और न ही अचेतन, जैसे कि वे निश्चय ही दिखलाई पडते हैं, और मैं यह नही सोचता कि उसकी भाषा स्थूल रूप से धोखा देने वाली है, किन्तु उसे हम यह विश्वास करता हुआ मान सकते हैं कि वे वास्तव मे उससे बहुत भिन्न हैं जैसे कि वे दिखाई देते हैं। और दूसरे, जब वह उसे आध्यात्मिक घोषित करता है तो वह उस शब्द मे अनेक प्रकार के विविध गुणो का समावेश करना चाहता है। जब समस्त विश्व को आध्यात्मिक घोषित किया जाता है तो उसका तात्पर्य केवल यही नहीं है कि यह किन्ही अर्थों मे चेतन है, वरन् यह भी कि यह चेतना के उन विभिन्न उच्चतर रूपो का धारण करने वाला है जिनको हम अपने में पहचानते हैं, कि यह बौद्धिक है या यह सप्रयोजन है, कि यह भौतिक किंवा यान्त्रिक नही है — ये सभी विभिन्न बातें इसके बारे में बलपूर्वक कही जाती हैं। सामान्यत यह कहा जाता है कि यह वाक्यांश कि "सत्ता आध्यात्मिक है" इस विश्वास को उभारता एव प्रकट करता है कि सम्पूर्ण विश्व उन सभी गुणो को धारण करता है, जिनका होना निर्जीव वस्तुओ की अपेक्षा हमे उत्कृष्ट बनाने वाला माना जाता है, कम से कम यदि ये ठीक वे ही गुण न रखता हो जिन्हें हम धारण करते हैं तो यह केवल एक ही नहीं प्रत्युत बहुत से ऐसे गुणों को धारण करता है जो नैतिक कसौटी द्वारा हमारे समान या इससे अच्छे स्वीकार किये जायेंगे। जब हम कहते हैं कि यह आध्यात्मिक है, तो हम यह कहना चाहते हैं कि यह बहुत से उत्तम गुणो को धारण करने वाला है, जो किन्ही ऐसे गुणों से पृथक हैं जिनके द्वारा हम साधारण तौर पर या तो ग्रहो एव नक्षत्रों को, या प्यालो और तश्तरियो को, विशेषित करते हैं।

अब मैं इन दो विषयों का वर्णन इसलिए करना चाहता हूँ, क्योंकि दार्शनिक वाद-विवाद की उलझनों में उलझे रहते हैं तो यह सम्भावना हो सकती है कि हम जगत् के बारे में इस आध्यात्मिक दृष्टि और साधारण दृष्टि के बहुत बड़े भेद को नजर-अन्दाज कर दें और यह भी हो सकता है कि हम उन बहुत से विभिन्न तर्क वाक्यों को नजर-अन्दाज कर जायें, जिन्हे आध्यात्मवादी को सिद्ध करना चाहिये। मैं सोचता हूँ कि यह प्रश्न, कि आध्यात्मवाद सत्य है या नही, इतना अधिक रोचक और आवश्यक इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि एक तो इसमे वैविध्य है और दूसरे, इस धारणा मे उत्तमता का भाव है जो कि आध्यात्मवादी इस विश्व को प्रदान करते हैं। किन्तु जब हम इसके बारे में विचार आरम्भ करते हैं तो मेरे विचार मे शायद हम यह भूल जाते हैं कि इस रोचक प्रश्न में कितनी अधिक जटिलता अन्त-र्निहित होनी चाहिए, हम यह मानने लग जाते हैं कि यदि किसी भी तरफ दो-एक युक्तियाँ उपस्थित की जा सकें तो सारा मामला जीत लिया जायगा। मैं यह नही कहता कि इस निबन्ध में जो तर्क उपस्थित किये जायेंगे वे वस्तुत इस रोचक और महत्वपूर्ण तर्क वाक्य को कि, "सत्ता आध्यात्मिक है" असिद्ध करने के लिये पर्याप्त होंगे या उनका खण्डन इसको सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होगा, वरन् अपनी ओर से मैं यह स्पष्टतया समझा देना चाहूँगा कि मैं यह नही मानता कि मैं जो कुछ भी कहूँगा उसमे यह सिद्ध करने को थोडी भी प्रवृत्ति होगी कि सत्ता आध्यात्मिक नही है, क्योंकि मैं यह सम्भव नहीं मानता कि उन अनेक महत्वपूर्ण तर्क वाक्यों मे से एक को भी खण्डित किया जा सकेगा जो इस कथन मे निहित है कि सत्ता ऐसी (आध्यात्मिक) है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, हो सकता है कि सत्ता आध्यात्मिक हो, और मैं निष्ठापूर्वक आशा करता हूँ कि यह ऐसी ही है। किन्तु मैं "अध्यात्मवाद" को एक विस्तृत पद के रूप में लेता हूँ और इसमे केवल इस रोचक निष्कर्ष को ही नही, अपितु उन अनेक तर्कों को भी अन्तर्निहित करना चाहता हूँ जिन्हे इसे सिद्ध करने के लिये यदि पर्याप्त नही तो आवश्यक अवश्य माना जाता है। वस्तुत मैं यह मानता हूँ कि आधुनिक आध्यात्मिक दार्शनिक मुख्यत उन तर्कों द्वारा पराजित किये जाते हैं जिन्हें वे सभी मानते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि यह सिद्धान्त, कि सत्ता आध्यात्मिक है, अनेक धर्म दर्शनवादियों (परमात्मवादियों) का रहा है। किन्तु केवल इतना ही मानने पर, उन्हें मुश्किल से ही अध्यात्मवादी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्हें अध्यात्मवादी कहना अनु-चित न होगा, जो कतिपय विशिष्ट तर्क वाक्यों को मानते हैं, बिना यह सोचे कि ये किसी भी तरह ऐसे महान् निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही हैं। अत यहाँ मेरा सम्बन्ध केवल अध्यात्मवादी तर्कों से है, और यदि कोई अध्यात्मवादी यह मानता हो कि यह सिद्ध करने के लिये, कि सत्ता आध्यात्मिक है, किसी भी तर्क की आवश्यकता नहीं है तो निश्चित ही मैं उसका खण्डन नही कर पाऊँगा। फिर भी मैं कम से कम एक तर्क पर आक्रमण करूँगा जो प्राय सभी अध्यात्मवादियों द्वारा, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, उनकी स्थिति के लिये आव-श्यक समझा जाता है। मैं एक लाभ बतलाना चाहता हूँ जो मुझे इस तरीके से उपलब्ध होता है — यह लाभ इस प्रतिज्ञा को उचित ठहराता है कि यदि मेरे तर्क ठोस होंगे तो ये

आध्यात्मवाद का खण्डन करेंगे । यदि मैं एक भी ऐसे तर्क वाक्य का खण्डन कर सका जो समस्त आध्यात्मवादी तर्कों की आवश्यक एव सारभूत पैडी हो, तो फिर चाहे बचे हुए तर्क कितने ही उत्तम हो, मैं यह सिद्ध कर पाऊँगा कि अध्यात्मवादियो के पास अपने निष्कप के लिये कोई भी आधार नही है ।

मानो हमारे पास तर्क की एक शृंखला है जो ऐसा आकार ले लेती है कि चूंकि अ ब है, ब स है और स द है तो, यह अनुगमित होता है कि अ द है । इस प्रकार के तर्क में, चाहे, दोनो — ब स है और स द है — पूर्णतया सत्य हो लेकिन यदि अ ब है असत्य है तो हमारे पास इस प्रतिज्ञा के बारे मे कि अ द है कोई तर्क नही रह जायगा, फिर तो तीनो ही चाहे असत्य हो, वस्तुत यह अनुगमित नहीं होता कि अ द असत्य है और न ही यह अनुगमित होता है कि और कोई तक भी इसे सत्य सिद्ध नही करेगा । किन्तु जब तक यह तर्क माना जाय, यह अनुगमित होता है कि यह बिना किसी थोडी सी भी गवाही के केवल मात्र अनुमान है । मेरी एक तर्क वाक्य पर हमला करने की इच्छा है जो मुझे इस निष्कष से कि सत्ता आध्यात्मिक है' इसी सम्बन्ध द्वारा बँधा दिखाई देता है । मेरी इस बात को विवाद–ग्रस्त बनाने की इच्छा नही है कि 'सत्ता आध्यात्मिक है' ऐसा सोचने के कुछ कारण हैं, लेकिन मेरी यह जरूर स्पष्ट करने की इच्छा है कि एक तक, जिस पर अन्य सभी तक–जो अभी तक आदशवादियो द्वारा दिये गए हैं—अवलम्बित हैं, असत्य है । ये अन्य तर्क उसके लिये विशिष्ट रूप से उपयुक्त और सत्य हो सकते है, जो मैं आगे कहूँगा, ये अनेक और भिन्न प्रकार के हैं, और विभिन्न आदशवादी बहुत भिन्न प्रकार के तर्कों का प्रयोग एक ही महत्वपूण निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिये करते हैं । इनमे से कुछ यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हो सकते हैं कि ब स है और स द है, किन्तु यदि, जैसा कि मैं दिखाने का प्रयत्न करूंगा, उनका अ ब है असत्य है तो यह निष्कर्ष कि अ द है केवल एक सुहावनी कल्पना ही रह जायगी । मैं यह मना नहीं करना चाहता कि दर्शन का उपयुक्त काय सुहावने एव सुखद अनुमानो को सुझाना है, लेकिन मैं तो केवल यह मानना चाहता हूँ कि "आदशवाद" नाम केवल वही ठीक प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है जहाँ कुछ तर्क सगतता हो, जहाँ विश्वास का कुछ आधार हो ।

अत इस निबन्ध का विषय बिल्कुल अरुचिकर है । यदि मैं अपनी बात को सिद्ध भी करदूँ तो भी साधारण तौर पर विश्व के बारे मे मैंने कुछ भी सिद्ध नही किया होगा । इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर कि, सत्ता आध्यात्मिक है या नही, मेरे तर्क का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ेगा । मैं तो केवल मात्र विषय की सत्यता पर पहुँचने का प्रयत्न करूंगा, जो स्वय मे बिल्कुल तुच्छ एव अनावश्यक है, और जिससे जहाँ तक मैं देख सकता हूँ और निश्चिततया जहाँ तक मैं कह सकता हूँ, ऐसे किन्ही भी विषयों के बारे मे निष्कर्ष नही निकाले जा सकेंगे, जिनके बारे मे हम सबसे अधिक जानना चाहते हैं । मैं जिस विषय पर विमर्श करूंगा, उसके लिए केवल इसी महत्ता का दावा कर सकता हूँ कि मुझे ऐसा दिखाई देता है कि इस विषय पर न केवल आदशवादियो ने वरन् समस्त दार्शनिकों एव मनोवैज्ञानिको ने भी ग़लती की है, और जिसके अपने दोषपूर्ण मत से उन्होंने अपने बहुत विलक्षण और रोचक निष्कर्ष (उचित

या अनुचित रूप से) अनुमित किये हैं। और इसकी इतनी भी महत्ता है, यह भी मैं सिद्ध करने की आशा नहीं कर सकता। यदि इसकी महत्ता हुई, तो वस्तुत यह अनुगमित होगा कि दर्शन के समस्त अत्यन्त विलक्षण निष्कर्षों का—अनीश्वरवाद, एन्द्रिय संवेदवाद एवं आदर्शवाद समान तौर पर अभी तक जो कुछ भी उनके पक्ष मे कहा जा चुका है उसको मानते हुए—इस कल्पना से अधिक और कोई आधार नहीं होगा कि एक मनगढन्त जन्तु, चन्द्रमा मे रहता है। यह अनुगमित होगा कि, जब तक ऐसे नवीन कारणों को प्राप्त नहीं कर लिया जाय, जो पहिले अज्ञात थे, दर्शन के सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्त, स्वीकृति का उतना ही दावा रखेंगे जितना कि आदिमतम् व्यक्ति के अत्यन्त अन्ध विश्वासपूर्ण-विश्वास। इस प्रश्न पर कि अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयो पर विश्वास का क्या कारण है मेरे विचार मे मेरे निष्कर्ष महत्वपूर्ण प्रभाव डालेंगे, लेकिन मैं बिल्कुल स्पष्टत इस बात पर जोर नहीं दे सकता कि इस प्रश्न पर कि ये विश्वास सत्य हैं या नहीं, वे बिल्कुल भी प्रभाव नहीं डालेंगे।

एक अति साधारण तर्क वाक्य, जिसको मैं विवाद का विषय बनाना चाहता हूँ, यह है कि, 'अस्तित्व प्रत्यक्षगत है' (अर्थात् जो प्रत्यक्ष होता है उसी का अस्तित्व है)। यह एक बहुत ही संदिग्ध तर्क-वाक्य है लेकिन किसी न किसी अर्थ में इसे बहुत व्यापक पैमाने पर माना जाता रहा है। अभी फिलहाल मुझे यह मानना पड़ेगा कि यह किसी अर्थ मे आदर्शवाद के लिये परम-आवश्यक है। और मैं जो सिद्ध करना चाहता हूँ वह यह है कि, अपने प्रत्येक अर्थ मे, जो इसे अभी तक दिये गये हैं, यह असत्य है।

किन्तु, सर्व प्रथम, यह संक्षेप से बताना लाभदायक हो सकता है कि मैं इसका आदर्शवादी तर्कों से क्या सम्बन्ध स्वीकार करता हूँ। इस बात को, कि जहाँ कहीं भी आप "अस्तित्व" को सत्यत विधेय बना सकते हैं, वहीं आप 'प्रत्यक्षगत' को भी सत्यत विधेय बना सकते हैं, किसी न किसी अर्थ मे मैं उन तर्कों के लिये आवश्यक मानता हूँ जिनको वास्तव मे आदर्शवादी कहा जाता है, और इससे भी अधिक उन समस्त तर्कों के लिये जिन्हें अभी तक आदर्शवादी निष्कर्ष के लिए प्रस्तुत किया गया है। यह कथन कि "अस्तित्व प्रत्यक्षगत है" यह कहने के बराबर है कि जो कुछ भी विद्यमान है उसका अनुभव हो चुका है, और यह पुन एक अर्थ मे इस कथन के बराबर है कि जो कुछ भी है वह अनुभव-विषय है। लेकिन यह वह अर्थ नहीं है जिसमे आदर्शवादी निष्कर्ष को मानना चाहिये कि सत्ता मानसिक है। आदर्शवादी निष्कर्ष तो यह है कि सत् द्रष्टात्मक है और इसलिए सत् प्रत्यक्षमूलक हो या न हो, इस बात को दिखाने के लिए अलग से तर्क देना अपेक्षित है कि यह द्रष्टा भी है या नहीं, और पुन यदि सत् द्रष्टा आत्मा हो भी तो भी हमें यह दिखाने के लिए कि जो सत् से युक्त है वह उन उच्चतर मानसिक गुणों से भी युक्त है जो 'आध्यात्मिक' पद से विशेषित किये जाते हैं, अन्य अनेक तर्क देने होंगे। इसलिए मैंने कहा था कि इस प्रश्न का विचार विमर्श, कि सत् प्रत्यक्षगत है या नहीं, इस बात को सिद्ध या असिद्ध करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त है कि सत्ता आध्यात्मिक है। लेकिन दूसरी ओर, मैं यह विश्वास करता हूँ कि उस प्रत्येक तर्क को, जिसे यह दिखाने के लिये प्रयुक्त किया गया था कि सत्ता आध्यात्मिक है, इस उचित या अनुचित

पूव-प्रतिज्ञा से निगमित किया गया होगा कि 'द्रष्टा ही सत् है' और इसे कभी भी इस प्रतिज्ञा के प्रयोग के अतिरिक्त कि प्रत्यक्ष ही सत् है, सिद्ध करने का अन्य कोई प्रयत्न नही किया गया। इस दूसरे प्रयोजन के निमित्त जिस प्रकार का तर्क किया गया, उससे हम सुपरिचित हैं ही। यह कहा गया है कि क्योकि जो कुछ भी है वह अनुभव विषय ही है, और चूँकि कतिपय वस्तुएँ ऐसी हैं जो व्यक्ति विशेष के द्वारा अनुभव नही की गई हैं, अत इन्हे किसी अनुभव का अग बनना चाहिये। अन्यथा पुन चूँकि एक विषय आवश्यक रूप से विषयी को अर्थापतित करता है, और चूँकि समस्त विश्व एक विषय होना चाहिये, परिणामत यह मानना आवश्यक है कि यह भी किसी विषयी या किन्ही विषयिओ से सम्बन्धित हैं, जैसे कि हमारे अनुभव का प्रत्येक विषय उम पर आश्रित है या फिर चूँकि विचार समस्त सत्ता मे सत्व रूप से प्रविष्ट रहता है, अत हमे इसके पीछे, इसमे या इसके सत्व रूप मे एक हमारी जैसी ही आत्मा की प्रवृत्ति का अनुमान करना चाहिये जो कि सोचते हैं कि विषय के भीतर "आत्मा, आत्मा का अभिवादन करती है"। यहाँ इन अनुभवो की न्यायोचितता की जाँच करने का मेरा विचार नही है, ये स्पष्टत एक बहुत बडे विचार विमर्श की अपेक्षा करते हैं। मैं तो केवल यह सकेत करने की इच्छा करता हूँ कि चाहे ये कितनी ही नही हो, फिर भी यदि सत् प्रत्यक्षमूलक नही हो तो ये हमे इस बात की सिद्धि से, कि सत्ता आध्यात्मिक है, इतने दूर छोड देते हैं, मानो ये सभी असत्य हो। परन्तु अब यथा 'सत् प्रत्यक्षमूलक है?' इस तर्क वाक्य मे तीन अत्यन्त सदिग्ध पद हैं और मुझे उन विभिन्न वस्तुओ मे भेद स्पष्ट करने से प्रारम्भ करना चाहिये जो उनमे से कुछ मे अभिप्रेत है।

और अब मै सबसे पहले प्रत्यक्षमूलकता के बारे मे कहूँगा। सम्भवत आरम्भ मे इस पद का प्रयोग केवल 'सवेद' के अथ में किया गया था। लेकिन मैं आधुनिक आदर्शवादियो के प्रति—एक मात्र आदर्शवादी, जिनके लिये कि सज्ञा विना किसी विशेषण के प्रयुक्त की जा सकती है—इतना अनुदार होने नही जा रहा हूँ कि मैं यह मानलूँ कि यदि वे कहते हैं कि सत् "प्रत्यक्षमूलक" है तो उनका प्रत्यक्षमूलक से तात्पय केवल मात्र सवेद ही है। इसके विपरीत, मैं उनसे इस बात मे पूर्ण सहमत हूँ कि, सत् प्रत्यक्षमूलक है तो 'प्रत्यक्षमूलक' शब्द मे यदि केवल मात्र सवेद का ही समावेश नही है। वरन् उन दूसरे प्रकार के मानसिक तथ्यों का भी समावेश है जिन्हे 'विचार' कहा जाता है। और फिर, चाहे सत् प्रत्यक्षात्मक हो या नही हो, मैं इस बात को उस दार्शनिक सम्प्रदाय की—जिससे कि आधुनिक आदर्शवादी सम्बन्धित हैं—मुख्य देन मानता हूँ कि उन्होने 'सवेद' और 'विचार' में स्पष्ट भेद किया है तथा विचार के महत्व पर बल डाला है। सवेदवाद और अनुभववाद के विरुद्ध उन्होंने सही दृष्टिकोण अपनाये रक्खा है। लेकिन यहाँ हम सवेद और विचार मे भेद के प्रश्न मे और नही पडेगें क्योकि, वे चाहे जिन भी अर्थों मे भिन्न हो, कम से कम एक चीज़ उनमें समान है, कि वे दोनो चेतना के रूप हैं। अत सत् प्रत्यक्षात्मक है, इसका चाहे जो भी अर्थ हो, यह कम से कम दृढता से कहता है कि जो कुछ भी है वह अनुभूत है और चूँकि मैं जो मानना चाहता हूँ, चाहे वह असत्य भी हो, तो भी यह प्रश्न कि इसका अनुभव संवेद द्वारा होगा या विचार

द्वारा या फिर दोनो के द्वारा, मेरे मनोरथ के लिये निरर्थक है। यदि इसका बिल्कुल अनुभव ही नही हो तो, यह न तो विचार का विषय ही हो सकता है और न संवेद का ही। यह प्रश्न कि यह संवेद या विचार दोनो का समावेश करता है तभी महत्वपूर्ण होता है जबकि सत्ता "अनुभव" का समावेश करे। अत मेरा यह निवेदन है कि अब आगे 'प्रत्यक्षात्मक' का वाच्य विषय उसी को माना जाय जो संवेद एव विचार मे समान है। एक अधुनातन निबन्ध 'सत् प्रत्यक्षात्मक है' इसका अर्थ अपेक्षित स्पष्टता के साथ बताता है, जहाँ तक 'प्रत्यक्षात्मक' का सम्बन्ध है। टेलर कहता है "मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि, किसी तथ्य को केवल उसका किसी अनुभव कर्त्ता चैतन्य को प्रस्तुत होना ही सत्य (सत्-प्रतिष्ठित) बनाता है।" मुझे प्रसन्नता है कि श्री टेलर ने मुझे समय पर आदर्शवाद की आधारभूत आधार प्रतिज्ञा के रूप मे एक ऐसा कथन दे दिया। अत यदि मेरा निबन्ध कुछ भी खण्डित करता है तो वह कम से कम श्री टेलर के आदर्शवाद का खण्डन अवश्य करता है, क्योंकि मैं यह दिखाना चाहूँगा कि सम्भवत किसी वस्तु को सत्य बनाने वाली उसकी चेतन अनुभव के अविभाज्य अग के रूप मे उपस्थिति नही हो सकती।

यद्यपि श्री टेलर का कथन 'प्रत्यक्षात्मक' के अर्थ के बारे मे स्पष्ट है तथापि वह अन्य बातो मे अत्यन्त अस्पष्ट है। फिर भी मैं इस समय इसको छोड़कर 'अस्तित्व प्रत्यक्षात्मक है' वाक्य मे एक अन्य अस्पष्टता पर विचार करना चाहता हूँ। इस वाक्य में संयोजक अव्यय का क्या अर्थ है ? इस कथन का क्या तात्पर्य है कि अस्तित्व प्रत्यक्षात्म-रूप है ? इसके केवल मात्र तीन अर्थ हो सकते हैं, और इसे सत्य होने के लिए और इन्ही मे से एक या अन्य को कारण मानना चाहिये, और यदि इसे महत्वपूर्ण होना है तो इनमे से केवल एक ही अर्थ इसका होना चाहिये। (१) प्रथम तो, इस कथन का यह तात्पर्य हो सकता है कि 'सत्' शब्द प्रत्यक्ष रूप से न तो कुछ कम और न कुछ अधिक का वाचक है, कि ये दो शब्द यथातथ पर्यायवाची हैं, कि ये एक ही वस्तु के लिये, केवल मात्र दो भिन्न नाम हैं, कि जो 'अस्तित्व' का अर्थ है वह पूर्णतया 'प्रत्यक्षरूप' के अर्थ से अभिन्न है। अत मैं सोचता हूँ कि न तो मुझे यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि यह सिद्धान्त, कि अस्तित्व प्रत्यक्षरूप है, केवल मात्र एक शब्द को परिभाषित करने के उद्देश्य से प्रतिपादित नहीं किया गया था, और न यह कि, यदि यह इसी उद्देश्य से प्रतिपादित किया गया था तो यह एक अत्यन्त दूषित परिभाषा है। लेकिन यदि इसका यह तात्पर्य नही है तो केवल मात्र दो विकल्प बच रहते हैं।

(२) दूसरा अर्थ, यह हो सकता है कि यद्यपि जो 'अस्तित्व' का अर्थ है वह पूर्णतया 'प्रत्यक्षरूप' से अभिन्न नहीं है, तथापि वह प्रत्यक्षरूप को अपने अर्थ के अग रूप मे सन्निहित करता है। अत यदि 'अस्तित्व प्रत्यक्षरूप है,' इसका यह तात्पर्य हो, तो यह कहना कि एक वस्तु सत्य थी, इसके बराबर नही होगा कि यह अनुभव की गई थी कि यह सत्य थी, इसका अभिप्राय यह होगा कि यह अनुभव की गई थी, और इसके अतिरिक्त भी कुछ थी "अनुभव की जाना" वस्तु सत्ता के लिए विश्लेषणात्मक रूप से आवश्यक होगा, लेकिन यह पद का सम्पूर्ण अर्थ नही होगा। व्याघात के नियम की सहायता से, इस तथ्य से कि एक

वस्तु सत्य है, हमे यह अनुमान करने मे समर्थ होना चाहिये कि यह अनुभव की गई थी, क्योकि यह केवल 'सद्वस्तु' के अर्थ का एक अग मात्र होगा। लेकिन दूसरी ओर, इस तथ्य से कि एक वस्तु अनुभव की गई थी, हमे यह अनुमान करने मे समथ न ी होना चाहिये कि यह सत्य थी, क्योकि इस बात से कि यह सत्ता का एक आवश्यक गुण रखती है, यह अनुगत नही होता कि यह अन्य गुणो को भी रखती होगी। अत अब यदि हम 'अस्तित्व प्रत्यक्षरूप है' इसको द्वितीय अर्थ मे समझें ता हमे तीन विभिन्न वस्तुओ मे भेद करना होगा सबसे पहले यह 'सत्य' शब्द की परिभाषा देती है, और यह स्थापित करती है कि यह शब्द एक सम्मिश्र समग्र के लिए है जिसका कि 'प्रत्यक्षरूप' से अभिप्रेत अथ एक अग है और दूसरे यह स्थापित करती है कि 'अनुभूत' एक समग्र का एक भाग है। ये दोनो ही तक वाक्य सत्य हो सकते हैं, और मैं उन्हे सब अवस्थाओ मे विवादास्पद नही बनाना चाहता। वस्तुत मैं यह नही सोचता कि साधारणतया 'सत्' शब्द अपने मे प्रत्यक्षरूप को निहित करता है, लेकिन मैं शब्दों के अर्थों के बारे में विवाद नही करना चाहता। और कि अनक वस्तुएँ, जिनका अनुभव किया जाता है, वे और कुछ भी हैं—कि अनुभव किया जाना किन्हीं समग्रो का अनिवाय भाग है, यह भी निर्विवाद है। लेकिन मैं जो इगित करना चाहता हूँ वह यह कि इन दोनो मे से कोई भी तक वाक्य किसी भी महत्व का नही है जब तक कि हम उनमे एक तीसरा और न जोड दें। यह प्रतिपादित करना किसी के लिये भी महत्वपूर्ण नही हो सकता कि 'सत्य' गुणो के समन्वय के लिए, जो कि कभी कभी घटित होता है, एक सुविधाजनक नाम है। क्योकि इस प्रकार की स्वीकारोक्ति से कोई भी महत्व का अनुमान नही किया जा सकता। हमारे सिद्धान्त का केवल यही अर्थ हो सकता है कि जब एक वस्तु प्रत्यक्ष हो, और वे अन्य गुण जो सत् में निहित हैं, रखती हो, तो वह प्रत्यक्षरूप होती है और हम सिवाय एक ऐसे तक वाक्य से, जिसने पहले ही यह स्थापित किया हो कि यह अनुभव भी की गई थी और कुछ अन्य भी थी, कभी भी यह अनुमान करने मे समर्थ नही हो सकते कि यह अनुभव की गई थी। उसी प्रकार इस प्रतिज्ञा का, कि प्रत्यक्षगत उस समग्र का भाग है, जो कि 'सत्' से अभिप्रेत है, कुछ महत्व होना है तो इसका तात्पय यह होना चाहिये कि यह समग्र जैविक है— कम से कम इस अर्थ मे कि इसके अन्य अग या अगो की सम्भावना बिना प्रत्यक्षगत के नही हो सकती, चाहे प्रत्यक्षगत उनके बिना भी घटित हो सकता हो। मान लो कि हम इन अन्य घटकों (अगो) को 'य' कहते हैं। यह तक वाक्य कि सत् प्रत्यक्ष का समावेश करता है और इसलिए 'सत्' से 'प्रत्यक्ष' को अनुमित किया जा सकता है तभी महत्वपूर्ण हो सकता है यदि इसे इस प्रकार से प्रस्तावित करें कि प्रत्यक्ष को 'य' से अनुमित किया जा सकता है। अत इस प्रश्न की महत्ता, कि सम्पूर्ण सत् प्रत्यक्षगत के एक अश का समावेश करता है या नहीं, इस प्रश्न पर अवलम्बित है कि क्या आशिक 'य' अत्यावश्यक रूप से आशिक प्रत्यक्षगत से सम्बन्धित है ?

(३) और जैसा कि अब हम देखेंगे, इस प्रतिज्ञा का कि 'सत् प्रत्यक्षगत है,' केवल यही तृतीय सम्भव एव महत्वपूर्ण अथ है। 'सत् प्रत्यक्षगत है' यह प्रतिपादित करता है कि

जहाँ कहीं भी 'य' होगा वहीं प्रत्यक्षगतता भी होगी, और जिसमे भी 'य' का गुण होगा उसमें यह गुण भी होगा कि वह अनुभव किया जा सके। और चूँकि यह इस प्रकार है अत सुविधापूर्ण होगा यदि मुझे 'सत्' पद का उपयोग केवल 'य' को ही सूचित करने के लिए करने दिया जाय। मैं जिस बात को सिद्ध करना चाहता हूँ उसे पहले से ही नही मानना चाहता कि क्या साधारणतया हम 'सत्य' शब्द का जो अर्थ समझते हैं उसमे प्रत्यक्षरूपता और साथ ही साथ 'य' समाहित है या नहीं ? मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मेरी 'य' का निर्देश करने वाली सत् की परिभाषा केवल एक यादृच्छिक शाब्दिक परिभाषा मानी गई है। चाहे यह ऐसा हो या न हो, मनोरजक प्रश्न यही है कि क्या 'य' से प्रत्यक्षता को अनुमानित किया जा सकता है ? और इसे मैं इस प्रकार अभिव्यक्त करना पसन्द करूँगा क्या सत् से प्रत्यक्षगत का अनुमान किया जा सकता है ? केवल यह ध्यान देने योग्य है कि जब मैं 'सत्' कहता हूँ तो यह पद भविष्य में प्रत्यक्षरूपता का समावेश नही करेगा। यह केवल उस 'य' को निर्दिष्ट करता है जिसे कि आदर्शवादी, शायद सही रूप से, अपने शब्द 'सत्' के अन्तर्गत प्रत्यक्षता के सहित समाविष्ट कर लेते हैं। यदि वे इस तर्क वाक्य को पूर्णत पुनरुक्ति मात्र नही बना देना चाहते तो उन्हे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस प्रकार का एक य है और सो यह भी उन्हें मानना पड़ेगा कि इससे य प्रत्यक्ष का अनुमान सम्भव है, अन्यथा वे इसे एक पूर्णत अनुपयोगी तर्क वाक्य बना देंगे। यहाँ विवाद का विषय यह कदापि नही है कि केवल 'य' को सत् कहा जाय या नही कहा जाय, विवादास्पद बात यह है कि क्या प्रत्यक्ष रूप आवश्यक रूप से 'य' से सम्बद्ध है ?

अत हमने 'सत् प्रत्यक्षरूप है' में सयोजक अव्यय 'है' की अस्पष्टार्थकता को खोज लिया है, कम से कम यह देखने के लिए कि, यह सिद्धान्त दो भिन्न पदों मे ऐसे सम्बन्ध को प्रतिपादित करता है कि, जिसमे भी प्रथम गुण, जिसे कि मैं सत्ता कहता हूँ, है, उसमे अनिवार्यत दूसरा गुण, अनुभूत होने का, भी है। यह एक ओर तो सत् के बीच और दूसरी ओर 'प्रत्यक्षगत' के बीच अनिवार्य सम्बन्ध का विधान करता है। इन दोनो शब्दो मे से प्रत्येक एक स्वतन्त्र पद का निर्देश करता है, और सत् एक ऐसे पद का निर्देश करता है जिसमे 'प्रत्यक्षरूप' द्वारा निर्दिष्ट का समावेश नहीं होता। इस प्रकार 'सत् प्रत्यक्षरूप है', में हमें एक अनिवार्य सश्लेषणात्मक तर्क वाक्य के दर्शन होते हैं, जिसका मुझे खण्डन करना है। और मैं तुरन्त कह सकता हूँ कि इसका इस रूप मे खण्डन नही किया जा सकता। और यदि आदर्शवादी यह दृढ़ता पूर्वक कहना चाहें कि यह केवल स्वत सिद्ध सत्य है, तो मेरे पास केवल यही कहने को रह जायगा कि मुझे ऐसा दिखाई नही देता। लेकिन मेरा विश्वास है कि किसी भी आदर्शवादी ने कभी भी इसे इस रूप में नही माना है। यद्यपि इसी एक अर्थ मे, कि दो भिन्न पद अनिवार्यत सम्बन्धित हैं 'सत् प्रत्यक्षरूप है', का कोई तात्पर्य हो सकता है, यदि इसे सत्य और महत्वपूर्ण होना हो तो, किन्तु इसका दूसरा अर्थ भी सम्भव है, यदि इसे एक महत्वपूर्ण मिथ्यात्व होना हो। मुझे विश्वास है कि सारे आदर्शवादी इस महत्वपूर्ण मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। वे यह नहीं देख पाते कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है' यदि सत्य है

तो यह केवल एक स्वत सिद्ध सश्लेषणात्मक सत्य होगा, वे इसके साथ एक अन्य ऐसी प्रतिज्ञा का या तो समीकरण करते हैं अथवा उसे इसके लिए हेतु रूप मे प्रस्तुत करते हैं जो आत्म-व्याघाती होने के कारण असत्य है । यदि वे ऐसा नही करें तो उन्हे मानना पडेगा कि यह पूर्णत निराधार मान्यता (अभ्युपगम) है, और यदि उन्हे इसकी निराधारता का ज्ञान हो गया हो तो मैं नही सोचता कि वे इसकी सत्यता को स्वत सिद्ध मान लेंगे । हो सकता है कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है', प्रतिज्ञा उस अर्थ मे सत्य हो, जो अर्थ कि मैंने इसका देखा है—मैं इसका खण्डन नही कर सकता, किन्तु यदि इस अर्थ को स्पष्टतया समझ लिया जाय तो, मेरे विचार मे कोई भी यह विश्वास नही करेगा कि यह सत्य था । हम देख चुके हैं कि आदर्शवादियो को निस्सशय भाव से कहना चाहिये कि जो कुछ भी अनुभव किया जाता है वह अनिवार्यत वैसा ही है । और वे साधारणत इस सिद्धान्त को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि 'अनुभव के विषय को ज्ञाता से अलग करके ग्रहण नही किया जा सकता' (अर्थात् 'ज्ञेय ज्ञाता से विलग अग्राह्य है') । यहाँ तक मैं यह बात बताना चाहता था कि इस प्रतिपादन को महत्वपूर्ण सत्य होने लिये किस अर्थ को धारण करना चाहिए । अब मैं यह बताना चाहता हूँ कि यह एक महत्वपूर्ण अर्थ रख सकता है, जो कि इसके आत्म-व्याघाती होने के कारण मिथ्या होना ही चाहिए ।

दर्शन के इतिहास मे यह सर्वविदित तथ्य है कि साधारणतया अनिवार्य सत्यो को विशेषकर उनको जिनके बारे मे यह कहा गया है कि उनका विपरीत अग्राह्य है—इस अर्थ मे विश्लेषणात्मक माना गया है कि उनको नकारने वाला तक वाक्य आत्म-व्याघाती होता है । इस तरह काण्ट से पूर्व यह साधारणतौर पर माना जाता था कि बहुत से सत्यो को केवल विरोध-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है । अतएव यह एक साधारण सी भूल है जो आसानी से अत्युत्तम दार्शनिकों द्वारा भी की जा सकती है । काण्ट के बाद से भी बहुत से लोग इसको स्वीकार करते रहे हैं, लेकिन मुझे मालूम है कि उन आदर्शवादियों में, जो वास्तव में इस विशेषण के योग्य पात्र हैं, यह कहना अधिक फैशनेबुल हो गया है कि सत्य विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक दोनो होते हैं । किन्तु यहाँ मेरी रुचि उनके इस प्रतिपादन के विभिन्न हेतुओं को देखने मे नही है । किन्तु यह सम्भव है कि किन्ही सन्दर्भों मे यह प्रतिपादन उपयोगी और सही अर्थ धारण कर ले । लेकिन यदि हम विश्लेषणात्मक को उक्त परिभाषित अर्थ मे लें, अर्थात् जिसे केवल व्याघात नियम द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि—यदि सश्लेषणात्मक का अर्थ यह हो, जिसे केवल इसके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता तो कोई भी सत्य विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक साथ ही साथ नही हो सकता । अब मुझे यह प्रतीत होता है कि वे, जो सत्यो को मानते हैं, वे यह भी मानते है कि सत्य उपर्युक्त के अतिरिक्त अर्थों मे भी ऐसे है । हालाँकि यह अत्यन्त ही विषम है कि विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक के ऐतिहासिक अर्थ के ऐसे अनिवार्य अग का पूर्णतया बहिष्कार कर दिया गया हो, विशेषकर इसलिए कि इसके बहिष्कार की हमे कोई भी अभिव्यक्ति मान्य तो नही मिलती । उस स्थिति मे यह मानना उपयुक्त है कि अर्वाचीन आदर्शवादी

इस मत से प्रभावित हुए हैं कि कुछ नियम केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किए जा सकते हैं। मैं मानता हूँ कि वे स्पष्टतापूर्वक घोषणा भी करते हैं कि वे ऐसा नहीं कर सकते, लेकिन यह किसी भी प्रकार सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है कि वे ऐसा नहीं सोचते, क्योंकि दो परस्पर विरुद्ध मतों का मानना बहुत सरल है। अतः मैं यह सुझाना चाहता हूँ कि आदर्शवादी अनुभव के अन्तर्गत विषयी और विषय सम्बन्धी प्रस्तुत सिद्धान्त को मानते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि यह विश्लेषणात्मक सत्य है—इस सीमित अर्थ में कि यह केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है।

मैं यह सुझा रहा हूँ कि आदर्शवादी यह मानते हैं कि वस्तु और विषय अनिवार्यतः जुड़े हुए हैं, मुख्यतः इसलिए क्योंकि वह यह बिल्कुल नहीं देख पाता कि वे भिन्न हैं, कि वे दो हैं। जब वह पीले के बारे में सोचता है, और जब वह पीले के संवेदन के बारे में सोचता है तो वह यह नहीं देख पाता कि दूसरे में कुछ भी ऐसा है जो पहले में नहीं है। यदि ऐसा है तो इस बात से इन्कार करना कि पीला कभी भी पीले के संवेदन से अलग है, केवल इस बात से इन्कार करना है कि पीला कभी भी अपने से भिन्न नहीं हो सकता (अर्थात् पीला सर्वदा पीला रहेगा, वह रक्त नहीं हो सकता), क्योंकि 'पीला' और पीले का संवेदन पूर्णतः अभिन्न है। यह कहना कि पीला अनिवार्यतः अनुभव का विषय है, केवल यह कहना है कि पीला आवश्यक रूप से पीला है—यह एक विशुद्ध रूप से अभिन्न वाक्य है, और इसीलिए केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। अलबत्ता, इस तर्क वाक्य में यह भी निहित है कि आखिर अनुभव अवश्य ही पीले से कुछ भिन्न है—अन्यथा तो यह कहने का कोई कारण नहीं रह जायगा कि पीला एक संवेदन है इस प्रकार यह तर्क इस बात को मानता भी है और इन्कार भी करता है कि 'पीला' और 'पीले का संवेदन' भिन्न हैं, और यह मान्यता इस तर्क का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु इस अन्तर्विरोध को आसानी से नजरअन्दाज़ किया जा सकता है, क्योंकि, यद्यपि हम अन्य प्रसंगों में तो पूर्णरूपेण सहमत हैं कि 'अनुभव' का कुछ अर्थ है और यह कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण है, तथापि हम कभी भी स्पष्टतया नहीं जान पाते कि इसका क्या अर्थ है, और इसीलिए प्रत्येक विशिष्ट स्थिति में हम इसकी उपस्थिति को देख नहीं पाते। तथ्य अपने आपको विप्रतिषेधक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। (१) अनुभव कुछ विलक्षण और अन्य सब कुछ से विलग होता है, (२) हरे का अनुभव पूर्णतया हरे से अविभाज्य होता है, ये दो ऐसे तर्क-वाक्य हैं जो कभी भी एक साथ सत्य नहीं हो सकते। वे आदर्शवादी जो दोनों को मानते हैं, इस कठिनाई से केवल इस प्रकार से ही बच सकते है कि किसी सन्दर्भ में एक स्थिति से तर्क करें—और किसी में दूसरी से। लेकिन मैं इस बात से भलीभाँति परिचित हूँ कि ऐसे बहुत से आदर्शवादी हैं जो इस आरोप को निराधार बता कर इसका विरोध करेंगे, कि वे किसी संवेद अथवा प्रत्यय में तथा उसमें, जिसे मैं 'विषय' कहना चाहूँगा, भेद करने में असफल रहते हैं और मैं स्वीकार करता हूँ कि बहुत से ऐसे भी हैं जो हम सब की तरह न केवल परोक्षतः ही यह अर्थापतित करते हैं कि हरा रंग हरे संवेद से भिन्न है, अपितु स्पष्टतया इस भेद पर जोर देते हैं और इसे अपनी योजना का एक

तो यह केवल एक स्वत सिद्ध सश्लेपणात्मक सत्य होगा, वे इसके साथ एक अन्य ऐसी प्रतिज्ञा का या तो समीकरण करते हैं अथवा उसे इसके लिए हेतु रूप मे प्रस्तुत करते हैं जो आत्म-व्याघाती होने के कारण असत्य है। यदि वे ऐसा नही करें तो उन्हे मानना पडेगा कि यह पूर्णत निराधार मान्यता (अभ्युपगम) है, और यदि उन्हे इसकी निराधारता का ज्ञान हो गया हो तो मैं नही सोचता कि वे इसकी सत्यता को स्वत सिद्ध मान लेंगे। हो सकता है कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है', प्रतिज्ञा उस अर्थ मे सत्य हो, जो अर्थ कि मैंने इसका देखा है—मैं इसका खण्डन नही कर सकता, किन्तु यदि इस अर्थ को स्पष्टतया समझ लिया जाय तो, मेरे विचार मे कोई भी यह विश्वास नही करेगा कि यह सत्य था। हम देख चुके हैं कि आदर्शवादियो को निस्सशय भाव से कहना चाहिये कि जो कुछ भी अनुभव किया जाता है वह अनिवार्यत वैसा ही है। और वे साधारणत इस सिद्धान्त को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि 'अनुभव के विषय को ज्ञाता से अलग करके ग्रहण नही किया जा सकता' (अर्थात् 'ज्ञेय ज्ञाता से विलग अग्राह्य हैं')। यहाँ तक मैं यह बात बताना चाहता था कि इस प्रतिपादन को महत्वपूर्ण सत्य होने लिये किस अर्थ को धारण करना चाहिए। अब मैं यह बताना चाहता हूँ कि यह एक महत्वपूर्ण अर्थ रख सकता है, जो कि इसके आत्म-व्याघाती होने के कारण मिथ्या होना ही चाहिए।

दर्शन के इतिहास मे यह सर्वविदित तथ्य है कि साधारणतया अनिवार्य सत्यो को विशेषकर उनको जिनके बारे मे यह कहा गया है कि उनका विपरीत अग्राह्य है—इस अर्थ मे विश्लेषणात्मक माना गया है कि उनको नकारने वाला तक वाक्य आत्म-व्याघाती होता है। इस तरह काण्ट से पूर्व यह साधारणतौर पर माना जाता था कि बहुत से सत्यो को केवल विरोध-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। अतएव यह एक साधारण सी भूल है जो आसानी से अत्युत्तम दार्शनिको द्वारा भी की जा सकती है। काण्ट के बाद से भी बहुत से लोग इसको स्वीकार करते रहे हैं, लेकिन मुझे मालूम है कि उन आदर्शवादियो मे, जो वास्तव में इस विशेषण के योग्य पात्र हैं, यह कहना अधिक फैशनेबुल हो गया है कि सत्य विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक दोनो होते हैं। किन्तु यहाँ मेरी रुचि उनके इस प्रतिपादन के विभिन्न हेतुओ को देखने मे नही है। किन्तु यह सम्भव है कि किन्ही सन्दर्भों मे यह प्रतिपादन उपयोगी और सही अर्थ धारण कर ले। लेकिन यदि हम विश्लेषणात्मक को उक्त परिभाषित अर्थ मे लें, अर्थात् जिसे केवल व्याघात नियम द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि—यदि सश्लेषणात्मक का अर्थ यह हो, जिसे केवल इसके द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता तो कोई भी सत्य विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक साथ ही साथ नही हो सकता। अब मुझे यह प्रतीत होता है कि वे, जो सत्यो को मानते है, वे यह भी मानते हैं कि सत्य उपर्युक्त के अतिरिक्त अर्थो मे भी ऐसे हैं। हालाँकि यह अत्यन्त ही विषम है कि विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक के ऐतिहासिक अर्थ के ऐसे अनिवार्य अग का पूर्णतया बहिष्कार कर दिया गया हो, विशेषकर इसलिए कि इसके बहिष्कार की हमे कोई भी अभिव्यक्ति मान्य तो नही मिलती। उस स्थिति मे यह मानना उपयुक्त है कि अर्वाचीन आदर्शवादी

इस मत से प्रभावित हुए हैं कि कुछ नियम केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किए जा सकते हैं। मैं मानता हूँ कि वे स्पष्टतापूर्वक घोषणा भी करते हैं कि वे ऐसा नहीं कर सकते, लेकिन यह किसी भी प्रकार सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है कि वे ऐसा नहीं सोचते, क्योंकि दो परस्पर विरुद्ध मतों का मानना बहुत सरल है। अत मैं यह सुझाना चाहता हूँ कि आदर्शवादी अनुभव के अन्तर्गत विषयी और विषय सम्बन्धी प्रस्तुत सिद्धान्त को मानते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि यह विश्लेषणात्मक सत्य है—इस सीमित अर्थ मे कि यह केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है।

मैं यह सुझा रहा हूँ कि आदर्शवादी यह मानते हैं कि वस्तु और विषय अनिवार्यत जुड़े हुए हैं, मुख्यत इसलिए क्योंकि वह यह बिल्कुल नहीं देख पाता कि वे भिन्न हैं, कि वे दो हैं। जब वह पीले के बारे मे सोचता है, और जब वह पीले के संवेदन के बारे मे सोचता है तो वह यह नहीं देख पाता कि दूसरे मे कुछ भी ऐसा है जो पहले में नहीं है। यदि ऐसा है तो इस बात से इन्कार करना कि पीला कभी भी पीले के संवेदन से अलग है, केवल इस बात से इन्कार करना है कि पीला कभी भी अपने से भिन्न नहीं हो सकता (अर्थात् पीला सर्वदा पीला रहेगा, वह रक्त नहीं हो सकता), क्योंकि 'पीला' और पीले का संवेदन पूर्णत अभिन्न है। यह कहना कि पीला अनिवार्यत अनुभव का विषय है, केवल यह कहना है कि पीला आवश्यक रूप से पीला है—यह एक विशुद्ध रूप से अभिन्न वाक्य है, और इसीलिए केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। अलबत्ता, इस तर्क वाक्य मे यह भी निहित है कि आखिर अनुभव अवश्य ही पीले से कुछ भिन्न है—अन्यथा तो यह कहने का कोई कारण नहीं रह जायगा कि पीला एक संवेदन है इस प्रकार यह तर्क इस बात को मानता भी है और इन्कार भी करता है कि 'पीला' और 'पीले का संवेदन' भिन्न हैं, और यह मान्यता इस तर्क का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु इस अन्तर्विरोध को आसानी से नजरअन्दाज़ किया जा सकता है, क्योंकि, यद्यपि हम अन्य प्रसंगो मे तो पूर्णरूपेण सहमत हैं कि 'अनुभव' का कुछ अर्थ है और यह कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण है, तथापि हम कभी भी स्पष्टतया नहीं जान पाते कि इसका क्या अर्थ है, और इसीलिए प्रत्येक विशिष्ट स्थिति मे हम इसकी उपस्थिति को देख नहीं पाते। तथ्य अपने आपको विप्रतिवेधक के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। (१) अनुभव कुछ विलक्षण और अन्य सब कुछ से विलग होता है, (२) हरे का अनुभव पूर्णतया हरे से अविभाज्य होता है, ये दो ऐसे तर्क-वाक्य हैं जो कभी भी एक साथ सत्य नहीं हो सकते। वे आदर्शवादी जो दोनों को मानते हैं, इस कठिनाई से केवल इस प्रकार से ही बच सकते है कि किसी सन्दर्भ मे एक स्थिति से तर्क करें—और किसी मे दूसरी से। लेकिन मैं इस बात से भलीभाँति परिचित हूँ कि ऐसे बहुत से आदर्शवादी हैं जो इस आरोप को निराधार बता कर इसका विरोध करेंगे, कि वे किसी संवेद अथवा प्रत्यय मे तथा उसमे, जिसे मैं 'विषय' कहना चाहूँगा, भेद करने मे असफल रहते हैं और मैं स्वीकार करता हूँ कि बहुत से ऐसे भी हैं जो हम सब की तरह न केवल परोक्षत ही यह अर्थापतित करते हैं कि हरा रंग हरे संवेद से भिन्न है, अपितु स्पष्टतया इस भेद पर जोर देते हैं और इसे अपनी योजना का एक

महत्वपूर्ण अङ्ग मानते हैं। वे शायद केवल यही कहेगे कि दोनो मे एक अविभाज्य एकता है। लेकिन मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि बहुत से लोग जो इस वाक्याश का प्रयोग करते हैं, और जो इस भेद को स्वीकार भी करते हैं, केवल इसी बात के कारण इस आरोप से विमुक्त नही हो जाते कि वे इसका खण्डन करते हैं। क्योकि आजकल के दार्शनिको मे एक सिद्धान्त बहुत प्रचलित है, जिसमे एक अत्यन्त साधारण अन्तर्भाव (रिडक्शन) से यह प्रतिपादन निहित देखा जा सकता है कि दो भिन्न वस्तुएँ अलग हैं भी और नही भी हैं। एक भिन्नता का तो प्रतिपादन किया जाता है, किन्तु साथ ही यह भी माना जाता है कि वे भिन्न वस्तुएँ एक आवयविक सायुज्य (आर्गेनिक युनिटी) बनाती है। लेकिन ऐसे सावयव सायुज्य को बनाने वाले अवयवों के बारे मे यह माना जाता है कि प्रत्येक अङ्ग वह नही होगा जो वह है, यदि उसे दूसरे के सम्बन्ध से अलग देखा जाय तो। अत केवल किसी भी एक के बारे मे विचार करना एक अवैध पृथक्करण हो जायगा। यह ज्ञान कि 'सावयव सायुज्य' और 'अवैध पृथक्करण' इस अर्थ मे विद्यमान हैं—आधुनिक दर्शन की मुख्य विजयो मे से एक मानी जाती है। लेकिन इन पदो को क्या अर्थ दिया जाता है? एक पृथक्करण तभी अवैध होता है जब कि हम किसी एक अङ्ग के बारे मे यह प्रतिपादित करना चाहते हैं जो कि केवल सम्पूर्ण के लिये ही सत्य होता है, और यह स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि ऐसा नही किया जाना चाहिये। किन्तु इस सिद्धान्त का जो वास्तविक उपयोग किया गया है और शायद जिसे स्पष्टतया इसका अर्थ स्वीकार कर लिया जायेगा, वह उपयोगी होने के ठीक विपरीत है। इस सिद्धान्त का उपयोग इस प्रतिपादन के लिए किया गया है कि कतिपय पृथक्करण सभी स्थितियो मे अवैध होते हैं, अर्थात जब भी आप किसी ऐसी वस्तु के लिए, जो किसी सावयव समग्र का अंश है, कुछ भी कहना चाहें तो आप जो भी कहेंगे वह केवल समग्र के लिए ही सत्य होगा। और यह सिद्धान्त बजाय एक उपयोगी सत्य होने के, अनिवार्यत मिथ्या है। क्योकि यदि समग्र को अंश के लिए सब प्रतिज्ञाओ मे और सब प्रयोजनो के लिए प्रतिस्थापित किया जा सके, बल्कि किया जाना अनिवार्य हो तो यह केवल तभी हो सकता है यदि समग्र, अंश से पूर्णत अभिन्न हो। अत हमे जब यह कहा जाता है कि हरा और हरे का सवेद निश्चित रूप से ही भिन्न हैं, किन्तु फिर भी अविभाज्य हैं, कि एक को दूसरे से पृथक् करके देखना अवैध है, तो इन विधानो का यही अर्थ है कि, यद्यपि दो वस्तुएँ भिन्न हैं तथापि अन्य लोगो को उनसे ऐसे व्यवहार करना चाहिए जैसे वे भिन्न नही हो। अतएव बहुत से दार्शनिक जब कि इस भेद को स्वीकार करते हैं, तब भी (हेगल का अनुसरण करते हुए) वे जोरदार शब्दो मे—जो कि अपेक्षाकृत अधिक दुर्बोध होते हैं—इसको नही मानने के अपने अधिकार का आग्रह करते हैं। सयुक्त विश्लेषण और सश्लेषण के सिद्धान्त की भाँति ही सावयव सायुज्यताओ के सिद्धान्त का उपयोग भी जहाँ कही भी यह सुविधाजनक हो—दो विरोधी प्रतिज्ञाओ का एक साथ समर्थन करने के लिए किया जाता है। अन्य बातो की भाँति ही इस बात मे भी हेगल की दर्शन के प्रति मुख्य सेवा इस दोष का एक नाम देने और एक सिद्धान्त का रूप देने मे है। यह अनुभव सिद्ध है कि दार्शनिक लोग, शेष मानवता के अनुरूप ही, इस मिथ्यात्व के अहेर होते हैं। तो फिर इसमे आश्चर्य की क्या बात है यदि हेगल के अनुचर और प्रशसक हों!

अत अब तक मैं यह दिखा चुका हूँ कि जब आदर्शवादी अपने सिद्धात 'सत् प्रत्यक्ष-रूप है' का प्रतिपादन करता है तो, यदि यह सत्य है तो, इससे उसका तात्पय यह होना चाहिए कि जो कुछ भी अनुभव गम्य है उसका अनुभव होना चाहिए। और मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि वह इस प्रतिज्ञा का एक मिथ्या प्रतिज्ञा के साथ, जो कि आत्म-व्याघाती होने के कारण मिथ्या है, अभेद स्थापन कर सकता है या, इसे उसके लिए हेतु के रूप मे प्रस्तुत कर सकता है। लेकिन इस बिन्दु पर मैं अपने तक से पूर्णरूपेण अलग होने का प्रस्ताव करता हूँ। हम देख चुके हैं कि 'सत् प्रत्यक्ष रूप है' दो पदो के बारे में, जो कि एक दूसरे से उतने ही पृथक हैं जितने 'हरित' और 'मधुर' प्रतिपादित करता है कि जो भी इन में एक से विशेषित है, वह दूसरे से भी विशेषित होगा इसका आग्रह है कि 'सद्भाव' और 'अनुभूत भाव' अनिवार्यत जुडे हुए हैं कि जो भी है उसका अनुभव भी किया जाता है। और मैं स्वीकार करता हूँ कि सीधे तौर पर इसका खण्डन नही किया जा सकता। किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि यह मिथ्या है और मैं स्पष्ट कह चुका हूँ कि जो भी यह देखेगा कि 'सत्' और 'प्रत्यक्षरूप ठीक वैसे ही भिन्न हैं जैसे कि 'हरा' और 'मीठा', तो वह यह विश्वास करने को कभी भी तैयार नही होगा कि जो भी है उसका अनुभव भी किया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह यह नहीं मानेगा कि जो हरा है वह मीठा भी है। मैं यह भी कह चुका हूँ कि कोई भी—जो यह देख लेगा कि 'सत्' 'प्रत्यक्षरूप' से कितना भिन्न है—यह विश्वास नही करेगा कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है', लेकिन मैं इसे सिद्ध करने का प्रयत्न नही करूँगा। मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि वे सभी, जो यह विश्वास करते हैं कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है' एक आत्म-व्याघाती तक वाक्य का या तो इससे तादात्म्य कर देते हैं या इसके हेतु के रूप मे उपस्थित कर देते हैं लेकिन इसे भी मैं सिद्ध करने का प्रयास नही करूँगा। मैं केवल यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि कुछ तक-वाक्य, जिन पर विश्वास किया जाता है, मिथ्या हैं। किन्तु यहाँ मैं यह सिद्ध करने का प्रयत्न नही करूँगा कि इन पर विश्वास किया जाता है, और कि, इस विश्वास के विना 'सत् प्रत्यक्षरूप है', पर भी विश्वास नहीं किया जाता।

तो अब मैं 'क्या सत् प्रत्यक्षरूप है ?' इस अरुचिकर प्रश्न से भी अधिक अरुचिकर और अप्रासङ्गिक प्रतीत होने वाले प्रश्न 'सवेद या प्रत्यय क्या है?' पर आता हूँ।

हम सब जानते हैं कि नीले का सवेद हरे के सवेद से भिन्न होता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यदि दोनो सवेद हैं तो दोनो मे कुछ सामान्य बात भी होगी। यह क्या है जो उन दोनों मे समान है ? और यह समान तत्त्व उन स्थितियो से किस प्रकार सम्बन्धित है जिनमे वे एक-दूसरे से भिन्न हैं ?

मैं इस समान तत्त्व को 'चेतना' कहूँगा बिना यह कहने कि कोशिश किये कि जिसे मैं चेतना कहता हूँ, वह है। तब हमारे प्रत्येक सवेद मे दो पद होंगे (१) चेतना—जिसके सदभ मे सभी सवेद एक जैसे होंगे, और (२) कुछ अन्य—जिसके सदभ मे एक सवेद दूसरे से भिन्न होगा। यदि मुझे इस द्वितीय पद को सवेद का 'विषय' कहने दिया जाय तो यह सुविधा जनक होगा, और वह भी बिना यह बताने की कोशिश किये कि इस शब्द से मुझे क्या अथ

महत्वपूर्ण अङ्ग मानते हैं। वे शायद केवल यही कहेगे कि दोनो मे एक अविभाज्य एकता है। लेकिन मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि बहुत से लोग जो इस वाक्यांश का प्रयोग करते हैं, और जो इस भेद को स्वीकार भी करते हैं, केवल इसी बात के कारण इस आरोप से विमुक्त नही हो जाते कि वे इसका खण्डन करते हैं। क्योकि आजकल के दार्शनिको मे एक सिद्धान्त बहुत प्रचलित है, जिसमे एक अत्यन्त साधारण अन्तर्भाव (रिडक्शन) से यह प्रतिपादन निहित देखा जा सकता है कि दो भिन्न वस्तुएँ अलग हैं भी और नही भी हैं। एक भिन्नता का तो प्रतिपादन किया जाता है, किन्तु साथ ही यह भी माना जाता है कि वे भिन्न वस्तुएँ एक आवयविक सायुज्य (आर्गेनिक युनिटी) बनाती हैं। लेकिन ऐसे सावयव सायुज्य को बनाने वाले अवयवो के बारे मे यह माना जाता है कि प्रत्येक अङ्ग वह नही होगा जो वह है, यदि उसे दूसरे के सम्बन्ध से अलग देखा जाय तो। अत केवल किसी भी एक के बारे मे विचार करना एक अवैध पृथक्करण हो जायगा। यह ज्ञान कि 'सावयव सायुज्य' और 'अवैध पृथक्करण' इस अर्थ मे विद्यमान हैं—आधुनिक दर्शन की मुख्य विजयो मे से एक मानी जाती है। लेकिन इन पदो को क्या अर्थ दिया जाता है? एक पृथक्करण तभी अवैध होता है जब कि हम किसी एक अङ्ग के बारे मे यह प्रतिपादित करना चाहते हैं जो कि केवल सम्पूर्ण के लिये ही सत्य होता है, और यह स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि ऐसा नही किया जाना चाहिये। किन्तु इस सिद्धान्त का जो वास्तविक उपयोग किया गया है और शायद जिसे स्पष्टतया इसका अर्थ स्वीकार कर लिया जायेगा, वह उपयोगी होने के ठीक विपरीत है। इस सिद्धान्त का उपयोग इस प्रतिपादन के लिए किया गया है कि कतिपय पृथक्करण सभी स्थितियो मे अवैध होते हैं, अर्थात जब भी आप किसी ऐसी वस्तु के लिए, जो किसी सावयव समग्र का अंश है, कुछ भी कहना चाहें तो आप जो भी कहेंगे वह केवल समग्र के लिए ही सत्य होगा। और यह सिद्धान्त बजाय एक उपयोगी सत्य होने के, अनिवार्यत मिथ्या है। क्योकि यदि समग्र को अंश के लिए सब प्रतिज्ञाओ मे और सब प्रयोजनो के लिए प्रतिस्थापित किया जा सके, बल्कि किया जाना अनिवार्य हो तो यह केवल तभी हो सकता है यदि समग्र, अंश से पूर्णत अभिन्न हो। अत हमे जब यह कहा जाता है कि हरा और हरे का संवेद निश्चित रूप से ही भिन्न हैं, किन्तु फिर भी अविभाज्य हैं, कि एक को दूसरे से पृथक् करके देखना अवैध है, तो इन विधानो का यही अर्थ है कि, यद्यपि दो वस्तुएँ भिन्न हैं तथापि अन्य लोगो को उनसे ऐसे व्यवहार करना चाहिए जैसे वे भिन्न नही हों। अतएव बहुत से दार्शनिक जब कि इस भेद को स्वीकार करते हैं, तब भी (हेगल का अनुसरण करते हुए) वे जोरदार शब्दो मे—जो कि अपेक्षाकृत अधिक दुर्बोध होते है—इसको नहीं मानने के अपने अधिकार का आग्रह करते हैं। संयुक्त विश्लेषण और संश्लेषण के सिद्धान्त की भाँति ही सावयव सायुज्यताओ के सिद्धान्त का उपयोग भी जहाँ कही भी यह सुविधाजनक हो—दो विरोधी प्रतिज्ञाओ का एक साथ समर्थन करने के लिए किया जाता है। अन्य बातो की भाँति ही इस बात मे भी हेगल की दर्शन के प्रति मुख्य सेवा इस दोष का एक नाम देने और एक सिद्धान्त का रूप देने मे है। यह अनुभव सिद्ध है कि दार्शनिक लोग, शेष मानवता के अनुरूप ही, इस मिथ्यात्व के अहेर होते हैं। तो फिर इसमे आश्चर्य की क्या बात है यदि हेगल के अनुचर और प्रशंसक हों!

अब तक मैं यह दिखा चुका हूँ कि जब आदर्शवादी अपने सिद्धान्त 'सत् प्रत्यक्ष-रूप है' का प्रतिपादन करता है तो, यदि यह सत्य है तो, इससे उसका तात्पर्य यह होना चाहिए कि जो कुछ भी अनुभव गम्य है उसका अनुभव होना चाहिए। और मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि वह इस प्रतिज्ञा का एक मिथ्या प्रतिज्ञा के साथ, जो कि आत्म-व्याघाती होने के कारण मिथ्या है, अभेद स्थापन कर सकता है या, इसे उसके लिए हेतु के रूप मे प्रस्तुत कर सकता है। लेकिन इस बिन्दु पर मैं अपने तर्क से पूर्णरूपेण अलग होने का प्रस्ताव करता हूँ। हम देख चुके हैं कि 'सत् प्रत्यक्ष रूप है' दो पदों के बारे मे, जो कि एक दूसरे से उतने ही पृथक हैं जितने 'हरित' और 'मधुर' प्रतिपादित करता है कि जो भी इन में एक से विशेषित है, वह दूसरे से भी विशेषित होगा इसका आग्रह है कि 'सद्भाव' और 'अनुभूत भाव' अनिवार्यत जुड़े हुए हैं कि जो भी है उसका अनुभव भी किया जाता है। और मैं स्वीकार करता हूँ कि सीधे तौर पर इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि यह मिथ्या है और मैं स्पष्ट कह चुका हूँ कि जो भी यह देखेगा कि 'सत्' और 'प्रत्यक्षरूप' ठीक वैसे ही भिन्न हैं जैसे कि 'हरा' और 'मीठा', तो वह यह विश्वास करने को कभी भी तैयार नही होगा कि जो भी है उसका अनुभव भी किया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह यह नहीं मानेगा कि जो हरा है वह मीठा भी है। मैं यह भी कह चुका हूँ कि कोई भी—जो यह देख लेगा कि 'सत्' 'प्रत्यक्षरूप' से कितना भिन्न है—यह विश्वास नही करेगा कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है', लेकिन मैं इसे सिद्ध करने का प्रयत्न नही करूँगा। मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि वे सभी, जो यह विश्वास करते हैं कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है' एक आत्म-व्याघाती तर्क वाक्य का या तो इससे तादात्म्य कर देते हैं या इसके हेतु के रूप मे उपस्थित कर देते हैं लेकिन इसे भी मैं सिद्ध करने का प्रयास नही करूँगा। मैं केवल यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि कुछ तर्क-वाक्य, जिन पर विश्वास किया जाता है, मिथ्या हैं। किन्तु यहाँ मैं यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करूँगा कि इन पर विश्वास किया जाता है, और कि, इस विश्वास के बिना 'सत् प्रत्यक्षरूप है', पर भी विश्वास नही किया जाता।

तो अब मैं 'क्या सत् प्रत्यक्षरूप है ?' इस अरुचिकर प्रश्न से भी अधिक अरुचिकर और अप्रासङ्गिक प्रतीत होने वाले प्रश्न 'संवेद या प्रत्यय क्या है?' पर आता हूँ।

हम सब जानते हैं कि नीले का संवेद हरे के संवेद से भिन्न होता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यदि दोनो संवेद हैं तो दोनों मे कुछ सामान्य बात भी होगी। यह क्या है जो उन दोनो मे समान है ? और यह समान तत्त्व उन स्थितियो से किस प्रकार सम्बन्धित है जिनमे वे एक-दूसरे से भिन्न हैं ?

मैं इस समान तत्त्व को 'चेतना' कहूँगा बिना यह कहने कि कोशिश किये कि जिसे मैं चेतना कहता हूँ, वह है। तब हमारे प्रत्येक संवेद में दो पद होंगे (१) चेतना—जिसके संदर्भ मे सभी संवेद एक जैसे होंगे, और (२) कुछ अन्य—जिसके संदर्भ मे एक संवेद दूसरे से भिन्न होगा। यदि मुझे इस द्वितीय पद को संवेद का 'विषय' कहने दिया जाय तो यह सुविधा जनक होगा, और वह भी बिना यह बताने की कोशिश किये कि इस शब्द से मुझे क्या अर्थ

अपेक्षित है।

अत' प्रत्येक सवेद मे हमे दो तत्त्व मिलेंगे एक तो जिसे मैं चेतना कहता हूं, और दूसरा, जिसे मैं चेतना का विषय कहता हूँ। इसे ऐसा ही होना चाहिए यदि नीले का सवेद और हरे का सवेद किसी एक सदभ मे भिन्न हो किन्तु दूसरे मे एक जैसे हो, नीला सवेद का एक विषय है और हरा दूसरा, और चेतना जो दोनो सवेदो मे समान है, दोनो से ही भिन्न है।

लेकिन (यदि आगे और चलें तो पायेंगे कि) कभी तो नीले का सवेद मेरे मस्तिष्क मे रहता है और कभी यह नही रहता, और जैसा कि अब हम जानते हैं, नीले का सवेद दो भिन्न तत्वो को समाहित करता है—अर्थात् चेतना और नीले को—तो प्रश्न यह उठता है कि जब नीले का सवेदन रहता है तब चेतना रहती है या नीला रहता है या दोनो रहते हैं? और कम से कम यह बात तो स्पष्ट ही है कि तीनों विकल्प एक--दूसरे से भिन्न हैं। अत कोई भी हमसे यह कहता है कि यह कहना कि 'नीले का अस्तित्व है' इस कथन के जैसा ही है कि 'नीले और चेतना दोनो का अस्तित्व है' तो वह एक गलती करता है, और यह गलती आत्म-व्याघाती है।

लेकिन दूसरी बात भी स्पष्ट ही है, अर्थात् यह कि जब सवेद रहता है तो कम से कम निश्चिततया चेतना भी रहती ही है, क्योंकि जब मैं कहता हूं कि नीले और हरे दोनो सवेदो का अस्तित्व है, तो मेरा निश्चित रूप से यह तात्पर्य होता है कि जो दोनो मे समान है और जिसकी वजह से दोनो को सवेद कहा जाता है वह प्रत्येक परिस्थिति मे विद्यमान है। अत अब केवल एक ही विकल्प रह जाता है या तो दोनो विद्यमान रहते हैं या केवल चेतना विद्यमान रहती है। अत यदि हमसे कोई भी यह कहता है कि नीले का अस्तित्व नीले सवेद के अस्तित्व जैसा ही है तो वह गलती कर रहा है, और यह गलती आत्म--व्याघाती है, क्योंकि वह यह कह रहा है कि, या तो नीला नीले और चेतना दोनो जैसा ही है या वह केवल चेतना जैसा ही है।

इस प्रकार नीले का, या किसी भी और का जिसे मैंने सवेद का 'विषय' कहा है, उसका सम्बद्ध सवेद से तादात्म्य कर देना एक आत्म-व्याघाती दोष है। यह या तो एक अश का उस समग्र से तादात्म्य करना है जिसका कि यह अश है अथवा उसी समग्र के किसी अन्य अश के साथ उसका तादात्म्य करना है।

यह प्रतिपादन कि 'नीले का अस्तित्व है' वाक्य अर्थ हीन है यदि इससे हमारा अभिप्राय 'नीले के सवेग का अस्तित्व ह' नही है तो, पूर्णत असत्य और आत्म--व्याघाती है। यदि कोई हमे कहता है कि नीले का अस्तित्व सवेद से अतिरिक्त रूप मे अकल्पनीय है, तो वह सम्भवत इस अस्पष्ट वाक्य द्वारा एक आत्म--व्याघाती भ्रम का कथन करना चाहता है। क्योंकि हम नीले के अस्तित्व की कल्पना सवेद के अस्तित्व से पृथक् कर ही सकते हैं, और वह हमे अवश्य करनी चाहिए। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं न केवल यह कल्पना ही कर सकता हूं, अपितु मेरे विचार मे यह सत्य भी है। अत या तो 'अकल्प्य' विषय इस भयावह

स्थापना का अर्थ असत्य-मूलक है और आत्म-व्याघाती है या इसका केवल यह तात्पर्य है कि यह वस्तु-स्थिति है कि नीले का कभी भी अस्तित्व नहीं हो सकता जब तक कि इसके संवेद का भी अस्तित्व नहीं हो।

और यहाँ मुझे अपना यह मत नहीं छिपाना चाहिए कि कोई भी दार्शनिक अभी तक इस आत्म व्याघाती दोष का निवारण करने मे सफल नहीं हो सका है कि आदर्शवाद और अनीश्वरवाद दोनो के चमत्कृत कर देने वाले परिणाम नीले को नीले के संवेद से अभिन्न मान लेने पर ही प्राप्त हुए हैं, कि सत् को प्रत्यक्षरूप केवल इसलिये माना गया है क्योकि जिसका अनुभव किया जाता है उसे उसके अनुभव से अभिन्न माना जाता रहा है। शायद यह स्वीकार किया जा सकता है कि बर्कले और मिल ने यह भूल की है और कि आधुनिक आदर्शवादी भी यह भूल करते हैं, यह बात आगे जाकर अधिक सही प्रतीत होने लगेगी। लेकिन अपने मत की सम्भाव्यता के लिये दो प्रमाण प्रस्तुत करूँगा। प्रथम तो यह कि भाषा हमें 'नीले', 'हरे' व 'मीठे' विषयो को संवेद कहने के अतिरिक्त उनके निर्देश का और कोई भी साधन प्रस्तुत नहीं करती, उन्हे 'वस्तुएँ', 'विषय' या 'पद' कहना भाषा का स्पष्ट अतिक्रमण करना है। और इसी प्रकार हमारे पास 'कारणता' या 'समरूपता' तथा 'अभिन्नता' को निर्देशित करने का इसके अलावा और कोई स्वाभाविक साधन नहीं है कि हम उन्हें 'विचार', 'प्रत्यय' या 'अवधारणाएँ' कहे। लेकिन यह मुश्किल से ही सम्भव प्रतीत होता है कि यदि अतीत मे दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से संवेद या प्रत्यय मे, और उसमे जिसे मैंने इसका विषय कहा है, भेद किया होता तो विषय के लिये कोई अलग से नाम नहीं होता। उन्होंने सदैव इन दो भिन्न 'चीजों' को—यदि मैं उन्हें ऐसा कह सकूँ—एक ही नाम दिया है और इसलिए इस बात की कुछ सम्भावना है कि उन्होने इन 'चीजो' को दो और भिन्न नहीं माना वरन् एक और समान ही माना। और दूसरे, उन्होने ऐसा क्यो माना, इसके लिए एक बहुत अच्छा हेतु इस तथ्य मे है कि जब हम अपने भीतर झाँकते हैं और यह खोजने का प्रयत्न करते हैं कि नीले का संवेद क्या है, तो यह मानना बहुत सरल प्रतीत होता है कि हमारे सामने एक ही वस्तु है। 'नील' पदाभिधेय को पृथक् करना तो बहुत ही सरल है लेकिन दूसरा तत्त्व, जिसे मैंने 'चेतना (वह जो नीले और हरे के संवेदनों में सामान्य है) कहा है उसे स्पष्टांकित करना अत्यन्त ही कठिन है। बहुत से मनुष्य इसको स्पष्ट झाँकने मे सर्वथा असफल रहते हैं, यह इस बात से पर्याप्त स्पष्ट देखा जा सकता है कि कुछ लोग भौतिकवादी हैं। और सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि जो नीले के संवेद को एक मानसिक तथ्य बनाता है, हमारी पकड मे नहीं आता और यदि मुझे एक रूपक का प्रयोग करने की अनुमति हो तो मैं कह सकता हूँ कि यह पारदर्शी प्रतीत होता है—हम इसमें से देखते है और 'केवल नीले' को ही देखते हैं, हम निश्चिततया यह भी मान सकते है कि कुछ है, किन्तु वह क्या है यह, मेरे विचार मे, अभी तक किसी भी दार्शनिक को स्पष्टतः ज्ञात नहीं है।

लेकिन यह एक अवान्तर चर्चा थी। अभी तक मैंने जो स्थापित किया वह यह था कि प्रत्येक संवेद या प्रत्यय मे हमें दो तत्त्वो को अलग अलग करना चाहिए—(१) 'विषय' या वह

जिसमे एक सवेद दूसरे से भिन्न होता है, और (२) 'चेतना', या वह जो सब मे समान है—वह जो उन्हे सवेद या मानसिक तथ्य बनाती है । चूँकि यह ऐसा है, इसलिये इससे यह अनुगमित होता है कि जब एक सवेद या प्रत्यय का अस्तित्व हो तो हमे इन विकल्पो मे से चुनना होगा कि, या तो केवल विषय का या केवल चेतना का या दोनो का, अस्तित्व है, और मैंने यह दिखाया कि इन विकल्पो मे एक, जो केवल 'विषय' का अस्तित्व मानता है, इस तथ्य के कारण अपवर्जित हो जाता है कि जिस बात को हम कहना चाहते हैं वह यह कि एक मानसिक तथ्य का अस्तित्व है । अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या दोनो का अस्तित्व है ? या केवल चेतना का अस्तित्व है ? और इस प्रश्न का आज तक जो सार्वभौम उत्तर दिया गया है वह यह है कि दोनो का अस्तित्व है । यह उत्तर किसी भी सवेद या प्रत्यय के अन्तगत 'विषय' के 'चेतना' के साथ सम्बन्ध यहाँ अभी तक स्वीकृत विश्लेषण से अनुगमित होता है । यह माना जाता रहा है कि जिसे मैं विषय कहता हूँ वह केवल मात्र सवेद या प्रत्यय का वस्तु तत्त्व (कॉटेंट) है । यह भी माना जाता रहा है कि प्रत्येक अवस्था मे हम दो, और केवल दो, तत्वो को ही विलग कर सकते हैं (१) यह तथ्य कि सवेद या अनुभव है, और (२) जो कुछ भी सवेदन या अनुभव किया जाता है—सवेद या प्रत्यय, यह कहा गया है कि, वह एक समग्र बनाता है जिसमे हमे दो 'अविश्लेष्य तत्वो' को भिन्न करना चाहिए—अर्थात् वस्तुतत्त्व (कॉटेंट) और 'अस्तित्व'। मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि यह विश्लेषण मिथ्या है, और इसके लिये एक ऐसा प्रश्न पूछूँगा जो असाधारण दिखाई दे सकता है अर्थात् यह कहने का क्या तात्पर्य है कि एक चीज दूसरी का वस्तुतत्त्व है ? यह प्रश्न सामान्यत प्रत्याशित नही है, क्योकि यह पद ऐसे प्रयुक्त किया जाता है मानों इसे सब समझते ही हैं । लेकिन चूँकि मैं यह मानने जा रहा हूँ कि 'नीला' 'नीले' के सवेद का वस्तुतत्त्व नही है, और जो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि यदि यह हो तो भी यह विश्लेपण नीले के सवेद मे जो बहुत महत्वपूर्ण तत्त्व है उसे छोड देगा, अत यह आवश्यक है कि मैं स्पष्टत यह बताने का प्रयत्न करूँ कि वह क्या है जिसका मैं निषेध करूँगा ।

तब यह कहने का क्या तात्पय है कि एक वस्तु दूसरी का अश है ? सबसे पहले मैं यह बताना चाहूँगा कि 'नीले' को उचित ही नीले पुष्प की अन्तर्वस्तु का एक हिस्सा कहा गया है । अत यदि हम यह भी कहें कि यह नीले के सवेद की अन्तवस्तु का भाग है, तो हम कह सकते हैं कि इसका सम्बन्ध समग्र के अन्य भागो से (यदि कोई हो) वही है जो यह नीले पुष्प के अन्य भागों से रखता है — और तब हम केवल यह कह सकते हैं कि इसका नीले के संवेद से कोई भी ऐसा सम्बन्ध नही हो सकता जो इसका नीले पुष्प से न हो सके । और हम देख चुके हैं कि नीले के सवेद मे नीले के अतिरिक्त एक और भी तत्त्व विद्यमान है जिसे मैंने 'चेतना' कहा है, जो इसे संवेदन बनाती है । अत जब तक हम यह कहते हैं कि नीला सवेद का अश है, तो हम यह दृढ़ निश्चय के साथ कहना चाहते हैं कि इसका चेतना से भी वही सम्बन्ध है जो इसका नीले पुष्प के अन्य हिस्सो से है हम केवल यही कहना चाहते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ नही कहना चाहते । इस प्रश्न मे कि, नीले और नीले पुष्प मे वस्तुत क्या

सम्बन्ध है जिसके कारण हम पूर्वोक्त भाग को अन्तवस्तु कहते है, मैं नही उलझना चाहता। मेरे उद्देश्य के लिए तो यह बताना ही पर्याप्त है कि यही वह बहुचर्चित सामान्य सम्बन्ध है जो एक पदार्थ और उसके गुणों मे होता है, और कि, यह सम्बन्ध ऐसा है कि यह कहना कि पदार्थ का अस्तित्व है यह समाहित करता है कि गुणों का भी अस्तित्व है। जब हम पदार्थ के अस्तित्व का कथन करते हैं तो हम उसकी मात्रा के अस्तित्व का भी कथन करते है।

इसलिए जब नीले को 'नीले के सवेद' की अन्तवस्तु का भाग कहा जाता है तो पिछले को वैसा ही समझा जाता है मानो यह एक ऐसा समग्र हो जो किसी भी अन्य 'वस्तु' की भाँति ही बना हो। इस दृष्टि से 'नीले का सवेद नीले मनके या नीली दाढ़ी से उसी प्रकार भिन्न होता है जैसे ये दोनो एक-दूसरे से भिन्न हैं नीले मनके नीली दाढी से इस बात मे भिन्न हैं कि जब कि पहले मे कांच है, दूसरे मे बाल हैं, और नीले का सवेद दोनो से इस बात मे भिन्न है कि कांच और बाल के स्थान पर इसमे चेतना है। नील से चेतना के सम्बन्ध को ठीक उसी प्रकार देखा जाता है जैसे कि नीले का कांच या बाल से है यह तीनो ही परिस्थितियो मे किसी पदार्थ का गुण है।

लेकिन मैंने अभी कहा कि नीले के सवेद का विश्लेषण अन्तवस्तु' और 'अस्तित्व' मे किया गया है, और नीले को नीले के प्रत्यय का अश कहा गया है। यहाँ इसमे एक अस्पष्टता है और एक सम्भव दोष है जिसे मुझे आगे बढ़ने से पूव नोट करना चाहिए। 'अन्तवस्तु' शब्द का दो अर्थों मे प्रयोग किया जा सकता है। यदि हम 'अन्तवस्तु' का व्यवहार ब्रैडले द्वारा प्रयुक्त 'क्या' के समान ही करें—यदि इसके द्वारा हम उस सब को घोषित करना चाहे, जिसका अस्तित्व है, जब कि उस पदार्थ का अस्तित्व हो, तब तो निश्चिततया ही नीला नीले के सवेद का अश नही हो सकता और पद के इस अथ मे सवेद की अन्तवस्तु का एक भाग वह दूसरा तत्त्व है जिसे मैंने चेतना कहा है। अतएव इस सवेद का विश्लेषण एक ओर तो 'अन्तवस्तु' और 'नीले' मे और दूसरी ओर केवल अस्तित्व मे अवश्य ही मिथ्या है, और इसमे पुन 'नीले का अस्तित्व' और 'नीले के सवेद के अस्तित्व' की अभिन्नता मे आत्म--व्याघात है। लेकिन एक और अथ मे, जिसमे 'नीले' को सवेद की एक मात्र अन्तवस्तु कहा जा सकता है—अर्थात् उस अथ मे जिसमे कि 'अन्तवस्तु' 'द्रव्य' या 'भौतिक तत्त्व' का विपरीतार्थक है। क्योकि 'चेतना' तत्त्व सभी सवेदो मे समान होने के कारण उपयुक्त रूप से और निश्चय ही, किसी अथ मे उनका द्रव्य माना जाता है, और प्रत्येक की 'अन्तर्वस्तु' अभिप्रेत है वह तत्त्व जिसकी अपेक्षा से एक से दूसरा भिन्न होता है। तब इस अथ मे 'नीले' को 'सवेद' की एकमात्र अन्तवस्तु कहा जा सकता है, लेकिन कम से कम उस अवस्था मे 'अन्तवस्तु' और 'अस्तित्व' मे विश्लेषण भ्रामक हो जायगा क्योकि 'अस्तित्व' पद के अथ मे उसका समावेश करना भी आवश्यक है जो 'सवेद' में नीले से अतिरिक्त अस्तित्ववान है।

अत यह एक सवमान्य मत है कि नीला नीले के सवेद या प्रत्यय से उसकी अन्तर्वस्तु के रूप मे सम्बन्धित है, और इस विचार का यदि इसे सत्य होना हो तो, यह तात्पर्य होना चाहिये कि नीला उसका भाग है जिसको अस्तित्ववान तब कहा जाता है जब कि हम कहते

हैं कि संवेद का अस्तित्व है। और यह कहना कि संवेद अस्तित्ववान् है इन दोनो कथनो के बराबर है कि नीले का अस्तित्व है और 'चेतना' का भी—चाहे हम इसे द्रव्य कहे, जिसका 'नीला' एक मात्र अन्तर्वस्तु है, और चाहे इसे अन्तवस्तु का अन्य भाग कहे। कोई भी संवेद प्रत्यय एक 'वस्तु' है, और जिसे मैंने इसका विषय कहा है वह इस वस्तु का गुण है। ऐसी 'वस्तु' वह है जिसे हम तब सोचते हैं जब हम मानसिक बिम्ब को सोचते हैं। एक मानसिक बिम्ब को ऐसा माना जाता है जैसे कि यह उससे, जिसका (यदि वस्तु है) यह बिम्ब है, ठीक उसी प्रकार से सम्बन्धित है जैसे कि दर्पण मे अंकित बिम्ब उससे सम्बन्धित होता है जिसकी कि यह प्रतिच्छवि होता है, दोनो ही परिस्थितियो मे अन्तवस्तु की एकरूपता है, दर्पण का बिम्ब मन के बिम्ब से केवल इस बात मे भिन्न है कि एक अवस्था मे तो दूसरा घटक काँच है जबकि दूसरी अवस्था मे यह चेतना है। यदि प्रतिबिम्ब नीले का हो तो इसके चेतना से नही अपितु काँच से सम्बन्ध के बारे मे विचार किया जाता है, इसे केवल मात्र इसकी अन्तवस्तु मान लिया जाता है। और इस तथ्य के कारण कि संवेद और प्रत्यय इस वर्णन के समग्र माने जाते हैं—मन की अन्तगत वस्तुएँ—इसलिए यह प्रश्न कि हम क्या जानते हैं? इस प्रश्न का पर्याय माना जाता है कि हमारे पास इस मान्यता का क्या हेतु है कि मन के बाहर वैसी ही वस्तुओ का अस्तित्व है जैसी वस्तुओ का मन के भीतर है? अत मैं जो बताना चाहता हूँ वह यह है कि (१) हमारे पास यह मानने के कोई कारण नही हैं कि मानसिक बिम्ब नाम की कोई चीजें भी हैं—और यह मानने के लिए भी कि, नीला नीले के संवेद की अन्तवस्तु का भाग है, और (२) यदि मानसिक बिम्ब हो भी तो, कोई भी मानसिक बिम्ब और कोई भी संवेद या प्रत्यय केवल इस प्रकार का पदार्थ नही है वह 'नीला' यदि यह नीले के बिम्ब या संवेद या प्रत्यय की अन्तवस्तु का भाग हो तो भी इससे सदा किसी अन्य प्रकार से भी सम्बन्धित रहता है, और यह अन्य सम्बन्ध ही—जिसकी पारस्परिक विश्लेषण मे उपेक्षा की गई है — केवल एक सम्बन्ध है जो नीले के संवेद को एक मानसिक तथ्य बनाता है।

किसी भी संवेद या प्रत्यय का ठीक विश्लेषण निम्न प्रकार का होता है वह तत्त्व, जो कि सबमे समान रूप से विद्यमान है और जिसे मैंने 'चेतना' कहा है वह वस्तुत ही चेतना है। वास्तव मे संवेद 'जानना' या 'अवगत होना' या 'अनुभव होना' है। जब हम यह जानते हैं कि नीले का संवेद अस्तित्वमान है तो हम जो तथ्य जानते हैं वह यह है कि नीले की अवगति का अस्तित्व है। और यह अवगति अपने आप मे केवल स्फुट और विलक्षण ही नही है, नीले से सर्वथा अलग, वरन् यह नीले से पूर्णत स्फुट और विलक्षण रूप से सम्बन्धित भी है, यह सम्बन्ध न तो वैसा है जैसा पदार्थ या द्रव्य का अन्तवस्तु से होता है और न ही वैसा जैसा अन्तवस्तु के एक भाग से इसके दूसरे भाग का होता है। यह सम्बन्ध केवल वह है जिसका अर्थ प्रत्येक अवस्था मे 'जानना' है। अपने मस्तिष्क मे नीले के ज्ञान को रखने का मतलब अपने मस्तिष्क मे किसी 'पदार्थ' या 'प्रतिबिम्ब' को रखना नही है, जिसका कि नीला 'अन्तवस्तु' हो। नीले के संवेद की अवगति का तात्पर्य किसी मानसिक प्रतिबिम्ब से अवगत

होना नहीं है, ऐसी वस्तु से जिसके कि 'नीला' और कोई दूसरा तत्त्व उसी अर्थ मे घटक हो जिस अर्थ मे कि नीला और कांच नीले मनके के घटक होते है। यह तो नीले कि अवगति ने अवगत होना है, यहाँ दोनों परिस्थितियों मे अवगति का प्रयोग बिल्कुल एक ही अर्थ मे किया गया है। हम देख चुके है कि इस तत्त्व की 'अन्तर्वस्तु' सिद्धान्तवादियों द्वारा उपेक्षा की गई है यह सिद्धान्त इस तथ्य को अभिव्यक्त करने मे पूर्णरूपेण असफल हो जाता है कि नीले के सवेद मे नील और दूसरे घटक के बीच यह एक विलक्षण सम्बन्ध है। और मेरा यह दावा है कि यह चूक केवल अभिव्यक्ति के प्रमाद के कारण नहीं है, अपितु इसलिए है कि यद्यपि दार्शनिकों ने यह देख लिया है कि 'चेतना' से कुछ भिन्न अभिप्रेत है, किन्तु वे अभी तक यह स्पष्ट अवधारणा नहीं कर पाये कि यह 'कुछ' क्या है। वे उसे और नीले को अपने मन के समक्ष रख कर इनकी तुलना उस प्रकार से नहीं कर सकते जिस प्रकार वे नील और हरे की तुलना कर सकते हैं। और यह उसी कारण है जो मैं ऊपर दे चुका हूँ, अर्थात् जिस क्षण हम चेतना पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं और देखना चाहते है कि स्पष्टत यह क्या है, उसी क्षण यह तिरोहित होती दिखलाई पड़ती है ऐसा दृष्टिगोचर होता है मानो हमारे समक्ष केवल शून्यता रही हो। जब हम नीले सवेद के मानस-दर्शन का प्रयत्न करते हैं तो हमे केवल नीला ही दिखाई देता है, दूसरा तत्त्व ऐसा है मानो यह दर्शक हो। तब भी यदि हम खूब ध्यानपूर्वक देखें, और यदि हम यह जानें कि कुछ देखने के लिए है तो उसे भिन्न किया जा सकता है। इस परिच्छेद में मेरा उद्देश्य पाठक को इसे दिखाने का प्रयत्न करना रहा है, किन्तु मुझे याद है कि मैं उसमे बहुत कम सफल हुआ हूँ।

अब चूँकि इस अवस्था में नीले का सवेद अपने विश्लेषण मे नीले के अतिरिक्त एक विलक्षण तत्त्व 'अवगति' और एक विलक्षण सम्बन्ध को—जो कि इस तत्त्व का नीले से है—समाहित करता है, अत मैं अपने अर्थ को दो भिन्न तर्क वाक्यों द्वारा स्पष्ट कर सकता हूँ, (१) कि सम्भवतया नीला सवेद की 'अन्तर्वस्तु' का भाग बिल्कुल भी न हो, यदि नीले का इससे केवल यही सम्बन्ध हो तो। अत प्रथम अभ्युपगम को अब यह कह कर अभिव्यक्त किया जा सकता है कि, यदि यह सत्य रहा हो, तब जब कि नीले के सवेद का अस्तित्व है वहाँ नीले की अवगति का भी अस्तित्व है कोई इस अभिव्यक्ति से चिढ सकता है, किन्तु तब भी यह ठीक वह अभिव्यक्त करता है जो कि इस कथन का अर्थ होना चाहिए और जो इस अवस्था मे इस कथन से अभिप्रेत है कि, नीला चेतना या अनुभव की अन्तर्वस्तु है। जब मुझे नीले का सवेद होता है तब मेरी चेतना या प्रज्ञा भी नीली होती है या नहीं, इस सम्बन्ध मे अन्तर्दर्शन मुझे विनिश्चित होने मे सक्षम नहीं बनाता केवल मुझे यह सोचने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता कि यह ऐसा है। लेकिन यह ऐसा है या नहीं, यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि अन्तर्दर्शन मुझे यह निश्चित करने में सक्षम बनाता है कि कुछ और भी सत्य है, अर्थात् कि मुझे नीले की अवगति है, और इससे मेरा तात्पर्य है कि मेरी अवगति नीले से एक बिल्कुल अलग और भिन्न सम्बन्ध रखती है। मैं मानता हूँ कि यह सम्भव है कि मेरी अवगति नीली भी हो और साथ ही साथ नीले की भी हो, लेकिन जिसके बारे मे मैं बिल्कुल निश्चित

हूँ वह यह है कि यह नीले की है, कि इसका नीले से एक सरल और विलक्षण सम्बन्ध है जिसका अस्तित्व ही केवल हमारे वस्तु के ज्ञान और ज्ञान वस्तु के, और इस प्रकार से मन और भूत के भेद को तर्क सगत सिद्ध करता है। और इस निष्कर्ष को मैं यह कह कर प्रकट कर सकता हूँ कि जिसे सवेद की अन्तर्वस्तु कहा जाता है वह वास्तव मे वही है जो मैंने आरम्भ में इसे कहा था अर्थात् सवेद का विषय।

परन्तु यदि यह सब सत्य है तो इससे क्या अनुगमित होता है ?

आदर्शवादी स्वीकार करते हैं कि कुछ वस्तुओ का यथाथत अस्तित्व है, जिनका कि उन्हे ज्ञान नही है वे मानते हैं कि कुछ वस्तुएँ हैं जो उनके अनुभव से अवियोज्य तत्त्व नही हैं, यद्यपि वे किसी अन्य अनुभव के अवियोज्य तत्त्व हो सकती हैं। आगे उनकी यह भी धारणा है कि कतिपय वस्तुओ का जिनकी उन्हे कभी--कभी अवगति होती है, तब भी अस्तित्व होता है जब उन्हे उनकी अवगति नही भी होती, उदाहरण के लिए--वे यह मानते हैं कि उन्हें कभी--कभी अन्य मस्तिष्को की अवगति होती है, जो तब भी अस्तित्ववान रहते हैं जब कि उन्हें उनकी अवगति नही होती। अत उन्हे कभी--कभी ऐसी वस्तु की भी अवगति होती है जो उनके स्वय के अनुभव से अवियोज्य नही होती। वे कुछ ऐसी वस्तुओ को भी जानते हैं जो उनके अनुभव के केवल भाग या अन्तवस्तुएँ नही होती। और मैंने सवेद के अपने विश्लेषण की योजना इस प्रयोजन के अनुरूप की है कि यह दिखाया जा सके कि जब एक सवेद या प्रत्यय घटित होता है तब मैं कुछ ऐसे के बारे मे अवगत होता हूँ जो समान रूप से और उसी अर्थ मे मेरे अनुभव का अवियोज्य पक्ष नही होता। वह अवगति जिसको मैंने सवेद मे समाविष्ट माना है, वही विलक्षण तथ्य है जो सब प्रकार के ज्ञान की रचना करता है 'नीला' मेरे अनुभव का उतना ही विषय है, और इसका केवल मात्र अन्तर्वस्तु होना उतना ही कम सम्भव है जितनी कि मेरी अवगति मे कोई भी महान् और स्वतन्त्र सत् वस्तु। इसलिए यह कोई प्रश्न नही है कि हम अपने प्रत्ययो और सवेदों के चक्र से बाहर कैसे निकलें। सवेद का होना मात्र ही उस चक्र से बाहर होने का सूचक है। यह ऐसी वस्तु को जानने जैसा है जो कि उचित रूप से मेरे अनुभव से उतनी ही पृथक् है जितना कुछ भी हो सकता है।

अब मैं समझता हूँ कि मैं यह प्रतिपादित करने मे गलत नही था कि आदर्शवादी ऐसा क्यो मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु जो है, उसे किसी अनुभव का अवियोज्य पहलू होना चाहिए, वह कारण यह है कि वे कम से कम कुछ वस्तुओ को अपने अनुभव का अवियोज्य पहलू मानते हैं। और वास्तव में निश्चित रूप से कुछ भी ऐसा नहीं है—सिवाय उसके जिसे वे सवेदो और प्रत्ययो की अन्तर्वस्तु कहते हैं—जिसको वे अपने अनुभव का अवियोज्य पहलू मानने मे इतनी दृढता से विश्वास करते हैं। इसलिए यदि यह प्रत्येक अवस्था मे—चाहे वह अन्तर्वस्तु हो या नही। कम से कम इसके अनुभव का अवियोज्य पहलू न बन जाय, तो यह तुरन्त मान लिया जायगा कि और कुछ भी, जिसको हमने कभी भी अनुभव किया हो ऐसा अवियोज्य पहलू नही है—लेकिन यदि हमने कभी भी, सिवाय उसके जो कि उस अनुभव का अवियोज्य पहलू नही है, किसी भी अन्य वस्तु का अनुभव न किया हो तो हम यह कैसे अनुमान कर सकते हैं कि

जो कुछ भी है वही या सभी कुछ किसी भी अनुभव का अवियोज्य पहलू है ? इन स्पष्टतम प्रकाश मे यह धारणा कि 'सत् प्रत्यक्षरूप' है कैसी सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। परन्तु मैं सोचता हूँ कि, यह देखा जा सकता है कि यदि आदर्शवादी के संवेद का विषय, जैसा कि वह समझता है, विषय नही होकर केवल उस संवेद की अन्तवस्तु हो, अर्थात् यदि वस्तुत ही यह उसके अनुभव का अवियोज्य पहलू हो, तो प्रत्येक आदर्शवादी कभी भी न तो स्वयं से ही और न ही किसी अन्य सत वस्तु से अवगत हो सकेगा। क्योंकि किसी भी संवेद का इसकी वस्तु से सम्बन्ध निश्चित रूप से उसी तरह का होता है जैसा कि किसी भी अन्य अनुभव या उसके विषय से होता है, और मैं सोचता हूँ कि साधारणतया यह आदर्शवादियो द्वारा भी माना जाता है वे उतने ही तत्परता से यह भी प्रतिपादित करते हैं कि जो भी निर्णीत किया या सोचा या देखा जाता है वह उस निर्णय का विचार या प्रत्यक्ष ज्ञान की अन्तवस्तु होती है, जैसे कि नीला नीले के संवेद की अन्तवस्तु है। लेकिन यदि ऐसा हो तो जब कोई भी आदर्शवादी यह सोचे कि उसे स्वयं की अवगति है, या किसी अन्य की है, तो यह वस्तुत नही हो सकता। तथ्य यह है कि, उसके स्वयं के सिद्धान्त द्वारा भी—कि वह स्वयं और अन्य व्यक्ति वास्तव मे केवल एक अवगति की अन्तवस्तुएँ हैं, जो (अवगति) कि स्वयं किसी से अवगत नही है। अत जो कुछ भी कहा जा सकता है वह यह है कि उसमे किसी निश्चित अन्तर्वस्तु की अवगति है, परन्तु यह कभी सत्य नहीं हो सकता कि उसमे किसी भी वस्तु की चेतना है। और इसी प्रकार उसे इस तथ्य की भी कभी अवगति नही हो सकती कि उसका अस्तित्व है या कि सत्ता आध्यात्मिक है। वास्तविक तथ्य—जिसका वर्णन वह उन पदो मे करता है—यह है कि उसका अस्तित्व और सत्ता की आध्यात्मिकता एक अवगति की अन्तवस्तुएँ हैं, जिसे कि किसी का भी भान नही है। तब तो निश्चित रूप से उसे स्वयं की अन्तवस्तु का भी भान नही हो सकता।

और भी, यदि वह प्रत्येक वस्तु जिसको कि वह सोचता है कि उसे अवगति है—वास्तव मे उसके स्वयं के अनुभव की केवल अन्तवस्तु हो, तो उसके पास इस धारणा का कोई कारण नही रह जाता कि उसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व भी है अलबत्ता यह सम्भव होगा कि अन्य व्यक्तियो का अस्तित्व हो, सॉलिपसिज्म आवश्यक रूप से सत्य नही होगा, किन्तु वह अपनी किसी भी धारणा से सम्भवतया यह अनुमान नहीं कर सकेगा कि यह सत्य नही है। अलबत्ता उसके इस आधार वाक्य से कि उसका स्वयं का अस्तित्व है, अनुगमित हो जायेगा कि बहुत सी वस्तुएँ उसके अनुभव की अन्तवस्तुएँ हैं। लेकिन चूँकि प्रत्येक वह पदार्थ जिसके बारे मे वह सोचता है कि उसे (उसकी) अवगति है, वास्तव मे केवल मात्र उस अवगति का अवियोज्य पहलू है, तो यह आधार वाक्य किसी भी इस अनुमान को स्वीकार नही करता है कि इन अन्तवस्तुओ में से किसी का भी अवगति की अन्तवस्तु होने से भिन्न, अस्तित्व है, अन्य चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व तो दूर की बात है।

ये परिणाम हैं जो आदर्शवादी की इस मान्यता से अनुगत होते हैं कि किसी अनुभव का विषय वास्तव मे केवल उसकी अन्तवस्तु होती है अथवा अवियोज्य पहलू ही होता है,

इससे वे परिणाम अनुगत नही होते जो वह समझता है कि होते हैं। और दूसरी ओर, यदि हमे स्पष्टत उस विलक्षण सम्बन्ध स्वभाव के बारे मे ज्ञान हो जिसे मैंने 'किसी भी वस्तु की अवगति कहा है, यदि हम यह देख लें कि यह समान रूप से प्रत्येक अनुभव के विश्लेषण में निहित है-सरल सवेद से लेकर अत्यन्त विकसित प्रत्यक्ष ज्ञान या विमर्श तक में, और यह कि तथ्यत केवल मात्र यही किसी अनुभव का आधारभूत तत्त्व है—एक मात्र ऐसी वस्तु जो सभी अनुभवो मे समान और विलक्षण है—यही वह चीज है जो किसी भी तथ्य को हमे मानसिक कहने का कारण देती है, आगे, यदि हमे यह ज्ञात हो कि यह अवगति सभी अवस्थाओ मे इसी तरह की है या होनी चाहिए, कि इसका विषय जिसका ज्ञान कि हमें है, परिशुद्ध रूप से तब भी वैसा ही होगा जब कि हम इसमे अनवगत भी हो तो यह स्पष्ट हो जाता है कि देश में एक मेज का अस्तित्व इसके बारे मे अनुभव से ठीक उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार कि मेरे अनुभव का अस्तित्व उसके मेरे अनुभव से सम्बन्धित है। दोनो की हमे केवल अवगति मात्र है यदि हमे यह अवगति है कि एक का अस्तित्व है, तो हमे ठीक उसी अर्थ मे दूसरे के अस्तित्व की भी अवगति है, और यदि यह सत्य है कि मेरे अनुभव का अस्तित्व तब ही हो सकता है, जब कि मुझे इसके अस्तित्व की अवगति नही हो, तो हमारे पास ठीक उसी प्रकार के हेतु यह मानने के लिए भी हैं कि मेज का भी अस्तित्व उसके बिना हो सकता है। अत जब बर्कले ने यह माना था कि वह एक मात्र वस्तु जिसकी मुझे प्रत्यक्ष रूप से अवगति है, केवल मेरे स्वय के सवेद और प्रत्यय ही हो सकते हैं, तो उसने एक ऐसी बात मानी थी जो मिथ्या थी, और जब काण्ट ने यह माना था कि वस्तुओं की देश मे निरपेक्ष सत्ता उनके इस तथ्य मे है कि वे Vorstellungun हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध उससे भिन्न प्रकार का है जिस प्रकार का एक Vorstellungun का दूसरे से आत्म-निष्ठ अनुभव मे होता है तो उसने एक ऐसी बात मानी थी जो समान रूप से मिथ्या थी। मुझे देश मे भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व की उतनी ही अवगति है जितनी कि स्वय के सवेद की, और प्रत्येक के बारे मे मुझे जिस बात की अवगति है वह बिल्कुल समान है—अर्थात् एक अवस्था मे भौतिक वस्तु और दूसरी में मेरे सवेद वास्तव में अस्तित्ववान् हैं। अत भौतिक वस्तुओ के बारे मे जो प्रश्न पूछा जाना चाहिए वह यह नही है, कि हमारी इस मान्यता के क्या कारण है कि हमारे सवेद के अनुरूप किसी वस्तु का अस्तित्व है ? वरन् यह कि हमारे पास यह मानने के क्या कारण हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नही है क्योकि उनके अस्तित्व के बारे मे भी ठीक वैसे ही साक्ष्य (प्रमाण) हैं जैसे कि हमारे सवेद के अस्तित्व के बारे मे ? यह मिथ्या हो सकता है कि दोनो का अस्तित्व है, किन्तु यदि भौतिक द्रव्य के अस्तित्व के सशय मे कोई भी कारण है, कि यह हमारे अनुभव का एक अवियोज्य पहलू है, तो ऐसा ही तर्क अन्तिम रूप से यह भी सिद्ध कर देगा कि हमारे अनुभव का भी अस्तित्व नही है, क्योकि वह भी इसके हमारे अनुभव का अवियोज्य पहलू होना चाहिए। अब इस स्वीकृति का, कि भौतिक द्रव्य का भी अस्तित्व है और आत्मा का भी, केवल एक ही तर्क सगत विकल्प है—पूर्ण सशयवाद, जो

यह मानेगा कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। यदि भौतिक द्रव्य में विश्वास का कोई कारण नहीं हो तो अन्य सब मान्यताएँ भी—अनीश्वरवादी की कि कुछ सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है और ठीक उसी तरह आदर्शवादी की कि आत्मा का अस्तित्व है—उसी प्रकार आधारहीन हैं जैसे कि स्थूलतम अन्ध-विश्वास।

अस्तिता की समस्या

विलर्ड वान् ओर्मान् क्वाईन

अस्तित्त्व की समस्या के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि यह अत्यन्त सरल है। यह समस्या तीन आग्ल-सेक्शन पदो मे प्रस्तुत की जा सकती है क्या (वस्तु) है (ह्वाट इज़ देयर) ? और इसका उत्तर एक ही शब्द मे दिया जा सकता है "सब कुछ" और इस उत्तर की सत्यता सभी स्वीकार करेंगे। किन्तु विशिष्ट स्थितियो को लेकर इस सम्बन्ध मे मतभेद सम्भव है, और इस प्रकार से यह समस्या सदियो से विवाद-विषय बनी हुई है।

अब मान लें कि दो दार्शनिक, श्री य और मैं, अस्तित्व को लेकर मतभेद रखते हैं। मान लें कि श्री य किसी वस्तु के सम्बन्ध मे मानते हैं कि वह है, जबकि मैं उसके होने को स्वीकार नही करता। उस अवस्था मे श्री य, अपने दृष्टिकोण के अनुसार, हमारे मतभेद के सम्बन्ध मे कह सकते हैं कि मैं कुछ वस्तुओ की सत्ता को मान्यता देने से इन्कार करता हूँ। स्वभावत मैं विरोध करूँगा कि वह हमारे मतभेद को अनुचित ढग से प्रस्तुत कर रहा है, क्योकि वास्तव मे ऐसी कोई वस्तुएं हैं ही नही जिनके लिए वह दावा करता है कि मुझे उनकी सत्ता स्वीकार करनी चाहिये। किन्तु हमारे मतभेद की स्थापना मे मेरे लिए श्री य की भूल दिखाना महत्वपूर्ण ही नही है, क्योकि किसी भी अवस्था मे मैं उसकी अस्तित्व-मीमासा को गलत मानने को बाध्य हूँ।

इसके विपरीत, जब मैं हमारे बीच के मतभेद को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता हूँ, मैं अपने आपको एक विचित्र उलझन मे पाता हूँ। मैं यह स्वीकार नही कर सकता कि ऐसी कुछ वस्तुएँ हैं जिन्हे श्री य देखता है किन्तु मैं नही देखता, क्योकि यह स्वीकार करके कि ऐसी कोई वस्तुएँ हैं, मैं स्वय उन वस्तुओ के अपने ही द्वारा किए निषेध का खण्डन कर देता हूँ।

जैसाकि देखा जा सकता है, यदि यह तर्क-प्रणाली उचित है तो अस्तित्व सम्बन्धी किसी भी विवाद मे निषेधक पक्ष के प्रवक्ता को यह कठिनाई है कि वह यह स्वीकार नही कर सकता कि उसका प्रतिवादी उससे असहमत है।

अनस्तित्व की यह पुरानी प्लेटोनीय पहेली है। असत् (अस्तित्व-रहित) वस्तु का भी किसी अर्थ में अस्तित्व होना आवश्यक है, अन्यथा वह क्या है जो नही है ? इस उलझनपूर्ण सिद्धान्त को 'प्लेटो की दाढी' ऐसा उपनाम दिया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह दाढी काफी विषम प्रमाणित हुई है और बहुधा "ओखम के उस्तरे" को (लाघव तर्क के प्रयत्नो को) कुण्ठित करती रही है।

कुछ इस प्रकार की विचार-सरणी का अनुसरण करते हुए श्री य के समान दार्शनिक ऐसी अवस्थाओं में भी अस्तित्व का विधान करते रहे हैं जिनमें अन्यथा उन्होंने किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं की होती। उदाहरणत पखो वाले घोड़े पीगासस को लें। श्री य का तर्क है कि यदि पीगासस नही होता तो यह पद-प्रयोग किसी वस्तु के सम्बन्ध मे नही होता, इस प्रकार, यह कहना भी अर्थशून्य होगा कि पीगासस नही है। इस प्रकार से, यह मानते हुए कि पीगासस के निषेध का भी सगत रूप से कथन नही किया जा सकता, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पीगासस है।

वास्तव मे श्री य यह स्वीकार करने के लिए अपने को प्रेरित नही कर सकता कि सपख घोड़ा वास्तव मे ही किसी देश-काल मे है। तब फिर पीगासस सम्बन्धी विवरण की माँग करने पर वह कहता है कि पीगासस मनुष्यो के मन मे विचार-रूप मे है। अब यहाँ एक घपला उभरने लगता है। हम तर्क के लिए यह भी मान लेते हैं कि 'पीगासस' पद द्वारा सकेतित कोई वस्तु है हम यह भी मान लेते हैं कि एक अद्वितीय वस्तु है (यद्यपि यह अयुक्त है) जो कि पीगासस का मानसिक प्रत्यय है। किन्तु जब लोग पीगासस का निषेध करते हैं तब वे इस मानसिक वस्तु पीगासस के बारे मे बात नही करते।

श्री य पार्थेनन को पार्थेनन-प्रत्यय से कभी नहीं घपलाते। पार्थेनन भौतिक है, पार्थेनन-प्रत्यय मानसिक है (कम से कम श्री य की प्रत्ययो की धारणा के अनुसार), और इससे बेहतर व्याख्या मेरे पास भी नही है। पार्थेनन इन्द्रिय गोचर है और पार्थेनन-प्रत्यय इन्द्रिय-गोचर नही है। हम इन दो वस्तुओ से अधिक असमान वस्तुओ की कल्पना नही कर सकते, और इस प्रकार से इनमें घपले की सम्भावना अल्पमत है। किन्तु जब हम पार्थेनन से पीगासस पर आते हैं तब घपला उत्पन्न होता है क्योकि श्री य पीगासस के अनस्तित्व को स्वीकार करने के बजाय अत्यन्त भोंडी तथा स्पष्ट छलना से अभिभूत होना स्वीकार कर सकता है।

जैसा कि हमने देखा, इस धारणा ने कि पीगासस के अनस्तित्व का भी कथन करने के लिए यह आवश्यक है कि पीगासस हो, श्री य को अत्यन्त स्थूल प्रकार के घपले मे डाला। किन्तु उत्कृष्टतर प्रतिभा-सम्पन्न चिन्तको ने इसी पूर्वप्रतिज्ञा को अपना प्रस्थान बिन्दु बना कर पीगासस सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तो की रचना कर डाली जो श्री य के सिद्धान्त से कम पथ-भ्रष्ट हैं, और परिणामत उनका निराकरण भी अधिक कठिन है। इन प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो मे एक वाइमन है। वाइमन के अनुसार, पीगासस का अस्तित्व अचरितार्थ सम्भावना के रूप में है। जब हम पीगासस के सम्बन्ध मे कहते हैं कि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व नही है, तब हम वास्तव मे कहते हैं कि पीगासस वास्तवता (एक्चुअलिटी) के विशिष्ट गुण से रहित है। यह कहना कि 'पीगासस वास्तव नहीं है', तकत यह कहने के बराबर है कि 'पार्थेनन लाल वर्ण का नहीं है'। दोनों ही अवस्थाओ में हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में कथन करते हैं जिसका कि अस्तित्व सन्देहोपरि है।

वाइमन उन दार्शनिको में से एक है जिन्होंने पुराने विश्वसनीय शब्द 'अस्तित्व' को भ्रष्ट किया। अब, (वाइमन) अपनी अचरितार्थित सम्भाव्यता (अनरीयलाइज्ड पॉसीबिलिटी)

की उद्‌भावना के बावजूद 'अस्तित्व' शब्द को 'चरितार्थ' तक ही सीमित रखता है—और इस प्रकार से वह अपने तथा हमारे बीच, जोकि उसके बाकी के स्फीत विश्व को स्वीकार नही करते, अस्तित्वमीमासात्मक मतैक्य का भ्रम उत्पन्न करता है। हम 'अस्तित्व' पद के सामान्य प्रयोगानुकूल यह कहना उचित समझते रहे हैं कि पीगासस का अस्तित्व नही है, जिससे हमारा अभिप्राय होता था कि ऐसी वस्तु सर्वथा नही है, यदि पीगासस का अस्तित्व होता तो वह किसी देश-काल मे होता किन्तु यह केवल इसलिए क्योंकि 'पीगासस' पद की देश-कालिक अर्थापेक्षाएँ (कोनोटेशन्ज) हैं, न कि 'अस्तित्व' पद की देश-कालिक अर्थापेक्षाएँ हैं जब हम २७ सख्या के घनमूल (क्यूब रूट) के अस्तित्व का कथन करते है तब केवल इसलिए क्योंकि घनमूल देश-कालिक प्रकार की वस्तु नही है, न कि इसलिए क्योंकि हम 'अस्तित्व होने' पद के प्रयोग को समझने मे किसी व्यामिश्र मे हैं।[1] तो भी वाइमन सहमति की प्रतीति उत्पन्न करने के भ्रान्त प्रयत्न मे पीगासस के अस्तित्व का निषेध करने मे हमसे सहमत हो जाता है। और तब, पीगासस के अनस्तित्व सम्बन्धी हमारी धारणा के विपरीत आग्रह करता है कि पीगासस है। वह कहता है कि भौतिक अस्तित्व एक बात है और गुणात्मक अस्तित्व दूसरी बात। इस व्यामिश्र से निपटने का एक ही रास्ता है और वह यह कि 'अस्तित्व' पद को वाइमन को ही सौंप दिया जाय। अब मैं पुन इसका प्रयोग नहीं करने का प्रयत्न करूँगा, अब मेरे पास 'है' शब्द है। अस्तु शब्द—चिन्ता को यही छोड कर हम वाइमन की अस्तित्व-मीमासा पर लौटेंगे।

वाइमन का अत्यधिक जन-सकुल ससार अनेक प्रकार से अरुचिकर है। यह हमारी सौन्दर्य-चेतना को ठेस पहुँचाता है, क्योंकि हमे रेगिस्तानी प्रकृति-चित्र ही रुचिकर हैं। किन्तु इसका दोष केवल इतना ही नहीं है। वाइमन की सम्भाव्यो से अध्युषित गन्दी बस्ती अव्यवस्थित तत्वो को बहुत उपयुक्त प्रजनन-क्षेत्र प्रदान करती है। उदाहरणत, उस दरवाजे मे एक सम्भाव्य स्थूल व्यक्ति को लें और दूसरे मे एक सम्भाव्य गजे व्यक्ति को लें। अब, क्या वह एक ही सम्भाव्य व्यक्ति है अथवा दो सम्भाव्य व्यक्ति हैं? हम कैसे निर्णय करें कि उस दरवाजे में कितने सम्भाव्य व्यक्ति हैं? क्या वहाँ दुबले सम्भाव्य व्यक्तियो की सख्या मोटे सम्भाव्य व्यक्तियो से अधिक है? उनमे से कितने अनुरूप हैं? अथवा, क्या उनकी अनुरूपता

---

१ देश—काल मे वास्तवीकृत विषयों के अस्तित्व तथा इनसे भिन्न प्रकार के विषयों के अस्तित्व अथवा सत्ता मे शाश्वत भेद करने की इच्छा आंशिक रूप से, सम्भवत, इस विचार से उत्पन्न होती है कि प्रकृति का प्रेक्षण पहली प्रकार की वस्तुओं के अस्तित्व के ज्ञान के लिये ही आवश्यक है। किन्तु इस विचार का खण्डन बहुत सहज ही में विपरीत उदाहरणों से किया जा सकता है, जैसे 'सेंटाउरों (अर्धाश्वनरों) की सख्या तथा यूनीकोर्नों (एक सींग वाले अश्वों) की सख्या का अनुपात'। यदि ऐसा कोई अनुपात हो तो यह एक अमूर्त वस्तु होगी, अर्थात् एक सख्या। किन्तु तब भी, केवल प्रकृति को देख कर ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्धाश्वनरों तथा एकविषाणाश्वों दोनो की सख्याएँ ० हैं और परिणामत कोई अनुपात सम्भव नहीं है।

उन्हें एक बनाएगी ? क्या कोई दो सम्भाव्य वस्तुएँ अनुरूप नही हो सकती ? क्या इस कहने का वही तात्पर्य है जो यह कहने का कि कोई दो वस्तुएँ अनुरूप नही हो सकती ? अथवा क्या तादात्म्य का प्रत्यय (कासेप्ट ऑफ आइडेंटिटी) अवास्तव सम्भाव्यो पर लागू नही हो सकता ? किन्तु ऐसी वस्तुओ की चर्चा को कैसे अर्थपूर्ण कहा जा सकता है जिन्हे सार्थक रूप से अपने से अभिन्न और अन्यों से भिन्न नही कहा जा सकता ? इन तत्वों मे सुधार अत्यधिक दुष्कर है। व्यक्ति प्रत्ययो (इडीविडुअल कान्सेप्ट्स)[२] की फ्रेगेकृत चिकित्सा से इनमे सुधार का कुछ प्रयत्न किया जा सकता है, किन्तु मेरे विचार में वाइमन की गन्दी बस्ती से अवाछित तत्वों का निराकरण और विनाश ही अधिक सुविधाजनक हो सकता है।

अनिवार्यता, असम्भवता और अनिश्चितता आदि अन्य निश्चय मात्राओ (मोडेलिटीज़) के अनुरूप ही सम्भाव्यता भी कुछ कठिन समस्याओं को जन्म देती है, यद्यपि मेरा यह तात्पर्य नही है कि हम इनसे मुँह मोड लें। किन्तु हम एक बात कर सकते हैं और वह यह कि हम निश्चय मात्राओं को पूर्ण कथन-वाक्यो तक ही सीमित रखें। हमे 'सम्भवतया' इस क्रिया-विशेषण को पूरे कथन-वाक्य के साथ प्रयुक्त करना चाहिए और ऐसे प्रयोग के अर्थ-सम्बन्धी विश्लेषण की चिन्ता करनी चाहिये। किन्तु यदि हम तथाकथित सम्भाव्य वस्तुओ का भी अपने विश्व मे समावेश करते हैं तो ऐसे विश्लेषण से किसी वास्तव प्रगति की आशा नही की जा सकती। मेरे विचार मे इस विस्तार के पीछे मुख्य प्रयोजन केवल यह पुरानी धारणा है कि पीगासस का होना आवश्यक है, क्योकि अन्यथा उसका निषेध करना भी सम्भव नही हो सकता।

किन्तु, वाइमन के सम्भवो के ससार का यह अतिशय पल्लवन उदाहरण मे थोडा परिवर्तन कर देने मात्र से थोथा दिखाई देने लगेगा हम पीगासस के बजाय बकले कॉलेज में गोल-वर्गाकार गुम्बद का उदाहरण ले सकते हैं। यदि, जब तक पीगासस नहीं हो तब तक यह कहना कि वह नही है, असम्भव है, तब उसी प्रकार से जब तक बकले कॉलेज में गोल-वर्गाकार गुम्बद नहीं हो तब तक यह कहना असम्भव होगा कि वह नही है। किन्तु, पीगासस से भिन्न, बर्कले कॉलिज पर गोल-वर्गाकार गुम्बद का होना अवास्तवीकृत (अन-एक्चुअलाइज्ड) सम्भव वस्तु भी नहीं है। क्या अब हम वाइमन को अवास्तवीकृत असम्भवो के क्षेत्र को स्वीकार करने के लिये भी प्रेरित कर सकते हैं ? हम वाइमन से यह स्वीकार करवा कर कि कुछ वस्तुएँ गोल-वर्गाकार भी हैं, उसे व्याघात (कट्रेडिक्शन) मे फसाने की आशा कर सकते हैं, किन्तु चतुर वाईमन उभयतोपाश (डाइलमा) का दूसरा पाश चुनता है, और मान लेता है कि 'बकले कॉलेज पर गोल-वर्गाकार गुम्बद है' कहना निरर्थक है। वह कहता है कि 'गोल-वर्गाकार गुम्वद' पद अर्थ-शून्य है।

वाइमन इस विकल्प को स्वीकार करने वाला प्रथम दार्शनिक नही है। व्याघातक

---

२ द्रष्टव्य—क्वाइन फ्राम ए लॉजीकल प्वाइंट आफ व्यू, पृ० १५३।

पदो की अर्थ-शून्यता का सिद्धान्त बहुत पुराना है। यह परम्परा उन लेखको मे भी अवशिष्ट है जिनका वाईमन के प्रयजनो से कोई भी वास्ता नही है । तो भी, यह सम्भव है कि इस सिद्धान्त की प्रथम प्रेरणा बहुत हद तक उसी प्रयोजन से उपलव्ध हुई हो जो वाईमन में हम देख चुके हैं। इस सिद्धान्त मे स्वत कोई आकर्षण नही है । इसने अपने पुजारियो को इतने भ्रामक अतिवाद मे प्रेरित किया है कि उन्होने अयुक्ति-साधन (रिडक्शियो एड एब्ज़डम) द्वारा प्रमाण की विधि को भी चुनौती दी है। किन्तु वास्तव मे इस चुनौती मे स्वय इस सिद्धान्त का ही अयुक्ति-साधन दिखाई देता है।

इसके अतिरिक्त, व्याघातको की निरर्थकता का सिद्धान्त भयानक रूप से प्राविधिक (मेथोडोलोजीकल) दोषो से पूर्ण है, क्योकि यह सिद्धान्तत सार्थक और निरर्थक मे निर्णय के लिए उपयुक्त परीक्षा को असम्भव बना देता है । हमारे लिए यह ऐसी सुनियोजित विधियाँ को पा सकना असम्भव कर देगा जिनसे हम सार्थक और निरर्थक प्रतीक-शृखलाओ मे भेद कर सकें—स्वय हमारे अपने लिए भी, दूसरो की तो बात ही क्या। क्योकि, जैसाकि चर्च द्वारा स्थापित गणितिक न्याय मे एक अनुसन्धान से अर्थापतित (इम्पलाई) होता है, व्याघातता की कोई पूर्णत सामान्य परीक्षा नही है ।

मैंने प्लेटो की दाढी के सम्बन्ध मे कुछ निन्दात्मक शब्द कहे और सकेत किया कि यह उलझी हुई है। मैंने इसके साथ निर्वाह करने विषयक कठिनाई पर पर्याप्त विस्तार से प्रकाश डाला है। अब आवश्यक है कि हम इसके निरास की ओर कदम उठाए। रसल ने अपने तथाकथित व्यक्तिवाचक वर्णन-पदो (सिंगुलर डिस्क्रिप्शस्) के सिद्धान्त मे स्पष्टत दिखाया है कि हम किस प्रकार से सज्ञा प्रतीत होने वाले पदो का सार्थक रूप से इस पूर्व कल्पना के बिना प्रयोग कर सकते हैं कि उनके द्वारा अभिहित वस्तुओ का अस्तित्व है। रसल का सिद्धान्त जिन सज्ञाओं पर प्रत्यक्षत लागू होता है वे अनेक पदात्मक वर्णनात्मक सज्ञाएं हैं, जैसे 'वेवर्ली का लेखक', 'फ्रांस का वर्तमान राजा', 'बकले कॉलिज पर गोल-आयताकार गुम्बद' आदि। रसल ऐसे प्रयोगो का विश्लेषण उन सम्पूर्ण वाक्यो के खण्डो के रूप मे करता है जिनमे ये घटित होते है। उदाहरणत 'वेवर्ली का लेखक एक कवि था' वाक्य की व्याख्या एक पूर्ण एकक के रूप मे इस प्रकार की जाती है—"किसी व्यक्ति ने ('किसी वस्तु ने' कहे तो और अच्छा) वेवर्ली लिखा, और वह कवि था, और अन्य किसी व्यक्ति ने (वस्तु ने) वेवर्ली नही लिखा"। (इस दूसरे वाक्याश का प्रयोजन उस अद्वितीयता पर बल देना है जो इगलिश शब्द 'दि' मे निहित है—दि आथर आफ वेवर्ली वेवर्ली का लेखक)। 'बकले कॉलिज पर गोल आयताकार गुम्बद गुलाबी रग का है' वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार से किया जाता है—'कुछ गोलाकार और आयताकार है, और वह बकले कॉलेज पर गुम्बद है, और वह गुलाबी रग का है, और अन्य कुछ ऐसा नही है जो गोलाकार, आयताकार तथा बकले कॉलेज का गुम्बद है।[3]

३　वर्णन-सिद्धान्त पर विस्तृत चर्चा के लिए द्रष्टव्य पूर्वोक्त पुस्तक मे पृ० ८५ से तथा पृ० १६६ से।

इस विश्लेषण की उपयोगिता यह है कि प्रतीयमान रूप से सज्ञा पद, एक वर्णनात्मक प्रयोग, का एक सन्दर्भ मे तथाकथित अपूर्ण प्रतीक के रूप में पदान्वय किया गया है। वर्णनात्मक पद के विश्लेषण के रूप मे कोई एक-पद प्रस्तुत नही किया गया है, किन्तु पूरा कथन, जोकि इस पद का सन्दभ है, समग्र रूप मे अथ प्रस्तुत करता है—चाहे यह कथन सत्य हो या असत्य।

अविश्लेषित कथन-वेवर्ली का लेखक एक कवि था—मे 'वेवर्ली का लेखक' पद एक भाग के रूप मे घटित होता है, जिसके लिए कि श्री य तथा वाइमन ने भ्रमवश समझा कि इसकी साथकता तक के लिए यह आवश्यक है कि इसका कुछ वस्तु-निर्देश हो। किन्तु रसल के अनुवाद मे—किसी ने वेवर्ली लिखा, वह कवि था, और अन्य किसी ने वेवर्ली नही लिखा—वस्तु-निर्देश का दायित्व, जोकि पहले वर्णन-पद पर था, अब ऐसे पदो द्वारा ले लिया गया है जिन्हें तकशास्त्री बद्धचर-प्रतीक (वाउड वेरीयेवल्स) कहते हैं, अर्थात् परिमाणीकृत चरो (क्वाटीफाइड वेरीयेवल्ज)—'कुछ', 'कुछ नहीं', 'सब कुछ'—द्वारा। ये शब्द, विशेष रूप से वेवर्ली के लेखक की सज्ञा होना तो दूर रहा, किसी के भी नाम नही हैं। ये वस्तुओ का सामान्य रूप से निर्देश करते हैं, एक सचेत अस्पष्टता के साथ, जोकि इनकी मौलिक विशेपता है।[४] ये परिमाणीकरणात्मक पद (क्वांटीफिकेशनल टर्म्स) अथवा बद्ध-चर भाषा के आधारभूत अङ्ग हैं और इनकी साथकता को, कम से कम समग्र सन्दर्भ मे, चुनौती नही दी जा सकती। किन्तु उनकी साथकता के लिए किसी भी प्रकार से वेवर्ली के लेखक, अथवा बकले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद, अथवा अन्य किसी भी निर्देशित विपयो की पूवकल्पना अपेक्षित नही है।

अब, जहाँ तक वर्णनों का सम्बन्ध है, अस्तित्व के विधान और निषेध मे कोई कठिनाई नहीं है। रसल ने "वहाँ वेवर्ली का लेखक है' की व्याख्या इस प्रकार से की है 'किसी ने वेवर्ली लिखा, और अन्य किसी ने वेवर्ली नही लिखा'। 'वेवर्ली का लेखक नही है' की व्याख्या किंवा-तर्कवाक्य (आल्टर्नेशन) के रूप मे की जाती है 'या तो सब वस्तुएँ वेवर्ली लिखने मे असमर्थ रही अथवा दो या अधिक वस्तुओं ने वेवर्ली लिखा'। यह किंवा-तकवाक्य असत्य है किन्तु अथयुक्त है, और इसमें कोई पद वेवर्ली के लेखक का अभिधान नही करता। इसी प्रकार 'बकले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद नहीं हैं' कथन का भी विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार से यह पुरानी धारणा, कि अनस्तित्व के वाचक कथन स्वतोव्याघाती हैं, निराधार हो जाती है। जब अनस्तित्व अथवा अनस्तित्व परक कथनों का रसल के वर्णन-सिद्धान्त द्वारा विश्लेषण किया जाता है तो यह ऐसे किसी भी पद से रहित हो जाता है जो किसी का नाम होने की अपेक्षा भी करता है और इस प्रकार से कथन की साथकता यह पूर्वकल्पित करती नहीं कही जा सकती कि ऐसी वस्तु का अस्तित्व भी हो।

---

४ बन्द-चरों पर अधिक विवेचन के लिए द्रष्टव्य पृ० ८५, तथा १०२ से।

अब, पीगासस की क्या स्थिति है ? यह वर्णनात्मक पद न होकर एक शब्द है, अत रसल का तर्क उस पर लागू नही होता । किन्तु इसे सहज मे लागू किया जा सकता है । हम 'पीगासस' की वर्णनात्मक पद के रूप मे पुनारचना कर सकते हैं, कम से कम यह हमारे प्रत्यय को पर्याप्त विशिष्टता देता प्रतीत होता है, जैसे 'सपख अश्व जिसे बेलोरोफन ने पकडा था ।' ऐसे पद से 'पीगासस' को स्थानान्तरित करके हम 'पीगासस है' अथवा 'पीगासस नही है' का विश्लेषण करने की ओर अग्रसर हो सकते हैं, ठीक उसी पद्धति से जिससे रसल ने 'वेवर्ली का लेखक है' अथवा 'वेवर्ली का लेखक नही है' का विश्लेषण किया ।

इस प्रकार से एक-पद-सज्ञा अथवा 'पीगासस' के समान तथोक्त सज्ञा का रसल के सिद्धान्त के अन्तर्गत समावेश करने के लिए यह आवश्यक है कि हम एक शब्द को वर्णन-पद के रूप मे अनूदित कर सकें । किन्तु यह सीमा वास्तविक नही है । यदि 'पीगासस' की अवधारणा इतनी अस्पष्ट अथवा इतनी मूलभूत होती कि किसी परिचित विधि से वर्णन-पद मे इसका अनुवाद उपलब्ध नही होता, तो भी हम कृत्रिम विधि का उपयोग कर सकते थे हम स्पष्टत अविश्लेष्य का अरूपान्तरणीय विशेषण 'पीगासस होने' का सहारा ले सकते हैं, और इसकी अभिव्यक्ति के रूप मे क्रिया 'पीगासस—है' अथवा 'पीगासस होता है'—पीगासयति—को स्वीकार कर सकते हैं। उस अवस्था मे स्वय 'पीगासस' नाम को व्युत्पन्न (डिरिवेटिव) माना जा सकता है और इसे निम्न वर्णन-पद का वाचक माना जा सकता है 'वह, जो वस्तु पीगासस है', 'वह जो वस्तु पीगासस होती है'[५] (यत् पीगासस अस्ति तत्, 'यत् पीगासयति तत्') ।

यदि 'पीगासयति' के समान विधेय पद लाने से यह अनुगत होता प्रतीत होता है कि इसके अनुरूप विशेषण 'पीगासस—होना' प्लेटो के स्वर्ग में है अथवा मनुष्यो के मन मे है, तो और अच्छा। अभी हम या वाइमन, अथवा श्री य ही, सामान्यो के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ दावा नही कर रहे हैं । यदि 'पीगासस होने' की पदावली मे हम 'पीगासस' सज्ञा को वर्णन के रूप मे निरूपित कर सकते हैं और इस प्रकार रसल के वर्णन-सिद्धान्त के अन्तर्गत ला सकते हैं, तो समझें कि हमने इस पुरानी धारणा को कि, पीगासस के अनस्तित्व का कथन किसी अर्थ मे उसने अस्तित्व को पूर्वकल्पित किए बिना नही किया जा सकता, निराधार प्रमाणित कर दिया ।

अब हमारा तर्क पर्याप्त सामान्यीकृत है । श्री य और वाइमन का विचार था कि 'अमुक-अमुक नही है' रूप कथन का उस अवस्था मे सार्थक प्रयोग नही कर सकते यदि हम 'अमुक-अमुक' को सरल अथवा वर्णनात्मक व्यक्तिवाचक सज्ञा द्वारा स्थानान्तरित करते है, जब तक कि 'अमुक-अमुक' का अस्तित्व नही हो । इस धारणा को अब लगभग सभी निराधार

---

५ सब व्यक्तिवाचक पदों के वर्णनो मे अन्तर्भाव के लिए द्रष्टव्य पूर्वोक्त मे पृ० १६७ तथा क्वाइन—'मैथड्स ऑफ लॉजिक', पृ० २१८–२२४ ।

मानते हैं, क्योंकि प्रस्तुत प्रकार की व्यक्तिवाचक सज्ञा सदैव व्यक्ति निर्देशक वर्णन में रूपान्तरित की जा सकती है, और तब रसल के सिद्धान्त के अनुसार विश्लेपित की जा सकती है।

जब हम कहते हैं "दस लाख से बडी पूर्ण सख्या है" तब हम ऐसी अस्तित्वमीमासा को स्वीकार करते हैं जिसमे सख्याओ का भी अस्तित्व है, जब हम कहते है कि "सेंटाउर हैं" तब हम ऐसी अस्तित्वमीमासा को स्वीकार करते हैं जिसमे सेंटाउरो का भी समावेश है, और इसीप्रकार जब हम कहते हैं "पीगासस है", तब हम पीगासस के अस्तित्व का समावेश करने वाली अस्तित्वमीमासा को स्वीकार करते हैं। किन्तु यदि हम कहते हैं कि पीगासस या वेवर्ली का लेखक, या बर्कले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद, नही है, तब हम ऐसी अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करने को बाध्य नही हैं जिसमे इनके अस्तित्व का भी समावेश है। अब हमे इस भ्रम में रहने की आवश्यकता नही है कि व्यक्तिवाचक पद-युक्त वाक्य की सार्थकता उस पद द्वारा सज्ञापित वस्तु के अस्तित्व को पूर्वकल्पित करती है। व्यक्तिवाचक पद के सार्थक होने के लिए वस्तु का अभिधान करना आवश्यक नही है।

इसकी झलक वाइमन तथा श्री य को शायद रसल की सहायता के बिना भी मिल गयी होती, यदि केवल उन्होने यह देखा होता, जैसाकि हम में से कुछेक देख पाते हैं, कि ऐसे व्यक्तिवाचक पदों में भी, जो उचित रूप से वस्तुओ का अभिधान (नेमिंग) भी करते हैं, अभिधान तथा अर्थ में भेद रहता है। यहाँ फ्रेगे से निम्न उदाहरण देना उपयोगी होगा 'सन्ध्या का तारा' पद एक गोलाकार वृहत् भौतिक पिण्ड को अभिधानित करता है जो यहाँ से करोडो मीलो की दूरी पर आकाश में चक्रमणशील है। 'भोर का तारा' पद भी उसी वस्तु को अभिधानित करता है, जैसाकि प्राचीन वेबीलोन के किसी खगोल-विद्या-विज्ञ ने सर्वप्रथम खोजा था। किन्तु इन दोनों पदो को अर्थ मे समान नही कहा जा सकता। अन्यथा उस वेबीलोन के वैज्ञानिक ने अपने प्रेक्षणों को छोड कर इस अनुसन्धान के लिए (कि दोनों पदों का निर्देश्य विषय एक ही है) इन पदो के अर्थों पर ध्यान केन्द्रित किया होता। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि इन पदों के अर्थ इनके अभिधान से पृथक् हैं, क्योंकि जबकि इनके अर्थ परस्पर भिन्न हैं, अभिधान एक ही हैं।

अर्थ के अभिधान के साथ व्यामिश्र ने न केवल श्री य को यह समझने का अवसर दिया कि वह सार्थक रूप से पीगासस का प्रत्याख्यान नही कर सकता प्रत्युत अर्थ और अभिधान के निरन्तर व्यामिश्र ने इस मूर्खतापूर्ण धारणा को भी प्रेरित किया कि पीगासस एक प्रत्यय, एक मानसिक वस्तु, है। इसके व्यामिश्र की सरचना (स्ट्रक्चर) इस प्रकार से है उसने तथोक्त अभिधानित विषय पीगासस का 'पीगासस' पद के अर्थ के साथ व्यामिश्र किया, और इस प्रकार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'पीगासस' पद के अर्थयुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि पीगासस का अस्तित्व भी हो। किन्तु ये अर्थ किस प्रकार की वस्तुएँ हैं? यह एक केन्द्रीय प्रश्न है, किन्तु कोई पर्याप्त सगत रूप से यह दिखा सकता है कि अर्थ मानसिक प्रत्यय हैं, यदि केवल वह 'मानसिक-प्रत्यय' के प्रत्यय को सार्थक दिखा सके। किन्तु यहाँ विशेष महत्व की बात यह है कि वाइमन ने, जोकि मूलत श्री य के ही अनुरूप उद्देश्यों से प्रेरित

था, इस विशिष्ट भूल से अपने आपको बचाया और उसके स्थान पर अचरितार्थ सम्भाव्यों के साथ अपनी स्थापना का उपसहार किया।

अब हम सामान्यो के अस्तित्व सम्बन्धी समस्या पर विचार करेंगे अर्थात्, क्या विशेषण, सम्बन्ध, वर्ग, सख्याओं तथा प्रकार्यों (फक्शस्) आदि का अस्तित्व है ? श्री य स्वमतानुसार ही मानता है कि इनका अस्तित्व है। विशेषणो के सम्बन्ध में वह कहता है कि "लाल घरो, लाल गुलाबो तथा लाल सूर्यास्तो का अस्तित्व है। इतना मात्र प्राग्दार्शनिक सामान्य धारणा है जिससे हमे सहमत होना ही चाहिए। तब इन घरो, गुलाबो तथा सूर्यास्तो मे कुछ समान है, और इसे, जो इनमे समान है, ही मैं 'लाली' का विशेषण देता हूँ"। इस प्रकार, श्री य के लिए विशेषणो का अस्तित्व उससे भी अधिक स्वत स्पष्ट है जितना लाल घरो, गुलाबो तथा सूर्यास्तो का अस्तित्व। मेरे विचार मे, यह तत्त्वमीमासा की विशिष्टता है, अथवा कम से कम तत्त्वमीमासा के उस भाग की, जिसे अस्तित्वमीमासा कहते हैं अर्थात जो कोई इस सम्बन्ध मे किसी कथन को सत्य मानता है उसे इसको स्वत स्पष्ट रूप से सत्य मानना भी आवश्यक है। प्रत्येक की अस्तित्वमीमासा उसकी उस सम्प्रत्ययात्मक योजना की आधारभूत होती है जिसके द्वारा कि वह अनुभवो की व्याख्या करता है—अत्यन्त साधारण अनुभवो की भी। किसी सम्प्रत्ययात्मक योजना के सन्दर्भ मे विमर्श करते हुए—और अन्यथा विमर्श सम्भव भी कैसे हो सकता है—एक अस्तित्वात्मक कथन स्वत स्पष्ट रहता है, जिसके लिए किसी पृथक प्रमाण की अपेक्षा नही रहती। अस्तित्वात्मक कथन सब प्रकार के साधारण तथ्यात्मक कथनो से अनुगत होते हैं, जैसे श्री य की सम्प्रत्ययात्मक योजना के दृष्टिकोण से 'विशेषण का अस्तित्व है' प्रतिज्ञा 'लाल घर हैं, लाल गुलाब, लाल सूर्यास्त हैं' से स्वत अनुगत होती है।

एक भिन्न सम्प्रत्ययात्मक योजना मे एक अस्तित्वात्मक कथन, जो कि श्री य को स्वत सिद्ध प्रतीत होता है, उतने ही सहज तथा स्वत स्पष्ट रूप से असत्य सिद्ध हो सकता है। कोई लाल घरो, गुलाबो तथा सूर्यास्तो का होना स्वीकार कर सकता है और तब भी, कथन के साधारण तथा भ्रामक प्रकार को छोडते हुए, यह अस्वीकार कर सकता है कि इनमे कुछ सामान्य है। 'घर', 'गुलाब' तथा 'सूर्यास्त' पद पृथक व्यष्टि-वस्तुओं—जो लाल घर, लाल गुलाब तथा लाल सूर्यास्त हैं—के लिए सत्य है, तथा 'लाल' अथवा 'लाल वस्तु' पद ऐसी प्रत्येक पृथक् व्यष्टि—वस्तु के लिए सत्य हैं जो कि लाल घर, गुलाब या सूर्यास्त है, किन्तु उनके अतिरिक्त या, ऊपर कोई वस्तु, वैयष्टिक अथवा अन्यथा, ऐसी नही है जो 'लाली' पद से अभिहित हो सकती है। और उसी प्रकार, न 'गृहत्व', 'गुलाबपन' तथा 'सूर्यास्तता' से ही अभिहित होने वाली वस्तुएँ हैं। कि गृह तथा गुलाब तथा सूर्यास्त सब रक्तवर्णी हैं, इस तथ्य को परम तथा मौलिक माना जा सकता है, और यह कहा जा सकता है कि श्री य अपनी ऐसी अलौकिक वस्तुओ के द्वारा, जिन्हे वह 'लाली' आदि सज्ञाओ से आक्षिप्त करता है, व्याख्या की दृष्टि से किसी लाभ मे नही है।

एक साधन का, जिसके द्वारा श्री य अपनी सामान्यो की अस्तित्वमीमासा हमारे पर

लादने का प्रयत्न कर सकता था हमने सामान्यो की समस्या पर विचार करने से पूर्व ही निराकरण कर दिया था। श्री य यह तक नही कर सकता कि 'लाल' तथा 'लाल है' पद, जिनका प्रयोग करने मे हम सब सहमत हैं, सार्थक होने के लिए आवश्यक रूप से व्यष्टि—सामान्यो की सज्ञाएँ होने चाहियें। क्योंकि, जैसाकि हमने देखा, किसी वस्तु की सज्ञा होना सार्थक होने की अपेक्षा अत्यन्त सीमित और विशिष्ट गुण है। वह हम पर 'पीगासस होता है' विधेय के प्रयोग के कारण पीगासस होना' विशेषण को आरोपित करने का आक्षेप नही लगा सकता—कम से कम उस तर्क से सर्वथा नही।

किन्तु श्री य एक भिन्न पैंतरे का आश्रय लेता है। वह कहता है "मान लें कि हम आपके अर्थ और निर्देश (डिनोटेशन) मे भेंट को, जिसे आप इतना महत्व देते हैं, मान ही लेते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि 'लाल है', 'पीगासस होता है' आदि पद विशेषणों के अभिधान नहीं हैं। तो भी आप यह तो स्वीकार करते ही हैं, कि ये अर्थयुक्त हैं। किन्तु ये अर्थ, चाहे ये अभिधानित हो या नही, सामान्य ही हैं और मैं कह सकता हूँ कि इनमे से कुछ वही वस्तुएँ हो सकती हैं जिन्हे मैं विशेषण कहता हूँ—अथवा वैसा ही कुछ प्रयोजन सिद्ध करने वाली वस्तुएँ।

श्री य की दृष्टि मे यह एक असाधारण रूप से गम्भीर वक्तृता है, और इसके प्रत्याख्यान का एकमात्र उपाय जो मुझे दिखाई देता है वह है 'अर्थ' को स्वीकार नही करना। और फिर, मुझे अर्थों को अस्वीकार करने मे कोई झिझक भी नही है, क्योंकि इससे मैं शब्दो और कथनो की सार्थकता का निषेध करने को बाध्य नही हूँ। मैं तथा श्री य भाषीय आकृतियो के सार्थक और निरर्थक मे वर्गीकरण मे शब्दश सहमत हो सकते हैं, यद्यपि श्री य सार्थकता की परिभाषा 'अर्थसहित होना' ('सहित होने' के अर्थ में) करता है और मैं नही करता। मैं यह मानने को स्वतन्त्र हूँ कि किसी पद की अर्थवत्ता (अथवा सार्थकता, और कथन के इस प्रकार को मैं अर्थों की वस्तु के रूप मे कल्पना से बचने के लिए अधिक उचित मानता हूँ) आत्यन्तिक तथा अविश्लेष्य तथ्य है, अथवा, मैं इसे लोगो के भाषीय ध्वनियो से उद्दीपन के प्रसग में व्यवहार की पदावली मे भी विश्लेषित कर सकता हूँ।

अर्थों के सम्बन्ध मे लोग जिस प्रकार बात करते हैं, अथवा करते प्रतीत होते हैं, उसे दो भागों मे बाटा जा सकता है अर्थ रखना, जो सार्थकता है, तथा अर्थ-समानता, अथवा समानार्थकता। जिसे हम 'किसी उक्ति को अर्थ देना' कहते हैं वह मात्र पर्याय देना है, जो सामान्यत मूल कथन से स्पष्टतर भाषा मे होता है। यदि हम अर्थ मात्र के प्रति अलर्जिक है तो हम सीधे कथनों की सार्थकता अथवा निरर्थकता की बात कर सकते हैं तथा उन्हें परस्पर समानार्थक अथवा विपरीतार्थक कह सकते हैं। इन 'सार्थक' अथवा 'समानार्थक' विशेषणों की व्यवहार की पदावली मे कुछ स्पष्टता तथा निश्चितता के साथ व्याख्या की समस्या उतनी ही कठिन है जितनी महत्वपूर्ण।[1] किन्तु विशिष्ट तथा अविश्लेष्य मध्यवर्ती (इण्टरमीज्यरी) वस्तुओं के रूप में अर्थों का व्याख्यात्मक मूल्य ही निश्चय ही शून्य है।

---

१ द्रष्टव्य फ्राम ए लॉजीकल प्वाइण्ट आफ व्यू मे अ २ तथा ३। (अ २ यहा आगे सकलित है। (अनु))

था, इस विशिष्ट भूल से अपने आपको बचाया और उसके स्थान पर अचरितार्थ सम्भाव्यों के साथ अपनी स्थापना का उपसहार किया।

अब हम सामान्यो के अस्तित्व सम्बन्धी समस्या पर विचार करेंगे अर्थात्, क्या विशेषण, सम्बन्ध, वर्ग, सख्याओ तथा प्रकार्यों (फलशस्) आदि का अस्तित्व है ? श्री य स्वमतानुसार ही मानता है कि इनका अस्तित्व है। विशेषणो के सम्बन्ध मे वह कहता है कि "लाल घरो, लाल गुलाबो तथा लाल सूर्यास्तो का अस्तित्व है। इतना मात्र प्राग्दार्शनिक सामान्य धारणा है जिससे हमे सहमत होना ही चाहिए। तब इन घरो, गुलाबो तथा सूर्यास्तो में कुछ समान है, और इसे, जो इनमे समान है, ही मैं 'लाली' का विशेषण देता हूँ"। इस प्रकार, श्री य के लिए विशेषणो का अस्तित्व उससे भी अधिक स्वत स्पष्ट है जितना लाल घरो, गुलाबो तथा सूर्यास्तो का अस्तित्व। मेरे विचार में, यह तत्त्वमीमासा की विशिष्टता है, अथवा कम से कम तत्त्वमीमासा के उस भाग की, जिसे अस्तित्वमीमासा कहते हैं अर्थात जो कोई इस सम्बन्ध में किसी कथन को सत्य मानता है उसे इसको स्वत स्पष्ट रूप से सत्य मानना भी आवश्यक है। प्रत्येक की अस्तित्वमीमासा उसकी उस सम्प्रत्ययात्मक योजना की आधारभूत होती है जिसके द्वारा कि वह अनुभवो की व्याख्या करता है—अत्यन्त साधारण अनुभवो की भी। किसी सम्प्रत्ययात्मक योजना के सन्दर्भ में विमर्श करते हुए—और अन्यथा विमर्श सम्भव भी कैसे हो सकता है—एक अस्तित्वात्मक कथन स्वत स्पष्ट रहता है, जिसके लिए किसी पृथक प्रमाण की अपेक्षा नही रहती। अस्तित्वात्मक कथन सब प्रकार के साधारण तथ्यात्मक कथनो से अनुगत होते हैं, जैसे श्री य की सम्प्रत्ययात्मक योजना के दृष्टिकोण से 'विशेषण का अस्तित्व है' प्रतिज्ञा 'लाल घर हैं, लाल गुलाब, लाल सूर्यास्त हैं' से स्वत अनुगत होती है।

एक भिन्न सम्प्रत्ययात्मक योजना में एक अस्तित्वात्मक कथन, जो कि श्री य को स्वत सिद्ध प्रतीत होता है, उतने ही सहज तथा स्वत स्पष्ट रूप से असत्य सिद्ध हो सकता है। कोई लाल घरो, गुलाबो तथा सूर्यास्तो का होना स्वीकार कर सकता है और तब भी, कथन के साधारण तथा भ्रामक प्रकार को छोड़ते हुए, यह अस्वीकार कर सकता है कि इनमे कुछ सामान्य है। 'घर' 'गुलाब' तथा 'सूर्यास्त' पद पृथक व्यष्टि-वस्तुओ—जो लाल घर, लाल गुलाब तथा लाल सूर्यास्त हैं—के लिए सत्य हैं, तथा 'लाल' अथवा 'लाल वस्तु' पद ऐसी प्रत्येक पृथक् व्यष्टि—वस्तु के लिए सत्य हैं जो कि लाल घर, गुलाब या सूर्यास्त है, किन्तु उनके अतिरिक्त या, ऊपर कोई वस्तु, वैयष्टिक अथवा अन्यथा, ऐसी नही है जो 'लाली' पद से अभिहित हो सकती है। और उसी प्रकार, न 'गृहत्व', 'गुलाबपन' तथा 'सूर्यास्तता' से ही अभिहित होने वाली वस्तुएँ हैं। कि गृह तथा गुलाब तथा सूर्यास्त सब रक्तवर्णी हैं, इस तथ्य को परम तथा मौलिक माना जा सकता है, और यह कहा जा सकता है कि श्री य अपनी ऐसी अलौकिक वस्तुओ के द्वारा, जिन्हे वह 'लाली' आदि सज्ञाओ से आक्षिप्त करता है, व्याख्या की दृष्टि से किसी लाभ मे नही हैं।

एक साधन का, जिसके द्वारा श्री य अपनी सामान्यो की अस्तित्वमीमासा हमारे पर

लादने का प्रयत्न कर सकता था हमने सामान्यो की समस्या पर विचार करने से पूर्व ही निराकरण कर दिया था। श्री य यह तक नहीं कर सकता कि 'लाल' तथा 'लाल है' पद, जिनका प्रयोग करने मे हम सब सहमत हैं, सार्थक होने के लिए आवश्यक रूप मे व्यष्टि—सामान्यो की संज्ञाएँ होने चाहियें। क्योंकि, जैसाकि हमने देखा, किसी वस्तु की संज्ञा होना सार्थक होने की अपेक्षा अत्यन्त सीमित और विशिष्ट गुण है। वह हम पर 'पीगासस होता है' विधेय के प्रयोग के कारण 'पीगासस होना' विशेषण को आरोपित करने का आक्षेप नहीं लगा सकता—कम से कम उस तर्क से सर्वथा नहीं।

किन्तु श्री य एक भिन्न पैंतरे का आश्रय लेता है। वह कहता है "मान लें कि हम आपके अर्थ और निर्देश (डिनोटेशन) मे भेंट को, जिसे आप इतना महत्व देते हैं, मान ही लेते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि 'लाल है', 'पीगासस होता है' आदि पद विशेषणो के अभिधान नहीं हैं। तो भी आप यह तो स्वीकार करते ही हैं, कि ये अर्थयुक्त हैं। किन्तु ये अर्थ, चाहे ये अभिधानित हो या नहीं, सामान्य ही हैं और मैं कह सकता हूँ कि इनमे से कुछ वही वस्तुएँ हो सकती हैं जिन्हें मैं विशेषण कहता हूँ—अथवा वैसा ही कुछ प्रयोजन सिद्ध करने वाली वस्तुएँ।

श्री य की दृष्टि मे यह एक असाधारण रूप से गम्भीर वक्तृता है, और इसके प्रत्याख्यान का एकमात्र उपाय जो मुझे दिखाई देता है वह है 'अर्थ' को स्वीकार नहीं करना। और फिर, मुझे अर्थों को अस्वीकार करने मे कोई झिझक भी नहीं है, क्योंकि इससे मैं शब्दो और कथनो की सार्थकता का निषेध करने को बाध्य नहीं हूँ। मैं तथा श्री य भाषीय आकृतियों के सार्थक और निरर्थक मे वर्गीकरण मे शब्दश सहमत हो सकते हैं, यद्यपि श्री य सार्थकता की परिभाषा 'अर्थसहित होना' ('सहित होने' के अर्थ मे) करता है और मैं नहीं करता। मैं यह मानने को स्वतन्त्र हूँ कि किसी पद की अर्थवत्ता (अथवा सार्थकता, और कथन के इस प्रकार को मैं अर्थों की वस्तु के रूप मे कल्पना से बचने के लिए अधिक उचित मानता हूँ) आत्यन्तिक तथा अविश्लेष्य तथ्य है, अथवा, मैं इसे लोगो के भाषीय ध्वनियो से उद्दीपन के प्रसग मे व्यवहार की पदावली मे भी विश्लेषित कर सकता हूँ।

अर्थों के सम्बन्ध मे लोग जिस प्रकार बात करते हैं, अथवा करते प्रतीत होते हैं, उसे दो भागों मे बाटा जा सकता है अर्थ रखना, जो सार्थकता है, तथा अर्थ-समानता, अथवा समानार्थकता। जिसे हम 'किसी उक्ति को अर्थ देना' कहते हैं वह मात्र पर्याय देना है, जो सामान्यत मूल कथन से स्पष्टतर भाषा मे होता है। यदि हम अर्थ मात्र के प्रति अलर्जिक हैं तो हम सीधे कथनों की सार्थकता अथवा निरर्थकता की बात कर सकते हैं तथा उन्हें परस्पर समानार्थक अथवा विपरीतार्थक कह सकते हैं। इन 'सार्थक' अथवा 'समानार्थक' विशेषणो की व्यवहार की पदावली मे कुछ स्पष्टता तथा निश्चितता के साथ व्याख्या की समस्या उतनी ही कठिन है जितनी महत्वपूर्ण।[1] किन्तु विशिष्ट तथा अविश्लेष्य मध्यवर्ती (इण्टरमीज्यरी) वस्तुओं के रूप मे अर्थों का व्याख्यात्मक मूल्य ही निश्चय ही शून्य है।

---

१ द्रष्टव्य फाम ए लॉजीकल प्वाइण्ट आफ व्यू मे अ २ तथा ३। (अ २ यहा आगे सक लित है। (अनु))

अब तक मैंने यह तर्क किया है कि व्यक्तिवाचक पदों का वाक्यों में सार्थक प्रयोग ऐसी वस्तुओं की पूर्वकल्पना के बिना भी कर सकते हैं जिन्हें अभिहित करने की ये पद आकांक्षा करते हैं। मैंने आगे यह तर्क किया है कि हम भाषा-ध्वनियों को सार्थक, तथा परस्पर समानार्थक अथवा विपरीतार्थक कह सकते हैं और फिर भी इस पूर्वकल्पना से बच सकते हैं कि 'अर्थ' पद से अभिधेय वस्तुओं का अस्तित्व है। यहाँ श्री य को यह आश्चर्य होने लगता है कि क्या इस अस्तित्वमीमांसात्मक निरापदता की कोई सीमा है? क्या कुछ भी हमें सामान्यों तथा अन्य अवांछित वस्तुओं की पूर्वकल्पना के लिए बाध्य नहीं करता?

मैंने इस प्रश्न का एक निषेधात्मक उत्तर पहले भी, रसल के वर्णन सिद्धान्त (थीयरी ऑफ डिस्क्रिप्शंस्) के प्रसंग में बद्ध चरों अथवा मात्रीकरण के चरों (वेरीयेबल्स ऑफ क्वाटीफिकेशंस्) की चर्चा के अवसर पर प्रस्तावित किया था। हम सहज ही अपने को अस्तित्वमीमांसात्मक स्वीकृतियों के सन्दर्भ में डाल सकते हैं यदि केवल हम इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करें, जैसे 'ऐसा कुछ है (बद्ध चर) जो लाल गृहों तथा सूर्यास्तों में समान रूप से है,' अथवा 'ऐसा कुछ है जो दस लाख से बड़ा पूर्णांक है'। किन्तु यह मूलतः एकमात्र ऐसी विधि है जिसके द्वारा हम अस्तित्वमीमांसात्मक विधान करते कहे जा सकते हैं अर्थात् बद्ध चरों के अपने प्रयोग के द्वारा। कथित नामों का प्रयोग कोई कसौटी नहीं है जब तक कि वस्तु के अस्तित्व की मान्यता को हम प्रयुक्त बद्ध स्थिरों (कांस्टेंट्स) की पदावली में नहीं खोज पाते। क्योंकि हम उनकी नामवत्ता का निषेध बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं। वास्तव में अस्तित्वमीमांसात्मक प्रश्न के लिए नामों का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि जैसा कि मैंने 'पीगासस' तथा 'पीगासयति' के प्रसंग में दिखाया, नामों का वर्णनों में रूपान्तरण किया जा सकता है, और जैसा कि रसल ने दिखाया है, वर्णनों का निरास सम्भव है। हम नामों के प्रयोग से जो कुछ भी कह सकते हैं वह ऐसी पदावली में भी कहा जा सकता है जिसमें नामों का प्रयोग निषिद्ध हो। किसी वस्तु के अस्तित्व की मान्यता का केवल मात्र एक अर्थ है उसे बद्ध चरों का मूल्य मानना। प्रचलित व्याकरण की पदावली में इस बात को स्थूल रूप से इस प्रकार से कहा जा सकता है कि 'होने का अर्थ है किसी सर्वनाम के निर्देश की विस्तार-सीमा में होना'। सर्वनाम निर्देशन के मौलिक माध्यम हैं, नामों को उपसर्वनाम कहना अधिक उचित होता। मात्रीकरण के चर, यथा 'कुछ', 'कुछ नहीं', 'सब कुछ', हमारी अस्तित्वमीमांसा के सम्पूर्ण विस्तार को व्याप्त करते हैं, यह अस्तित्व-सिद्धान्त जो भी चाहे हो। और हम विशिष्ट अस्तित्वमीमांसात्मक पूर्वमान्यता को तब स्वीकार करते कहे जा सकते हैं, यदि और केवल यदि, मान्य विषय प्रयुक्त चरों की विस्तार-सीमा में, उनमें से एक के सत्यापन के लिये, उपलब्ध हो सके।

उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि कुछ कुत्ते श्वेत हैं, और तब भी कुत्तापन अथवा श्वेतता के वस्तु रूप में स्वीकार से इन्कार कर सकते हैं। 'कुछ कुत्ते श्वेत हैं' वाक्य कथन करता है कि कुछ वस्तुएँ, जो कुत्ते हैं वे श्वेत हैं, और इस कथन के सत्य होने के लिए, उन वस्तुओं में, जो बद्ध चर 'कुछ' की विस्तार-सीमा में आते हैं, कुछ श्वेत कुत्तों का समावेश

आवश्यक है, किन्तु श्वेतता तथा कुत्तेपन का समावेश आवश्यक नही है। दूसरी ओर, जब हम कहते हैं कि कुछ प्राणी-जातियाँ सकर-प्रसवक्षम (क्रास-फर्टाइल) हैं, तब हम स्वय अनेक जातियो की वस्तुता को भी स्वीकार करने को बाध्य है, यद्यपि ये भाववाची (एब्सट्रैक्ट) हैं। कम से कम हम तब तक वैसा स्वीकार करने को बाध्य हैं जब तक कि हम इस कथन के पद-विन्यास की कोई ऐसी विधि नही घड लते जिससे यह दिखाया जा सके कि हमारे बद्ध चरो द्वारा जातियो का प्रातीकिक निर्देश केवल एक उक्ति-प्रकार है, जिसका निराकरण किया जा सकता है।[७]

जैसा कि हमने दस लाख से बडी अभाज्य सख्या के उदाहरण से देखा, प्राचीन गणित अमूत वस्तुओ की अस्तित्वमीमासा मे आकण्ठ डूबा हुआ है। इस प्रकार से सामान्यो सम्बन्धी मध्ययुगीन महान् विवाद गणित के आधुनिक दर्शन मे दोबारा उठ खडा हुआ है। यह प्रश्न आज पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, क्योकि आज हमारे पास यह निर्णय करने की अधिक अच्छी कसौटियाँ हैं कि किसी प्रस्तुत सिद्धान्त अथवा विषय क्षेत्र का अस्तित्वमीमासात्मक सीमा-विस्तार क्या है? एक सिद्धान्त उन, और केवल उन, वस्तुओ का अस्तित्व स्वीकार करने को बाध्य है जिनका निर्देश करने मे उस सिद्धान्त के चर (वेरीयेवल्ज) समर्थ हो, जिससे कि उस सिद्धान्त के अन्तगत विहित कथन सत्य हो सकें।

क्योंकि तत्वमीमासात्मक पूवमान्यताओ की यह कसौटी दार्शनिक परम्परा मे स्पष्टत उद्भूत नही हुई। इसलिए आधुनिक दार्शनिक गणित-शास्त्रियो ने सम्यक् प्रकार से यह नही देखा कि वे सामान्यो की उसी पुरानी समस्या पर नवीन और स्पष्टतर पदावली मे विचार कर रहे हैं। किन्तु गणित के आधारो विषयक आधुनिक दृष्टिकोणों मे विच्छेद या अन्तर स्पष्टतर रूप मे वस्तुओ की उस विस्तार-सीमा (रेंज) सम्बन्धी मतभेद को लेकर प्रकट होता है जो उचित रूप से बद्ध चर-प्रतीको (बाउण्ड वेरीयेबल्ज) के निर्देश विषय हो सकते हैं।

इतिहासज्ञ लोग सामान्यो विषय तीन प्रमुख दृष्टिकोणो को 'सामान्य सत्तावाद', 'सामान्य सम्प्रत्ययवाद', तथा 'सामान्य नामवाद' ये सज्ञाए देते हैं। तत्वत ये ही तीन सिद्धान्त बीसवी शताब्दी के गणित विषयक दार्शनिक पयवेक्षण मे तार्किकवाद (लाजिसिज्म) प्रातिभवाद (इंट्यूशनिज्म) तथा आकारवाद (फामलिज्म) के नये नामो मे पुन प्रकट हो गये।

सामान्य सत्तावाद (रीयलिज्म), जैसाकि इस पद का प्रयोग सामान्यो विषयक मध्ययुगीन विवादो को लेकर हुआ है, वह प्लेटोवादी सिद्धान्त है जो सामान्यो अथवा अमूत वस्तुओं का अस्तित्व मन से स्वतन्त्र मानता है, मन उन्हें खोज सकता है किन्तु उनका सृजन नही कर सकता। फ्रेगे, रसल, ह्वाइटहेड, चर्च और कार्नप द्वारा प्रस्तावित तार्किकवाद ज्ञात और अज्ञात, निरूपणीय अथवा अनिरूपणीय, सब अमूत वस्तुओं के बद्ध चर प्रतीको द्वारा निर्देश को विहित मानता है।

सम्प्रत्ययवाद (कासेप्चुअलिज्म) के अनुसार, सामान्यो का अस्तित्व है, किन्तु यह इन्हे मनोनिर्मित मानता है। प्रतिभानवाद (इण्टयूशनिज्म), जो आधुनिक काल मे व्राइकोर, ब्रोवर, वाइल तथा अन्यो द्वारा प्रस्तावित किया गया है, सामान्यो के निर्देश के लिए बद्ध चर प्रतीको का प्रयोग केवल तभी विहित मानता है यदि ये वस्तुएँ पूर्वत निरूपित घटको से व्यष्टिश घडी जा सकें। जैसाकि फॅंकल ने प्रतिपादित किया है, तार्किकवाद वर्गो (क्लासिस) को अन्वेषणीय मानता है, जबकि प्रतिभानवाद इन्हे आविष्कृत मानता है—यह सामान्य सत्तावाद तथा सम्प्रत्ययवाद के प्राचीन विवाद का अत्यन्त सुन्दर निरूपण है। यह विरोध केवलमात्र वाक्छल ही नही है, यह प्राचीन प्रतिष्ठित गणित की हमारी स्वीकृति की मात्रा में आधारभूत अन्तर डालता है। तार्किकवादी, अथवा सामान्य सत्तावादी, अपनी पूर्वधारणाओ के आधार पर कैंटर की असीमता की आरोही शृंखलाओ (एस्सेंडिग ऑडस) को उपलब्ध कर सकते हैं, प्रतिभानवादी असीमता की निम्नतम श्रृखला के साथ रुकने को बाध्य हैं, और एक परोक्ष परिणाम के रूप मे, वास्तविक सख्या के कुछ प्राचीन प्रतिष्ठित सिद्धान्तो को भी छोडने को बाध्य हैं।[८] वास्तव मे लोजीसिज्म (तार्किकवाद) तथा प्रतिभानवाद मे आधुनिक विवाद असीमता को लेकर ही उत्पन्न हुआ था।

तार्किकवाद द्वारा सामान्यो की विवेक-रहित स्वीकृति की आकारवाद द्वारा निन्दा प्रतिभानवाद को ही प्रतिध्वनित करती है। यह आकारवाद हिल्वर्ट के नाम के साथ सम्बन्धित है। किन्तु आकारवाद प्रतिभानवाद को भी असन्तोषजनक पाता है। यह स्थिति दो परस्पर विरोधी कारणो मे से किसी भी एक से सम्भव हो सकती है। आकारवादी, तार्किकवादी के समान ही, प्राचीन गणित को पगु करने पर आपत्ति कर सकता है, अथवा वह प्राचीन सामान्य नामवादियो के समान अमूर्त वस्तुओ को किसी भी प्रकार की स्वीकृति देने पर आपत्ति कर सकता है, उस सीमित अर्थ मे भी जिसके अनुसार उनका अस्तित्व केवल मन पर आश्रित है। दोनो का परिणाम एक ही है आकारवादी प्राचीन गणित को निरर्थक सख्याओ का खेल मात्र मानता है। यह सख्याओ का खेल मात्र होने पर भी उपयोगी हो सकता है—अपनी जो भी उपयोगिता यह भौतिक वैज्ञानिको तथा यन्त्र वैज्ञानिको के उपकरण के रूप मे प्रदर्शित कर चुका है। किन्तु किसी भी शाब्दिक भाषीय अर्थ मे उपयोगिता अर्थवत्ता को लागू नहीं करती। न ही प्रमेयो को घडने तथा एक दूसरे के परिणामो से सहमति के वस्तुनिष्ठ आधार पा सकने मे गणितशास्त्रियो की अद्भुत सफलता इसकी सार्थकता को लागू करती है। क्योंकि गणितशास्त्रियो मे सहमति के आधार केवल उन नियमो मे उपलब्ध हो सकते हैं जो सख्याओ के प्रयोग का नियमन करते हैं, और ये वाक्य-रचनात्मक (साइटेक्टिकल) नियम, स्वय सख्याओ से भिन्न, सार्थक और बोधगम्य होते हैं।[९]

---

८ उपरोक्त मे, पृ० १२५ से।

९ नेल्सन गुडमैन तथा क्वाईन "स्टेप्स टुवार्डस् ए कसट्रक्टिव नोमिनलिज्म," जर्नल आफ सिम्बालिक लॉजिक, जिल्द १२ (१९४७) पृ० १०५–१२२)

मैंने तर्क किया है कि हम जिस विशिष्ट प्रकार की अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करते हैं उससे विशिष्ट परिणाम भी अनुगत होते हैं—विशेषत गणित मे, यद्यपि यह केवल एक उदाहरण है। अब हम प्रतिस्पर्धी अस्तित्वमीमांसाओ मे किस प्रकार से निर्णय कर सकते हैं ? निश्चय ही इसका उत्तर इस भाषार्थ विज्ञान (सेमेंटिक्स) के इस सूत्र से, कि "होने का अर्थ है किसी चर प्रतीक का मूल्य होना", नही प्राप्त किया जा सकता, यह सूत्र तो वास्तव मे, इसके विपरीत, एक प्रदत्त उक्ति अथवा सिद्धान्त की किसी पूर्वस्वीकृत अस्तित्वमीमांसात्मक मानदण्ड से सगति की परीक्षा करने मे सहायक होता है। हम बद्ध चर-प्रतीको की ओर इसलिए नही झाँकते हैं कि उनसे हमे यह ज्ञात होता है कि किन वस्तुओ का अस्तित्व है प्रत्युत यह जानने के लिए झाँकते हैं कि कोई प्रदत्त उक्ति या सिद्धान्त किन वस्तुओं के अस्तित्व का विधान करता है, और इस सीमा तक समस्या उचित ही ऐसी है कि इसमे भाषा का भी प्रश्न प्रासगिक है। किन्तु अस्तित्ववान् क्या है ? यह पूर्णत भिन्न प्रश्न है।

किस का अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए अर्थ के धरातल पर विमर्श के लिए कुछ औचित्य तो है ही। एक औचित्य तो उस उलझन से बचना ही है जिसकी चर्चा हमने पीछे की थी वह है मेरी उन वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नही कर सकने की कठिनाई जिन्हें श्री य स्वीकार करने योग्य पाता है और मैं नही पाता। जब तक मैं अपनी अस्तित्वमीमांसा के प्रति वफादार रहता हूँ, जोकि श्री य की अस्तित्वमीमांसा के विपरीत है, मैं अपने बद्ध चर-प्रतीको को उन वस्तुओ का निर्देश नही करने दे सकता जो श्री य की अस्तित्वमीमांसा में विहित हैं किन्तु मेरी अस्तित्वमीमांसा मे विहित नही है। किन्तु मैं हमारे मतभेद का श्री य के कथनों के स्वरूपनिरूपण के द्वारा सगत रूप से वर्णन कर सकता हूँ। यदि मेरी अस्तित्वमीमांसा केवल भाषीय आकारो के सन्दर्भ में ही रहती है, अथवा कम से कम स्थूल लिपि-चिह्नो अथवा उक्तियो के सन्दर्भ में रहती है, तब मैं श्री य के वाक्यो के सम्बन्ध मे चर्चा कर सकता हूँ।

भाषार्थ के धरातल पर उतरने का दूसरा कारण यह भी है कि वाद-विवाद के लिए ऐसे धरातल की आवश्यकता है जो दोनो में सामान्य हो। अस्तित्वमीमांसा मे मतभेद सम्प्रत्ययात्मक योजना में मौलिक मतभेद को अर्थापतित करता है, किन्तु फिर भी, मैं तथा श्री य इन मौलिक मतभेदों के बावजूद पाते हैं कि हमारी सम्प्रत्ययात्मक योजनाएँ अपनी मध्यवर्ती तथा ऊपरी शाखा-प्रशाखाओं मे पर्याप्त मात्रा में अनुरूप हैं, जिससे हम राजनीति, ऋतु, और विशेषत भाषा के सम्बन्ध में, परस्पर सम्भाषण कर सकते हैं। जिस सीमा तक हमारी मौलिक अस्तित्वमीमांसा को शब्दों तथा उनके उपयोग विषयक विवाद में अनूदित करना

तथा पॉल बर्नेस सुर ले प्लेटोनिस्मे डस लेस मेथेमेटिक्स" ल' एन्साइनेमेंट मैथेमेटिके, जिल्द ३४ (१९३५-३६), पृ० ५२-६९। तथा मैक्स ब्लैक—दी नेचर आफ मैथेमेटिक्स।

सम्प्रत्ययवाद (कासेप्चुअलिज्म) के अनुसार, सामान्यो का अस्तित्व है, किन्तु यह इन्हें मनोनिर्मित मानता है। प्रतिभानवाद (इण्टयूशनिज्म), जो आधुनिक काल मे ब्राउवोर, ब्रोवर, वाइल तथा अन्यो द्वारा प्रस्तावित किया गया है, सामान्यो के निर्देश के लिए बद्ध चर प्रतीको का प्रयोग केवल तभी विहित मानता है यदि ये वस्तुएँ पूर्वत निरूपित घटकों से व्यष्टिश घडी जा सकें। जैसाकि फॅरन्ल ने प्रतिपादित किया है, तार्किकवाद वर्गों (क्लासिस) को अन्वेषणीय मानता है, जबकि प्रतिभानवाद इन्हे आविष्कृत मानता है—यह सामान्य सत्तावाद तथा सम्प्रत्ययवाद के प्राचीन विवाद का अत्यन्त सुन्दर निरूपण है। यह विरोध केवलमात्र वाक्छल ही नही है, यह प्राचीन प्रतिष्ठित गणित की हमारी स्वीकृति की मात्रा मे आधारभूत अन्तर डालता है। तार्किकवादी, अथवा सामान्य सत्तावादी, अपनी पूर्वधारणाओं के आधार पर कैंटर की असीमता की आरोही शृंखलाओं (एसेंडिंग ऑडर्स) को उपलब्ध कर सकते हैं, प्रतिभानवादी असीमता की निम्नतम शृंखला के साथ रुकने को बाध्य है, और एक परोक्ष परिणाम के रूप मे, वास्तविक संख्या के कुछ प्राचीन प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को भी छोडने को बाध्य हैं।[८] वास्तव मे लोजीसिज्म (तार्किकवाद) तथा प्रतिभानवाद मे आधुनिक विवाद असीमता को लेकर ही उत्पन्न हुआ था।

तार्किकवाद द्वारा सामान्यों की विवेक-रहित स्वीकृति की आकारवाद द्वारा निंदा प्रतिभानवाद को ही प्रतिध्वनित करती है। यह आकारवाद हिल्बर्ट के नाम के साथ सम्बन्धित है। किन्तु आकारवाद प्रतिभानवाद को भी असन्तोषजनक पाता है। यह स्थिति दो परस्पर विरोधी कारणो मे से किसी भी एक से सम्भव हो सकती है। आकारवादी, तार्किकवादी के समान ही, प्राचीन गणित को पंगु करने पर आपत्ति कर सकता है, अथवा वह प्राचीन सामान्य नामवादियो के समान अमूर्त वस्तुओ को किसी भी प्रकार की स्वीकृति देने पर आपत्ति कर सकता है, उस सीमित अर्थ में भी जिसके अनुसार उनका अस्तित्व केवल मन पर आश्रित है। दोनो का परिणाम एक ही है आकारवादी प्राचीन गणित को निरर्थक संख्याओ का खेल मात्र मानता है। यह संख्याओ का खेल मात्र होने पर भी उपयोगी हो सकता है—अपनी जो भी उपयोगिता यह भौतिक वैज्ञानिकों तथा यन्त्र वैज्ञानिको के उपकरण के रूप मे प्रदर्शित कर चुका है। किन्तु किसी भी शाब्दिक भाषीय अर्थ मे उपयोगिता अर्थवत्ता को लागू नही करती। न ही प्रमेयो को घडने तथा एक दूसरे के परिणामो से सहमति के वस्तुनिष्ठ आधार पा सकने मे गणितशास्त्रियों की अद्भुत सफलता इसकी सार्थकता को लागू करती है। क्योंकि गणितशास्त्रियों मे सहमति के आधार केवल उन नियमो मे उपलब्ध हो सकते हैं जो संख्याओं के प्रयोग का नियमन करते हैं, और ये वाक्य-रचनात्मक (साइटक्टिकल) नियम, स्वयं संख्याओ से भिन्न, सार्थक और बोधगम्य होते हैं।[९]

---

८ उपरोक्त मे, पृ० १२५ से।

९ नेल्सन गुडमैन तथा क्वाईन "स्टेप्स टुवार्डस् ए कंसट्रक्टिव नोमिनलिज्म," जर्नल आफ सिम्बालिक लॉजिक, जिल्द १२ (१९४७) पृ० १०५–१२२)

मैंने तर्क किया है कि हम जिस विशिष्ट प्रकार की अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करते हैं उससे विशिष्ट परिणाम भी अनुगत होते हैं—विशेषत गणित मे, यद्यपि यह केवल एक उदाहरण है। अब हम प्रतिस्पर्धी अस्तित्वमीमासाओं मे किस प्रकार से निर्णय कर सकते हैं ? निश्चय ही इसका उत्तर इस भाषार्थ विज्ञान (सेमेंटिक्स) के इस सूत्र से, कि "होने का अर्थ है किसी चर प्रतीक का मूल्य होना", नही प्राप्त किया जा सकता, यह सूत्र तो वास्तव मे, इसके विपरीत, एक प्रदत्त उक्ति अथवा सिद्धान्त की किसी पूर्वस्वीकृत अस्तित्वमीमासात्मक मानदण्ड से सगति की परीक्षा करने में सहायक होता है। हम बद्ध चर-प्रतीको की ओर इसलिए नही झाँकते हैं कि उनसे हमे यह ज्ञात होता है कि किन वस्तुओं का अस्तित्व है प्रत्युत यह जानने के लिए झाँकते हैं कि कोई प्रदत्त उक्ति या सिद्धान्त किन वस्तुओं के अस्तित्व का विधान करता है, और इस सीमा तक समस्या उचित ही ऐसी है कि इसमें भाषा का भी प्रश्न प्रासगिक है। किन्तु अस्तित्ववान् क्या है ? यह पूर्णत भिन्न प्रश्न है

किस का अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए अर्थ के धरातल पर विमर्श के लिए कुछ औचित्य तो है ही। एक औचित्य तो उस उलझन से बचना ही है जिसकी चर्चा हमने पीछे की थी वह है मेरी उन वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नही कर सकने की कठिनाई जिन्हें श्री य स्वीकार करने योग्य पाता है और मैं नही पाता। जब तक मैं अपनी अस्तित्वमीमासा के प्रति वफादार रहता हूँ, जोकि श्री य की अस्तित्वमीमासा के विपरीत है मैं अपने बद्ध चर-प्रतीको को उन वस्तुओ का निर्देश नही करने दे सकता जो श्री य की अस्तित्वमीमासा में विहित हैं किन्तु मेरी अस्तित्वमीमासा में विहित नही है। किन्तु मैं हमारे मतभेद का श्री य के कथनो के स्वरूपनिरूपण के द्वारा सगत रूप से वर्णन कर सकता हूँ यदि मेरी अस्तित्वमीमासा केवल भाषीय आकारो के सन्दर्भ मे ही रहती है, अथवा कम से कम स्थूल लिपि-चिह्नो अथवा उक्तियो के सन्दर्भ में रहती है, तब मैं श्री य के वाक्यो के सम्बन्ध मे चर्चा कर सकता हूँ।

भाषार्थ के धरातल पर उतरने का दूसरा कारण यह भी है कि वाद-विवाद के लिए ऐसे धरातल की आवश्यकता है जो दोनो मे सामान्य हो। अस्तित्वमीमासा में मतभेद सम्प्रत्ययात्मक योजना मे मौलिक मतभेद को अर्थापतित करता है, किन्तु फिर भी, मैं तथा श्री य इन मौलिक मतभेदो के बावजूद पाते हैं कि हमारी सम्प्रत्ययात्मक योजनाएँ अपनी मध्यवर्ती तथा ऊपरी शाखा-प्रशाखाओं मे पर्याप्त मात्रा में अनुरूप हैं, जिससे हम राजनीति, ऋतु और विशेषत भाषा के सम्बन्ध में, परस्पर सम्भाषण कर सकते हैं। जिस सीमा तक हम मौलिक अस्तित्वमीमासा को शब्दों तथा उनके उपयोग विषयक विवाद मे अनूदित कर

तथा पॉल बर्नेस "सुर ले प्लेटोनिस्मे डस लेस मेथेमेटिक्स" ल' एन्साइने मेथेमेटिके, जिल्द ३४ (१६३५–३६), पृ० ५८–६६। तथा मैक्स ब्लैक—नेचर आफ मैथेमैटिक्स।

सम्भव है उस सीमा तक विवाद को प्रमाणाप्रेक्षीता (क्वश्चन बैगिंग) के दोष से बचाया जा सकता है।

इसलिए, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है कि अस्तित्वमीमांसात्मक विवाद अन्ततः भाषा सम्बन्धी विवाद में परिणत हो जाय। किन्तु इससे हमें एकदम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाना चाहिये कि वस्तुओं की सत्ता शब्दों पर आधारित है। किसी प्रश्न का भाषार्थपरक (सेमेंटिकल) पदावली में अनुवाद्य होना यह प्रदर्शित नहीं करता कि यह प्रश्न भाषीय है। नेपल्स को देखना एक नाम को धारण करना है, जो, नाम जब 'नेपल्स को देखता है' इस पद के पहले जुड़ जाता है तब एक सत्य कथन—वाक्य को सम्भव करता है। तो भी, स्वयं नेपल्स को देखने में कुछ भाषीय नहीं है।

हमारा एक अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करना, मेरे विचार में, एक वैज्ञानिक सिद्धान्त को स्वीकार करने जैसा है, कहें, एक भौतिक-वैज्ञानिक योजना को स्वीकार करने जैसा। हम सरलतम सम्प्रत्ययात्मक योजना को स्वीकार करने का प्रयत्न करते हैं जिसमें कि अव्यवस्थित अनुभव को व्यवस्थित किया जा सकता है। एक बार एक समग्र सम्प्रत्ययात्मक योजना को निश्चित कर लेने पर हमारी अस्तित्वमीमांसा निर्धारित हो जाती है, जिसका प्रयोजन विज्ञान का, उसके व्यापकतम अर्थ में, आकलन करना है। और जो अपेक्षाएं उस सम्प्रत्ययात्मक योजना के किसी भी भाग के तर्कसम्मत सर्जन का निर्धारण करती हैं, उदाहरणतः जीववैज्ञानिक अथवा भौतिकवैज्ञानिक का, उन अपेक्षाओं से प्रकारतः भिन्न नहीं हैं जो समग्र के तर्कसम्मत सर्जन का निर्धारण करती हैं। चाहे जिस भी सीमा तक किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की स्वीकृति को भाषा का प्रश्न कहा जाय, वही—किन्तु उससे अधिक कदापि नहीं—अस्तित्वमीमांसा की स्वीकृति के सम्बन्ध में भी सही होगा।

किन्तु सरलता, सम्प्रत्ययात्मक योजनाओं की रचना के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में एक स्पष्ट तथा अमिश्र प्रत्यय नहीं है, और यह दुहरे अथवा अनेक विध मानक प्रस्तुत करने की योग्यता रखता है।

उदाहरणतः मान लें कि हम सम्प्रत्ययों के एक अत्यन्त लाघवपूर्ण संस्थान की रचना करने में सफल हो जाते हैं जो अव्यवहित अनुभवों के यथातथ्य इतिवृत्त की सूचना उपयुक्त रूप में दे सकता है। अब, मान लें कि इस योजना के अन्तर्गत वस्तुएं बद्ध चर-प्रतीकों के मूल्य—संवेदों अथवा विचारों की आत्मनिष्ठ घटनाएँ हैं। निस्सन्देह, तब भी हम पाएंगे कि एक भौतिकतावादी सम्प्रत्ययात्मक योजना (फिजिकलिस्टिक कान्सेप्चुअल स्कीम), जो केवल बाह्य विषयों की चर्चा करती हैं, हमारी समग्र सूचनाओं के सरलीकरण में बहुत उपयोगी रहती है। विशृंखल ऐन्द्रिय संवेदों को एकत्र कर तथा उन्हें एक ही विषय के प्रेक्षण मान कर हम अनुभवों के जटिल प्रवाह को व्यवस्थित तथा सरल सम्प्रत्ययात्मक संस्थान में ला सकते हैं। विषयों को संवेदों से सम्बन्धित करते हुए निश्चय ही सरलता का नियम हमारा निर्देशक सूत्र रहता है हम पूर्व तथा पश्चात् के गोलाकार संवेद—प्रदत्तों को एक ही तथाकथित "पैसे" के साथ जोड़ते हैं अथवा दो भिन्न पैसों के साथ जोड़ते हैं, जैसा भी

हमारे सम्पूर्ण विश्व–चित्र मे अधिकतम सरलता की माँग के अनुसार उपयुक्त होता है।

यहाँ हमें दो स्पर्धी सम्प्रत्ययात्मक योजनाएँ प्रस्तुत है, सवेद अस्तित्ववादी योजना तथा वस्तु-अस्तित्ववादी योजना। कौन सी योजना स्वीकार की जानी चाहिये ? दोनो के अपने अपने लाभ हैं, दोनों की अपनी-अपनी विशिष्ट सरलताएँ हैं। मेरे विचार मे, दोनो को विकसित करना उचित है। प्रत्येक को अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत कहा जा सकता है, यद्यपि भिन्न अर्थों मे एक ज्ञानमीमासात्मक रूप से और दूसरी भौतिक रूप मे आधारभूत है।

भौतिक सम्प्रत्ययात्मक योजना हमारे सख्या विकीर्ण अनुभवो को तथाकथित व्यष्टि—वस्तुओ से सम्बद्ध करके हमारे अनुभवो के विवरण को सरलता का सौष्ठव देती है, तो भी यह सम्भव नही है कि भौतिक विषयो सम्बन्धी प्रत्येक वाक्य का सवेदप्रदत्तवादी भाषा मे अनुवाद किया जा सके, चाहे कितना भी क्लिष्ट तथा अस्पष्ट यह अनुवाद क्यो न हो। भौतिक विषय आभ्युपगमिक (पोस्टयूलेटिड) वस्तुएँ हैं जो हमारे अनुभव-प्रवाह के विवरण को सुघड तथा सरल बनाती हैं, जिस प्रकार से अपरिमेय सख्याओ (इर्रेशनल नम्बज़) के समावेश से अकगणित के सिद्धान्त मे सरलता आई। केवल परिमेय सख्याओ के आरम्भिक अकगणित की सम्प्रत्ययात्मक योजना के दृष्टिकोण से परिमेय तथा अपरिमेय सख्याओ के समावेशक विस्तृततर अकगणित का स्थान सुविधापेक्ष कल्पना का सा होगा, वास्तव सत्य से अर्थात् परिमेय सख्याओ के गणित से) सरलतर किन्तु तब भी इस वास्तव सत्य का अव्यवस्थित भाग के रूप मे समावेश करता हुआ। इसी प्रकार, सवेदप्रदत्तवादी दृष्टिकोण से भौतिक विषयो की सम्प्रत्ययात्मक योजना एक सुविधाजनक कल्पना है, वास्तव सत्य से सरलतर किन्तु फिर भी उस वास्तव सत्य का अव्यवस्थित भाग के रूप मे समावेश करती हुई।[१०]

तब फिर वर्गो तथा भौतिक विषयो के विशेषणो का क्या होगा ? इस प्रकार की प्लेटोवादी अस्तित्वमीमासा, पूर्ववत भौतिकसिद्धान्तवादी (फिज़ीकलिस्टिक) दृष्टिकोण से उतनी ही कल्पना है जितनी यह स्वय सवेदप्रदत्तवादी सिद्धान्त मे है। यह उन्नततर कल्पना जिस सीमा तक हमारे भौतिक विज्ञान के विवरण को सरलता देती है उसी सीमा तक यह उत्तम और उपयोगी है। क्योंकि गणित उन्नततर कल्पना का अभिन्न भाग है, इसलिए इस कल्पना की भूतविज्ञान के लिए उपयोगिता स्पष्ट है। किन्तु इसे एक कल्पना कह कर मैं गणित के उस दर्शन को प्रतिध्वनित कर रहा हूँ जिसे मैंने पीछे आकारमात्रवाद (फामलिज्म) कहा था। किन्तु आकारमात्रवादी रवैया पूरे औचित्य के साथ विशुद्ध सौष्ठववादी (ह्यूरिष्टिक) अथवा सवेदवादी द्वारा भौतिकसिद्धान्तवाद के प्रति भी अपनाया जा सकता है।

गणित की कल्पनामूलक सत्ताओ तथा भौतिक विज्ञान की कल्पनामूलक सत्ताओ में अनुरूपता कुछ अन्य प्रकार से भी बहुत अधिक है। उदाहरणत इस शताब्दी के आरम्भ मे

---

१० गणित की उपमा फ्रेंक की पुस्तक "माडर्न साइन्स एण्ड इटस फिलासफी, पृ० १०८ से, ली गयी है।

रसल के विरोधाभास (पेराडोक्स) तथा सैट-सिद्धान्त के विप्रतिषेधों (एंटीनोमीज) की खोज के परिणामस्वरूप निष्पन्न क्रान्ति को देखा जा सकता है। इनके निराकरण के लिए तर्कमूलक तथा तात्कालिक उपायों को काम में लाया गया।[11] गणित में हमारी काल्पनिक सर्जना प्रयत्नसाध्य तथा सर्वविदित हो गयी। किन्तु तब भौतिक विज्ञान का क्या हुआ? यहाँ स्तोक-सिद्धान्त तथा ऊर्मि-सिद्धान्त (क्वांटम थीयरी तथा वेव थीयरी) में विरोधाभास उत्पन्न हुआ, और यदि यह रसल के विरोधाभास के समान पूर्ण विरोधाभास नहीं भी था तो, मेरे विचार में, इसका कारण यह है कि भौतिकी गणित के समान पूर्णतः काल्पनिक नहीं है। और पुनः, गणित के आधारों में दूसरी महान् क्रान्ति, जो १९३१ में गूडल के इस प्रमाण से प्रेरित हुई कि गणित में अनिर्धारित कथनों का होना अनिवार्य है, की अनुरूपता भौतिकी में हीजन्बर्ग के अनिर्धारितता के सिद्धान्त में उपलब्ध होती है।

आरम्भिक पृष्ठों में मैंने दिखाने का प्रयत्न किया था कि कुछ अस्तित्वमीमांसाओं के पक्ष में कुछ प्रचलित युक्तियाँ भ्रामक हैं। इसके पश्चात्, मैंने एक स्पष्ट कसौटी प्रस्तुत की जिससे किसी सिद्धान्त की अस्तित्वमीमांसात्मक विस्तार-सीमा देखी जा सकती है। किन्तु कौन सी अस्तित्वमीमांसा अपनायी जाय, यह प्रश्न अब भी खुला है, और इसके लिए उपयुक्त सम्मति यही है कि सहिष्णुता तथा प्रयोग-वृत्ति का आश्रय लिया जाय। हमें यह देखने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि भौतिकवादी सम्प्रत्ययात्मक योजना का संवेदवादी सम्प्रत्ययात्मक योजना में किस सीमा तक अन्तर्भाव किया जा सकता, किन्तु तब भी भौतिक विज्ञान हमारे प्रयत्नों की उतनी ही अपेक्षा करता है, चाहे वह पूर्ण रूप से अन्तर्भाव्य ही क्यों न हो? हमें देखने का प्रयत्न करना चाहिए कि प्राकृतिक विज्ञानों को प्लेटोवादी गणित से किस सीमा तक अलग किया जा सकता है, किन्तु साथ ही हमें गणित में अनुसन्धानों के प्रयत्न भी जारी रखने चाहियें और उसके प्लेटोवादी आधारों में डुबकी लगानी चाहिए।

इन विभिन्न प्रयत्नों के उपयुक्त विभिन्न सम्प्रत्यय योजनाओं में से एक—संवेदवाद—ज्ञान मीमांसात्मक प्राथमिकता का दावा करती है। संवेदवादी सम्प्रत्यय योजना के भीतर से झाँकते हुए, भौतिक विषय तथा गणित के विषय कल्पनामूलक हैं। किन्तु काल्पनिक विषय—रचना का गुण सापेक्ष है, यहाँ ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टिकोण का सापेक्ष। यह दृष्टिकोण अनेक में से एक है—हमारी विभिन्न रुचियों और उद्देश्यों के अनुरूप ही।

---

११ द्रष्टव्य क्वाईन—पूर्वोक्त, पृ० ९० से, ९६ से तथा १२२ से।

अनुभववाद की दो अपरीक्षित मान्यताएँ

विलर्ड वान् ओर्मान क्वाइन

आधुनिक अनुभववाद दो विशेष मान्यताओं से बँधा रहा है। एक तो उसकी यह धारणा रही है कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक सत्य के बीच की खाई पट नहीं सकती। पहला, उसके अनुसार, तथ्य से विलग केवल अर्थ मात्र पर ही आधारित है, जबकि दूसरा तथ्य या वस्तु-स्थिति पर ही पूर्णरूपेण आश्रित है। इसकी दूसरी धारणा यह है कि प्रत्येक अर्थपूर्ण वाक्य किन्हीं ऐसे पदों का तार्किक व्यापार है जो सीधे किसी अपरोक्षत अनुभूत तथ्य का निर्देश करते हैं। इसको अन्तर्भाववाद (रिडक्शनिज्म) भी कह सकते हैं। दोनों विश्वास मेरी राय में, तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। और यही मैं इस निबन्ध में सिद्ध करने की कोशिश करूँगा। यदि दोनों धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हो जायें, तो इनको छोड़ने का एक ओर यह असर होगा कि विज्ञान और दर्शन के बीच का भेद धुँधला हो जायगा और दूसरी ओर प्रेग्मेटिज्म की ओर झुकाव बढ़ेगा।

[१] विश्लेषणात्मकता के लिये पृष्ठ भूमि

काण्ट ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक सत्यों में जो भेद किया उसका पूर्वाभास ह्यूम के उस भेद में पहले ही मिलता है जो उसने तथ्यों और विचार-प्रत्ययों के आन्तरिक सम्बन्धों के बीच किया है। दार्शनिक लाइबनिज ने भी कुछ इसी प्रकार का भेद तथ्यात्मक सत्य और बुद्धिगत सत्य के बीच किया था। लाइबनिज ने बुद्धिगत सत्य का सभी संसारों में सत्य होना अनिवार्य माना है। इसी बात को यदि सीधी-सादी भाषा में कहें तो इसका अर्थ यह होगा कि बुद्धिगत सत्य वे सत्य हैं जो कभी असत्य हो ही नहीं सकते। इसके अनुरूप ही हम विश्लेषणात्मक वाक्यों की ऐसी परिभाषा भी सुनते हैं कि ऐसे वाक्य वे वाक्य हैं जिनका निषेध, या जिनको गलत ठहराना स्वयं अन्तर्विरोध को जन्म देता है। लेकिन इस परिभाषा से विश्लेषणात्मकता के अर्थ को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती प्रतीत होती, क्योंकि 'अन्तर्विरोध' का अर्थ, विशेषकर उस व्यापक दृष्टिकोण में जिसमें वह विश्लेषणात्मकता को समझने में मदद दे सके उतना ही धुँधला है जितनी कि विश्लेषणात्मकता भी। दोनों प्रत्यय वास्तव में एक ऐसे सिक्के की दो तरफें हैं जिसके खरे होने में शक हो।

काण्ट ने विश्लेषणात्मक वाक्य को इस प्रकार समझा था कि उसमें उद्देश्य-पद के बारे में वही कहा जाता है जो उसके प्रत्यय में पहले से ही अन्तर्निहित है। इस प्रतिपादन में

दो कमियां है पहली तो यह कि यह केवल उद्देश्य–विधेय प्रकार के वाक्यो तक ही सीमित रहता है, और दूसरी यह कि 'अन्तर्निहित' का प्रयोग कुछ आलङ्कारिक रूप मे ही किया गया है। फिर भी काण्ट का अर्थ यदि हम उसकी परिभाषा को भूल जायं और केवल उसके व्यवहार की ओर दृष्टिपात करें, कुछ इस प्रकार से बताया जा सकता है—वाक्य विश्लेषणात्मक तब होता है जब उसकी सत्यता उसके पदो की सत्यता पर ही पूर्ण रूपेण आश्रित होती है, किसी वस्तु–स्थिति पर नही। इस दिशा सङ्केत के अनुसार, अब हमे 'अर्थ' के उस वास्तविक अर्थ की खोज करनी चाहिये जो इस परिभाषा के बगैर विश्लेषण किये ही मान लिया गया है।

'अर्थ' वही चीज नही है जो 'नाम' है। अर्थ और नामकरण दो भिन्न भिन्न बातें हैं[1] ऐसा हमे ध्यान रखना चाहिये। फ्रेगे और रसल के प्रसिद्ध उदाहरण 'संध्या का तारा' और 'भोर का तारा' या 'स्कॉट' और 'वेवरली का लेखक' इस बात को साफ तौर पर सिद्ध करते हैं कि विभिन्न पद एक ही वस्तु का नाम होते हुए भी अलग अलग अर्थ रख सकते हैं। उन पदो के विषय मे भी जो वस्तु–विशेष के द्योतक नही हैं, यह भेद उतना ही सार्थक है। संख्या '१' और 'ग्रहो की संख्या' एक ही अमूर्त वस्तु के नाम हैं परन्तु उनके अर्थों को सम्भवतया भिन्न ही मानना पडेगा क्योकि उनके विषय की वास्तव मे एकता सिद्ध करने के लिये खगोलिक अनुसन्धान की आवश्यकता पडी, न कि केवल उनके अर्थों पर शुद्ध चिन्तन की।

ऊपर के उदाहरण केवल ऐसे पदो के हैं जो किसी वस्तु–विशेष के द्योतक हो, फिर चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त। सामान्य अथवा विधेय–पदो की समस्या कुछ भिन्न है, यद्यपि वह समानान्तर है। जबकि विशेष–वस्तु वाचक पद किसी का नाम देने की कोशिश करते हैं, चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, सामान्य पद वास्तव मे किसी का भी नाम नही होते।[2] परन्तु फिर भी, सामान्य पद किसी एक वस्तु के बारे मे, या बहुत सी वस्तुओ में से हर एक के बारे मे, या किसी के बारे मे भी नही, सत्य होता है। उन सब वस्तुओ का समूह, जिनके बारे में कोई भी सामान्य–पद सही–सही लागू किया जा सकता है, उस पद का विस्तार कहलाता है। अब उसी भेद के सामानान्तर, जो हमने विशिष्ट पदो के अर्थ और उनकी वस्तु–द्योतकता के बीच किया था, एक और भेद सामान्य पदो के अर्थ और उनके विस्तार के बीच भी करना पडेगा। उदाहरण के रूप मे "हृदय रखने वाले प्राणी" और 'गुर्दा रखने वाले प्राणी' पद शायद अपने विस्तार मे अभिन्न हो, परन्तु अर्थ मे तो भिन्न ही होगे।

सामान्य पदो मे अर्थ और विस्तार मे घपला कम होता है जब कि विशिष्ट पदो में अर्थ का नामकरण के साथ घपला अधिक साधारण बात है। दार्शनिक चिन्तन मे अर्थ और विस्तार का भेद एक बहुत प्रचलित बात है।

अरस्तू का सत्व (एस्सेंस) का सिद्धान्त, निस्सन्दिग्ध रूप से, अर्थ अथवा अभिप्राय का

---

१ द्रष्टव्य—क्वाइन 'फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू', पृ० ६।

२ वहीं, पृ० १० तथा ११७–११५।

पूर्वगामी है। अरस्तू के लिये मनुष्य का बुद्धियुक्त होना उसका मूल-सत्व है, जब कि उसका दो पाँव रखना केवल एक आकस्मिक बात है। लेकिन उसमे और अर्थ के सिद्धान्त मे एक महत्वपूर्ण भेद है। अर्थ के दृष्टिकोण से, यह बात, हम यदि तर्क के लिये स्वीकार भी कर लें कि 'मनुष्य' शब्द मे 'बुद्धिमत्ता' निहित है जबकि दो पाँव रखना। उस अर्थ के लिये आवश्यक नही है, तब भी किसी और शब्द, जैसे 'द्विपद' के अर्थ मे 'दो पाँव रखना' आवश्यक रूप से निहित हो सकता है और 'बुद्धिमान होना' बिल्कुल अनावश्यक। इस प्रकार अर्थ के सिद्धान्त के दृष्टिकोण से किसी जीते-जागते व्यक्ति के लिये, जो एक साथ ही आदमी और द्विपद दोनों ही है, यह कहना कि 'बुद्धिमान होना' उसका विशिष्ट सत्व है और 'दो पाव रखना' आकस्मिक बात है या कि 'दो पाँव रखना' विशिष्ट सत्व है और 'बुद्धिमान होना' आकस्मिक बात है, बिल्कुल निरर्थक है। अरस्तू के लिये विशिष्ट सत्व वस्तुओ मे था जब कि अर्थ केवल भाषीय रचनाओं का ही होता है। सत्व को जब हम निर्दिष्ट वस्तु से अलग कर केवल शब्द के साथ जोड देते हैं, तब वह अर्थ हो जाता है।

अर्थ के सैद्धान्तिक विवेचन मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके विषय के स्वरूप के बारे मे उत्पन्न होता है, कि आखिर अर्थ स्वय मे किस प्रकार की वस्तु है। अर्थगत सत्ताओ की आवश्यकता का आधार यह भी हो सकता है कि पहले अर्थ तथा निर्देश मे भेद नही देखा गया था। एक बार अर्थ के सिद्धान्त का निर्देश के सिद्धान्त मे पूर्णरूप से भेद कर लेने पर यह बात साफ जाहिर हो जायगी कि अर्थ के विवेचन का पहला कार्य केवल पदो की समानार्थकता और वाक्यों की विश्लेषणात्मकता है। एक तीसरे मध्यस्थ के रूप मे अर्थ कुछ नही है और इसलिये पूर्णरूप से छोडे जा सकते है।[3]

तब विश्लेषणात्मकता की समस्या हमारे सामने फिर नये रूप मे आती है। ऐसे वाक्य, जो दार्शनिक सर्वसम्मति से विश्लेषणात्मक हों, ढूंढना कोई मुश्किल बात नही है। वे दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं। पहला भाग उन वाक्यो का है जिन्हे तार्किक रूप से सत्य कहा जा सकता है, जैसे

(१) कोई भी अविवाहित आदमी विवाहित नहीं है।

इस उदाहरण की विशेष बात यह है कि यह केवल इसी रूप मे सत्य नही है, वरन् 'आदमी' और 'विवाहित' पदों की सभी व्याख्याओ के अन्दर भी यह उसी प्रकार सत्य रहता है। यदि हमारे पास पहले से ही तार्किक पदो, जैसे 'नहीं' 'अ-', 'तब', 'और' आदि की सूची हो तब साधारणतया वे वाक्य तार्किक रूप से सत्य कहे जा सकते हैं जो तार्किक पदो के अलावा अन्य सभी पदो को किसी भी अर्थ मे लेने पर सदैव सत्य रहते हैं।

लेकिन विश्लेषणात्मक वाक्यों का एक और भी प्रकार होता है, जैसे

(२) कोई भी कुंवारा विवाहित नहीं है।

इस प्रकार के वाक्यो की विशेषता यह है कि इनको आसानी से तार्किक सत्यता प्रदान

---

३ वहीं, पृ० ११ तथा पृ० ४८।

की जा सकती है, यदि हम एक शब्द के स्थान पर उसका समानार्थक कोई दूसरा शब्द रख दें। जैसे वाक्य (२) को आसानी से वाक्य (१) में परिवर्तित किया जा सकता है यदि हम 'कुँवारा' पद के स्थान पर उसका समानार्थक पद 'अविवाहित आदमी' रख दें। परन्तु जहाँ तक दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक वाक्यों का सवाल है, उनका ठीक ठीक स्वरूप अभी हमें दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि 'समानार्थकता' का प्रत्यय जो हमने उनको समझने में प्रयोग किया है स्वयं स्पष्टता की माँग करता है।

पिछले कुछ वर्षों में, कार्नप ने विश्लेषणात्मकता को अपने 'स्थिति-वर्णनों' (स्टेट डिस्क्रिप्शन)[४] के संदर्भ में समझाने का प्रयत्न किया है। 'स्थिति-वर्णनात्मकता' का अर्थ अणु वाक्यों को कोई भी एक अशेष सत्य या असत्य मूल्य प्रदान करना है। कार्नप यह मान कर चलता है कि भाषा के अन्य सभी वाक्य उन विभिन्न अंशों से बने हैं जो तार्किक उपायों के सहारे एक सूत्र में इस प्रकार सम्बन्धित और रचित किए गये हैं कि सम्पूर्ण वाक्य का सत्य या असत्य होना विशिष्ट तार्किक नियमों के द्वारा प्रत्येक स्थिति-वर्णन के लिए निर्धारित होता है। इसके अनुसार, वाक्य विश्लेषणात्मक उस हालत में होता है जब किसी भी स्थिति-वर्णन में वह सदैव सत्य उतरता है। वास्तव में यह लाइबनित्ज के प्रसिद्ध सिद्धान्त "सब सम्भव संसारों में सत्य" का ही एक नया रूप है। लेकिन यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विश्लेषणात्मकता का यह अर्थ तभी ठीक बैठता है जब कि भाषा के अणुवाक्य एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र हों, यानि वे "जॉन कुँवारा है" और 'जॉन विवाहित है' इस प्रकार के नहीं हों। अन्यथा एक ऐसी स्थिति-वर्णनात्मकता होगी जो 'जॉन कुँवारा है' और 'जॉन विवाहित है' वाक्यों को सत्यता प्रदान करेगी और इस प्रकार 'कोई भी कुँवारा विवाहित नहीं है' वाक्य संश्लेषणात्मक हो जायगा। इस प्रकार विश्लेषणात्मकता को 'वर्णनात्मक-वस्तु स्थिति' के द्वारा समझने की कोशिश उन्हीं भाषाओं के लिये सफल हो सकती है जिनमें कोई भी दो अतार्किक समानार्थक शब्द न हों, जैसे कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित आदमी'-यानि उस प्रकार के समानार्थक शब्द जो दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक वाक्यों को जन्म देते हैं। 'वर्णनात्मक वस्तु स्थिति' तार्किक सत्यता को बता सकती है, न कि विश्लेषणात्मकता को।

मेरी इस बात से यह नहीं समझना चाहिये कि कार्नप को स्वयं उसके बारे में कोई गलतफहमी है। उसकी 'स्थिति वर्णन युक्त' तार्किक भाषा की रचना वास्तव में विश्लेषणात्मकता की समस्या को हल करने के लिए नहीं दी गई है। उसका तो उद्देश्य ही दूसरा है—यानि आगमन-तर्क की समस्याओं को सुलझाना। परन्तु हमारी समस्या तो विश्लेषणात्मकता की है और इसकी विशिष्ट कठिनाई तार्किक रूप से सत्य वाक्यों के सम्बन्ध में उत्पन्न न होकर दूसरे प्रकार के वाक्यों के बारे में पैदा होती है, जिनकी विश्लेषणात्मकता 'समानार्थकता' पर आश्रित है।

---

४ कार्नप 'मीनिंग एंड नेसेस्सिटी', पृ० ९ तथा 'लॉजिकल फाउंडेशन्स् ऑफ लेंग्वेज' पृ० ७०।

[२] परिभाषा

ऐसे लोग भी हैं जिन्हे यह मानना अच्छा लगता है कि परिभाषा द्वारा दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक वाक्यो का पहले प्रकार के वाक्यो मे, जो तार्किक रूप मे अनिवार्यत सत्य हैं, अन्तर्भाव किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर 'कुँवारा' शब्द की परिभाषा ही इस प्रकार की जा सकती है कि उसका अर्थ 'अविवाहित आदमी' हो। परन्तु हम यह किस तरह मालूम करते हैं कि 'कुँवारा' पद 'अविवाहित' के रूप मे परिभाषित है? उसकी ऐसी परिभाषा किसने की, और कब की? क्या हम अपने सबसे सहज उपलब्ध शब्द-कोष की दुहाई देंगे और जो उसके बनाने वाले ने लिखा है, उसको अनिवार्य नियम मान लेंगे? यह तो साफ तौर पर, बात को बिल्कुल उलटा समझना होगा। शब्द-कोष बनाने वाला तो एक ऐसा वैज्ञानिक है जो वास्तव मे वस्तु-स्थिति क्या है उसका अध्ययन करता है। उसका काम तो पूर्ण-घटित घटनाओ का ब्योरा रखना है और यदि वह 'कुँवारा' शब्द को 'अविवाहित' का पर्यायवाची मानता है, तो केवल अपने इसी विश्वास के आधार पर कि दोनो मे एक समानार्थकता का सम्बन्ध है जो उसके लिखने के पूर्व शब्दो के साधारण या विशेष प्रयोग मे निहित है। परन्तु 'समानार्थकता' का अर्थ तो तब भी साफ नही होता और शायद इसका समाधान मनुष्य के भाषा-व्यवहार या भाषा-प्रयोग मे मिले। फिर भी यह तो निश्चित ही है कि शब्द-कोष के बनाने वाले की दी गई परिभाषा के आधार पर समानार्थकता का निरूपण नही किया जा सकता क्योंकि वह तो स्वयं शब्दो के पूर्व नियत सामानार्थक प्रयोग पर आधारित है।

परिभाषा का कार्य केवल भाषा-विदो तक ही सीमित नही है। दार्शनिक और वैज्ञानिक भी बहुधा ऐसे स्थल पाते हैं जहाँ उन्हे किसी अपरिचित पद की परिभाषा अधिक परिचित पदो मे करनी पड़ती है। परन्तु ऐसी परिभाषाएँ भी आमतौर पर, भाषा-विद की परिभाषा के समान शुद्ध भाषा-कोष बनाने जैसी ही होती है। वे एक ऐसी समानार्थकता को बताती हैं जो पहले से ही मान ली गई है।

यह बात कोई बहुत स्पष्ट नही है कि वास्तव मे जब कोई दो पदो को समानार्थक कहता है तो उसका क्या मतलब होता है, या भाषा के विभिन्न प्रकारो के बीच वे सम्बन्ध क्या है, जिनके होने पर ही उनको समानार्थक कहा जा सकता है। लेकिन ये सम्बन्ध चाहे कुछ भी हों, साधारणतया उनका आधार भाषा के प्रयोग मे ही है। परिभाषाएँ, जो समानार्थकता के कुछ चुने हुए उदाहरण लेकर बनाई जाती हैं, वास्तव मे भाषा के कुछ प्रयोगो का ही वर्णन करती हैं।

लेकिन इसके अलावा एक और परिभाषा-प्रक्रिया भी होती है जो अपने को पूर्व-नियत समानार्थकताओ का वर्णन करने तक ही सीमित नही रखती। मेरा मतलब उससे है जिसको कार्नप 'व्याख्या करना' कहता है। यह ऐसा कार्य है जिसमे लगना दार्शनिको की सहज प्रवृत्ति है और वैज्ञानिक भी अपने दार्शनिक क्षणो मे इसी का सहारा लेते हैं। व्याख्या करने का मतलब परिभाष्य शब्द के केवल सीधे पर्यायवाची शब्द देना नहीं है, वरन् उसके अर्थो की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना और विस्तार करके उसकी परिशुद्धि करना भी है। परन्तु यह सत्य होते

हुए भी कि व्याख्या परिभाष्य और परिभाषा मे किसी पूर्व स्थित समानार्थकता का वर्णन नही है, वह किन्ही अन्य पूर्व–स्थित समानार्थकताओ पर तो आश्रित रहती ही है। इस बात को ऐसे समझा जा सकता है—कोई भी शब्द जो व्याख्या के योग्य समझा जाता है, ऐसे विशेष सदर्भ रखता है जो प्रयोग की दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट और सही होते हैं। व्याख्या का काम तब इन विशिष्ट सदर्भो मे हुए प्रयोगात्मक अर्थ को बचाये रख कर अन्य सदर्भो मे किये गये प्रयोगो को एक सुनिश्चितता प्रदान करना होता है। व्याख्या के लिये किसी परिभाषा का उचित होना, तब, इस पर निर्भर नही करता कि परिभाष्य शब्द अपने पूर्व–प्रयोगो मे पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग से समानार्थक है अपितु केवल इस पर कि उसके विशिष्ट सदर्भो मे है।

दो भिन्न भिन्न परिभाषाएँ व्याख्या के काम के लिये एक सी होकर भी एक दूसरे के समानार्थक नही भी हो सकती हैं, क्योकि विशिष्ट सदर्भो मे जब कि उनका प्रयोग एक–दूसरे के स्थान पर सत्य मे अन्तर लाये बिना किया जा सकता है, अन्य सदर्भो मे ऐसा शायद सम्भव न हो। उन परिभाषाओ मे से यदि हम केवल एक ही को पकड कर चलें तो व्याख्यात्मक ढँग की परिभाषा मनमाने ढँग से परिभाषा और परिभाषेय मे एक ऐसे समानार्थक सम्बन्ध को जन्म देती है जो पहले नही था। लेकिन, जैसा कि हम पहले देख चुके है, ऐसी परिभाषा अपने व्याख्यात्मक कार्य मे पूर्व–स्थित समानार्थकताओ पर ही आधारित होती हैं।

इनके अलावा, एक और प्रकार की परिभाषा भी होती है जो किसी भी पूर्व–समानार्थकता का आश्रय नही लेती। यह नये चिह्नो का स्पष्टत रूढ प्रयोग है जो चिह्न केवल सक्षेप के लिये आविष्कृत किये जाते है। यहाँ परिभाषा और परिभाषेय केवल इसलिये समानार्थक होते हैं क्योकि परिभाषा परिभाषेय के समानार्थक होने के लिये ही गढी जाती है। वास्तव में, यह उस स्थिति का स्पष्ट उदाहरण है जहाँ समानार्थकता की सृष्टि केवल परिभाषा के ही द्वारा उत्पन्न होती है। कितना अच्छा होता यदि समानार्थकता के अन्य प्रकार भी इसी की भाँति समझ मे आ सकते। परन्तु, जहाँ तक अन्य अर्थो का प्रश्न है, उनमे तो परिभाषा समानार्थकता को समझाने के बजाय स्वय उसी पर आश्रित होती है।

'परिभाषा' शब्द गणित और तर्क–शास्त्र मे बहुधा प्रयोग के कारण बहुत परिचित हो गया है और इससे यह भ्रामक रूप से सरलता का आश्वासन उत्पन्न करता है। इसलिये यह उचित ही होगा यदि हम थोडे मे यह देखने की कोशिश करें कि गणित और तर्क–शास्त्र में परिभाषा का क्या स्थान है ?

तर्क और गणित शास्त्रो मे हम लाघव की दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओ मे से किसी एक की ओर बढ सकते हैं। दोनो की वास्तव मे अपनी अपनी अलग और विशिष्ट क्रियात्मक उपयोगिता है। एक ओर हम अपने विचारो की अभिव्यक्ति में कम से कम शब्द प्रयोग करने की दिशा मे जा सकते है—अनगिनत सम्बन्धो को सरलता से सूत्र रूप मे बतलाने की दिशा। इसके लिये प्राय प्रत्ययो की बहुलता के लिये विशिष्ट, स्पष्ट और लघु सङ्केतो की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, और इसके बिल्कुल विपरीत, हम शब्द–भण्डार और व्याकरण मे लाघव की कोशिश कर सकते हैं। हम ऐसे आधार–प्रत्ययो को पाने की चेष्टा कर सकते हैं

जिन की संख्या कम से कम हो और जिन में से प्रत्येक के लिये एक विशिष्ट सङ्केत बनाने के बाद कोई भी अन्य प्रत्यय उन्ही सङ्केतो को भिन्न भिन्न रूपो म दुहरा कर और मिला कर अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसम व्यवहार की दृष्टि से एक दोष है। आधारभूत-सङ्केतो के लाघव के कारण वर्णन हमेशा बहुत लम्बा होन लगता है। परन्तु अन्य दृष्टिकोण मे इसमे व्यावहारिक उपयोगिता भी है। आधारभूत प्रत्ययो और उनके सम्बन्धो के कम से कम होने के कारण भाषा के विषय मे तार्किक या बौद्धिक चर्चा सरलता को प्राप्त होती है।

दोनो प्रकार के लाघव, एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होन पर भी अपने अपने तरीके से भिन्न भिन्न रूप मे मूल्यवान हैं। इसीलिये दोनो को एक साथ मिला कर काम लेने की परम्परा चल पड़ी है। वास्तव मे यह दो भाषाओ का सम्मिश्रण है, जिनमे कि एक दूसरी का अङ्ग बन जाती है। यह मिश्रित भाषा व्याकरण और शब्द-राशि का बाहुल्य होते हुए भी अभिव्यक्ति के लिये थोडे मे ही समर्थ होती है जब कि उसका वह भाग जो आधार-सङ्केतो के रूप मे जाना जाता है, व्याकरण और शब्द-राशि मे लाघव प्राप्त करता है। पूर्ण मिश्रित भाषा और उसके अश मे अनुवाद के नियमो की सहायता से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जिनके अनुसार कोई भी वाक्य जो आधार-सङ्केतो मे नही है उसको केवल आधार-सङ्केतो से बने वाक्य मे बदला जा सकता है। अनुवाद के ये नियम शुद्ध रूप-गत-सस्थानो की तथाकथित परिभाषाएँ ही हैं। उनको एक भाषा के अङ्ग-विशेष के रूप मे देखना ठीक न होगा, बल्कि दो भाषाओ के बीच मे सम्बन्ध-कारिका के रूप मे, जिनमे कि एक दूसरी का विशिष्ट अङ्ग है।

लेकिन यह एक भाषा का दूसरी भाषा से समरूप-सम्बन्ध कोई मनगढ़न्त नही है। उसका काम यह दिखाना है कि आधार-सङ्केत किस प्रकार से बहुल भाषा के सब काम कर सकते हैं, केवल आराम से और थोडे मे कहने को छोड कर। परिभाषा और परिभाषेय के सम्बन्ध, इस प्रकार, प्रत्येक अवस्था मे, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, तीन तरह से समझे जा सकते हैं। परिभाषा परिभाषेय की एक सकुचित साङ्केतिक भाषा में बिल्कुल सही अभिव्यक्ति या समझाने की ऐसी चेष्टा हो सकती है जो व्यवहार मे पहले ही आये हुए सीधे समानार्थक[५] प्रयोगो को सुरक्षित रखती है। या परिभाषा, व्याख्या के दृष्टिकोण से, परिभाषेय के पूर्व-प्रयोगो पर कुछ नये सुधार कर सकती है। या, अन्तत, परिभाषा एक नये अर्थ-सङ्केतो की जन्मदात्री हो सकती है जिनको अर्थ बिल्कुल नये रूप मे वहीं और तब ही प्रदान किया जाता है।

---

५ परिभाषा के एक अन्य महत्वपूर्ण अर्थ मे, सम्बन्ध केवल निर्देश की अनुरूपता का भी हो सकता है, जो कि एक क्षीणतर सम्बन्ध है। द्रष्टव्य "फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट ऑफ व्यू" मे पृ० १३२। किन्तु इस अर्थ मे यहाँ परिभाषा की उपेक्षा करना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि यह समानार्थकता के प्रश्न के ... ।गिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे शुद्ध रूप-गत-संस्थान हो या बोल-चाल की भाषा, परिभाषा सदैव पूर्व-स्थित समानार्थकताओं के सम्बन्धों पर आश्रित रहती है। इसका अपवाद केवल उस अवस्था में होता है जब नये सङ्केतों का खुले रूप में व्यावहारिक प्रयोग स्पष्ट किया जाता है। यह अच्छी तरह समझ कर कि परिभाषा के पास समानार्थकता और विश्लेषणात्मकता को सुलझाने की कुञ्जी नहीं है, हम परिभाषा के विषय में कुछ और न कह कर समानार्थकता की तरफ ध्यान देने की चेष्टा करेंगे।

[३] परस्पर परिवर्त्तनीयता

एक विचार, जो इस विषय में बहुत ध्यान देने योग्य है, यह मत प्रतिपादित करता है कि दो भाषीय तत्त्वों की समानार्थकता केवल इस में है कि सब अवस्थाओं में वे एक दूसरे की जगह, बिना वाक्य की सत्यता या असत्यता पर किसी प्रकार का असर डाले, बदले जा सकते हैं, इस प्रकार की परस्पर पूर्ण परिवर्तनीयता को लाइबनिज़ ने सालवा वेरिटेट (Salva Veritate)[६] कहा था। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार से सोचे गये समानार्थक शब्दों के अस्पष्टता से रहित होने की आवश्यकता नहीं है, जब तक कि दोनों की अस्पष्टता एक-दूसरे के बिल्कुल समरूप हो।

परन्तु यह बात तो पूर्ण रूप से सच नहीं कही जा सकती कि समानार्थक शब्द 'कुँवारा' और 'अविवाहित' सब स्थानों पर एक-दूसरे की जगह सत्यता या असत्यता पर किसी प्रकार का प्रभाव डाले बिना बदले जा सकते हैं। ऐसे सत्य, जो 'अविवाहित' का प्रयोग 'कुँवारा' शब्द की जगह करने से असत्य में परिणत हो जायेंगे, आसानी से बनाये जा सकता हैं। उदाहरण के लिये, ऐसे वाक्य जो अंग्रेजी के शब्द 'बैचलर ऑफ आर्ट्स' या 'बैचलर्स् बटन्स्' से बनाये जा सकते हैं—या ऐसे वाक्यों के द्वारा जैसे

'कुँवारा' आठ से कम अक्षरों का पद है।

इस प्रकार के विरोधी उदाहरणों को शायद यह कह कर हटाया जा सकता है कि 'बैचलर ऑफ आर्टस्' या 'बैचलरस बटन्स्' जैसे मुहावरे या 'कुँवारा' शब्द का उद्धरण रूप में प्रयोग एक अविभाज्य शब्द के रूप में लिया जाना चाहिये और इस बात को मान लेना चाहिए कि वह परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता जिसको हम समानार्थकता का द्योतक मानते हैं, शब्दों के विशिष्ट अङ्गों पर लागू नहीं होती। समानार्थकता की यह व्याख्या, यदि हमें और सब दृष्टिकोणों से ठीक भी लगे, 'शब्द' के प्रत्यय को पूर्व-कल्पित करके चलती है, जो अपने आप में नयी मुश्किलें पैदा कर सकती है। फिर भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि समस्या को सुलझाने में कम से कम इतनी प्रगति तो हुई है कि समानार्थकता की समस्या अब केवल 'शब्द' की समस्या रह गई है। अब हम 'शब्द' को पूर्वसिद्ध मान कर, इस दिशा में चिन्तन को कुछ और आगे बढाने की चेष्टा करेंगे।

---

६ सी आई ल्यूईस 'ए सर्वे आफ, सिम्बॉलिक लॉजिक', (बर्कले, १६१८)।

यह प्रश्न तो रहता ही है कि क्या परस्पर परिवर्तनीयता (शब्दों में आन्तरिक अंशों को छोड़ कर) सब अवस्थाओं में पूर्णरूपेण समानार्थकता को जानने के लिये केवल अपने में ही काफी है ? ऐसा तो नहीं है, कि कुछ असमानार्थक शब्द भी इस प्रकार परस्पर परिवर्तनीय होते हैं। इस प्रसङ्ग में यहाँ यह बात तो हमको बिल्कुल स्पष्ट रूप में समझनी है कि हमारा यहाँ समानार्थकता के उस अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसमें सब प्रकार के अनुषंगी मानसिक विचारों या काव्यमय अनुभूतियों का पूर्ण तादात्म्य शामिल हो। वास्तव में, इस अर्थ में तो कोई भी दो शब्द कभी भी समानार्थक नहीं हो सकते। हमारा तात्पर्य यहाँ केवल ऐसी समानार्थकता से है जिसे ज्ञानात्मक समानार्थकता कहा जा सकता है। यह ठीक-ठीक क्या है, यह तो इस गवेषणा की सफल समाप्ति पर ही कहा जा सकता है, लेकिन हमको उसके बारे में कुछ ज्ञान तो है जोकि विश्लेषणात्मकता पर विचार करने के संदर्भ में इसकी आवश्यकता के द्वारा हमें प्राप्त हुआ था। प्रथम भाग में जिस समानार्थकता की आवश्यकता हुई थी, वह केवल इतनी थी कि किसी भी विश्लेषणात्मक वाक्य को, समानार्थक शब्दों के स्थान पर समानार्थक शब्द रखने पर, तार्किक वाक्य में बदला जा सकता है। इसके बिल्कुल विपरीत, यदि हम विश्लेषणात्मकता को मान कर चलें तो शब्दों की ज्ञानात्मक समानार्थकता को हम इस प्रकार समझ सकते हैं। पुराने परिचित उदाहरण को रखते हुए, यह कहना कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' ज्ञानात्मक दृष्टि से समानार्थक हैं, इस कथन से न कम न ज्यादा है कि

(३) "सब और केवल कुँवारे ही अविवाहित हैं" वाक्य विश्लेषणात्म है।[७]

परन्तु, वास्तव में, यदि हम को विश्लेषणात्मकता की व्याख्या ज्ञानात्मक समानार्थकता के आधार पर करनी है, जैसाकि हमने प्रथम भाग में करने की चेष्टा की थी, तो हम को ज्ञानात्मक समानार्थकता की एक ऐसी व्याख्या की आवश्यकता है जो विश्लेषणात्मकता को मान कर न चलती हो। और वास्तव में, ज्ञानात्मक समानार्थकता की इसी प्रकार की स्वतन्त्र व्याख्या इस समय विचाराधीन है, अर्थात् शब्दों की अपनी भीतरी रचना को छोड़ कर पूर्णरूपेण परस्पर परिवर्तनात्मकता। प्रसङ्ग सूत्र को फिर से पकड़ते हुए, हमारे सामने प्रश्न यही है कि क्या ऐसी परिवर्तनात्मकता ज्ञानात्मक समानार्थकता का पूर्ण आधार मानी जा सकती है ? निम्न लिखित उदाहरणों के द्वारा हम जल्दी ही अपने को विश्वास दिला सकते हैं कि वास्तव में ऐसा ही है। यह वाक्य

---

७ यह प्रारम्भिक स्थूल अर्थ में प्रज्ञानात्मक समानार्थकता है। कार्नेप (मीनिंग एण्ड नेसेस्सिटी, पृ० ५६ से) तथा ल्यूईस ('एन एनालिसिस ऑफ नॉलेज एण्ड वेल्यूएशन' पृ० ८६ से) ने यह सुलझाव प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार से यह अवधारणा उपलब्ध होने पर इससे प्रज्ञानात्मक समानार्थकता की सकुचिततर अवधारणा, जो कि कुछ प्रयोजनों के लिये अधिक उपयोगी है निष्कृष्ट की जा सकती है। किन्तु अवधारणा निर्माण की यह विशिष्ट प्रक्रिया हमारे वर्त्तमान उद्देश्यों के लिये अप्रासंगिक है, और उसको यहाँ विचारित व्यापक प्रकार की प्रज्ञानात्मक समानार्थकता के साथ घपलाना नहीं चाहिए।

(४) 'अनिवार्यत सब कुँवारे ही केवल कुँवारे है ।'

स्पष्ट रूप से ही सत्य प्रतीत होता है और यह उस अवस्था मे भी सत्य है जब हम 'अनिवार्यत ' को केवल उस सकुचित अर्थ मे ही ले जिसमे वह सत्यतया केवल विश्लेषणात्मक वाक्यो के लिये ही लागू किया जा सकता है। फिर, यदि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' पूर्णरूप से परस्पर परिवर्तनात्मक हैं, तो यह वाक्य

(५) 'अनिवार्यत सब कुँवारे ही केवल अविवाहित हैं'

जो 'अविवाहित' को 'कुँवारा' के स्थान पर वाक्य (४) मे रखने से बनता है, वाक्य (४) के अनुरूप ही सत्य होना चाहिये । लेकिन यह कहना कि वाक्य (५) सत्य है, इसी कथन के बराबर है कि वाक्य (३) विश्लेषणात्मक है और इसलिये 'कुँवारा' और 'अविवाहित' ज्ञानात्मक दृष्टि से समानार्थक हैं ।

ऊपर दिया तर्क कुछ अजीब सा प्रतीत होता है । इसलिये इसकी कुछ और परीक्षा करना आवश्यक है । परस्पर परिवर्तनात्मकता की बात भाषा की शक्ति या सामर्थ्य के अनुसार बदलती रहती है । ऊपर दिया तर्क ऐसी भाषा को मानकर चलता है जिसमे 'अनिवार्यत ' जैसे शब्दो को रखने की शक्ति है और जिसमे इस शब्द का अर्थ इस प्रकार से लगाया गया है कि वह केवल तभी सत्य हो जब उसका प्रयोग विश्लेषणात्मक वाक्यो के लिये ही किया जाय। लेकिन क्या हम ऐसी भाषा को मान्यता प्रदान कर सकते हैं जिसमे ऐसा शब्द हो ? क्या इसका वास्तव मे कोई अर्थ है ? यह मानना कि वास्तव मे इसका कोई अर्थ है, इस बात को पहले मान कर चलता है कि 'विश्लेषणात्मक' का हमने कोई सन्तोषजनक उत्तर पा लिया है। और यदि ऐसा है तो यहाँ हम किसकी खोज मे इतने परिश्रमपूर्वक लगे हैं ?

हमारा तर्क सीधे रूप मे चक्रिक न होते हुए भी, करीब-करीब वैसा ही है । आलङ्कारिक भाषा में कहें तो, उसका आकार देश मे एक बन्द वक्र का है ।

परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता, वास्तव मे, तब तक अर्थहीन है जब तक वह ऐसी भाषा के सदर्भ मे न हो जिसका विशिष्ट दिशाओ मे विस्तार साफ और सही तौर पर पहले से ही निर्धारित न कर दिया जाय । उदाहरण के तौर पर, मान लें कि हम ऐसी भाषा पर विचार करते हैं जिसमे केवल निम्न लिखित चीजें ही हैं। जिसमे बहुत सख्या मे, एक-स्थानीय विधेय (जैसे 'फ', जहाँ 'फ य' का अर्थ होता है कि य एक आदमी है) और बहु–स्थानीय विधेय (जैसे 'ग' जहाँ 'ग य र' का अर्थ होता है कि य र को प्यार करता है) जिनका सम्बन्ध अधिकतया तर्केतर विषयो से है । भाषा का बाकी अश केवल तार्किक है । भाषा के अणु–वाक्य एक विधेय के बाद एक या अधिक वेरिएबल, जैसे 'य' या 'र' आदि से बनते हैं और वाक्य–समूह अणु-वाक्यो पर तार्किक व्यापारक (जैसे 'नही' 'और', 'या' इत्यादि) और परिमाणात्मक व्यापारक (जैसे 'सब', 'कुछ', इत्यादि) लगाने से बनते हैं ।[८] ऐसी भाषा को ये सब लाभ भी प्राप्त हैं

---

८ 'फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट ऑफ व्यू' मे पृ० ८१ से ऐसी ही भाषा का विवरण दिया गया है, सिवाय इस बात के कि वहाँ केवल एक ही विधेय, सग की सदस्यता का दो स्थानीय विधेय ही विद्यमान है ।

जो वर्णनात्मक और व्यक्ति–सूचक पदो मे होते हैं, क्योंकि यह दोनो ही जाने पहचाने तरीको से उसमे परिभाषित किये जा सकते हैं ।[९] अमूर्त व्यक्ति–सूचक पद, जो केवल वर्गों या वर्गों के वर्गों का नाम होते हैं—उनकी भी सदर्भ–रूप मे परिभाषा की जा सकती है, यदि हमारे स्वीकृत उद्देश्यो मे वर्ग की सदस्यता सूचित करने वाले दो–स्थानीय विधेय भी हों। ऐसी भाषा सामान्यतया प्राचीन गणित और विज्ञान के सभी अशो के लिये पर्याप्त है । केवल तितथ्यात्मक हेतु हेतुमद् वाक्यों अथवा 'अनिवार्यत' के समान 'रीतिपरक' (मॉडल) क्रिया–विशेषणो को छोड कर ।[११] इस प्रकार की भाषा इस अर्थ मे विस्तारात्मक है कि कोई भी दो विधेय, जिनका विस्तार एक सा ही है, (यानि, जो समान विषयो के लिये सत्य ठहरते हैं) पूर्णरूप से एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग किये जा सकते हैं ।[१२]

इसलिये विस्तारात्मक भाषा मे परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता ऐसी ज्ञानात्मक समानार्थकता का, जैसी कि हम चाहते हैं, कोई निश्चित आधार पर नही है। यह तथ्य कि 'कुंवारा' और 'अविवाहित' विस्तारात्मक भाषा में पूर्णरूप से परिवर्तनात्मक हैं, हम को केवल यही आश्वासन दिलाता है कि वाक्य (३) सत्य है। इसमे ऐसा कोई आश्वासन नहीं है कि 'कुंवारा' और 'अविवाहित' भी विस्तारात्मक समानता अर्थ पर आश्रित है न कि घटनाओं के आकस्मिक गुणों पर जैसा कि 'हृदयवाले प्राणी' और 'गुर्देवाले प्राणी' पदों मे है ।

हमारे अधिकाश प्रयोजनों के लिये समानार्थकता के सबसे समीप पहुँचने वाली विस्तारात्मक समानता ही पर्याप्त है। परन्तु, यह तो सत्य रहता ही है कि विस्तारात्मक समानता उस प्रज्ञानात्मक समानार्थकता से बहुत दूर है जिसकी आवश्यकता हमें विश्लेषणात्मकता की उस व्याख्या के लिये चाहिये जो पहले परिच्छेद मे दी गई व्याख्या के अनुरूप हो । जिस प्रज्ञानात्मक समानार्थकता की वहाँ आवश्यकता है वह ऐसी है जो 'कुंवारा' और 'अविवाहित' की समानार्थकता को वाक्य (२) की विश्लेषणात्मकता से सम्बन्धित करे न कि केवल उसकी (३) सत्यता मात्र से ।

इस प्रकार यह तो हम को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता, यदि वह विस्तारात्मक भाषा के सम्बन्ध मे देखी जाय, तो वह प्रज्ञानात्मक समानार्थकता के उस अर्थ के लिये अपर्याप्त है जो परिच्छेद [१] में वर्णित की गई विश्लेषणात्मकता को समझाने के लिये जरूरी है । यदि किसी भाषा मे 'अनिवार्यत' जैसे अभिप्रायात्मक (इटेंशनल) क्रिया-विशेषण उसी अर्थ में हैं जैसा हमने पहले देखा है, या कोई और शब्द जो उसी भावना को

---

९ द्रष्टव्य 'फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइट आफ व्यू' में पृ० ५–८ तथा पृ० ८५ से और पृ० १६६ से।

१० वहीं, पृ० ८७ ।

११ ऐसी विधियों के सम्बन्ध में उपरोक्त पुस्तक में 'रेफरेंस एड मॉडेलिटी' लेख भी द्रष्टव्य ।

१२ हमारी पुस्तक "मैथेमैटिकल लॉजिक, ‡ १२१ का यही सार है ।

लिये हुये है, तो ऐसी भाषा मे परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता प्रज्ञानात्मक समानार्थकता के लिये पर्याप्त अवश्य है, परन्तु ऐसी भाषा वहीं तक समझी जा सकती है जहाँ तक कि विश्लेषणात्मकता को पहले ही समझ लिया गया है ।

शायद प्रज्ञानात्मक समानार्थकता को पहले समझने की चेष्टा और बाद मे उसके द्वारा विश्लेषणात्मकता को समझने का प्रयत्न, जैसा कि हमने परिच्छेद [१] मे किया है, एक गलत दिशा मे प्रयत्न है । इसके बजाय शायद हमे विश्लेषणात्मकता को समझने का प्रयत्न बिना प्रज्ञानात्मक समानार्थकता का सहारा लिये हुए स्वतन्त्र रूप से करना चाहिए । बाद मे, यदि हम चाहे, तो ज्ञानात्मक समानार्थकता को विश्लेषणात्मकता से भी निस्सदेह निष्कृष्ट किया जा सकता है । यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' की प्रज्ञानात्मक समानार्थकता को वाक्य (३) की विश्लेषणात्मकता के रूप मे समझा जा सकता है । ऐसा ही किन्ही भी दो एक-स्थानीय विधेयो के साथ किया जा सकता है और आसानी से यही तरीका बहु-स्थानीय विधेयो पर भी लागू किया जा सकता है । अन्य भाषीय कोटियो (केटेगरीज) के साथ भी इसी प्रकार से व्यवहार किया जा सकता है । व्यक्तिवाचक पदों को भी हम तब प्रज्ञानात्मक रूप मे समानार्थक कह सकते हैं, जब उनके बीच मे तादात्म्य-सूचक चिन्ह (=) लगाने पर जो वाक्य बनता है, वह विश्लेषणात्मक हो । वाक्यो को प्रज्ञानात्मक रूप मे समानार्थक हम सीधे सरल तौर पर तब कह सकते हैं जब उनका वह मिश्रित वाक्य, जो 'यदि और केवल यदि' लगाने से बनता है, विश्लेषणात्मक हो । और यदि हम इन सब कोटियो को एक ही प्रतिपत्ति में एकत्र करना चाहे तो यह केवल पिछले परिच्छेद के अनुरूप 'शब्द' के उस प्रत्यय को पूर्व मान्यता प्रदान करके ही सम्भव है, और तब हम किन्हीं भी दो भाषायी रचनाओ को प्रज्ञानात्मक रूप मे समानार्थक कह सकते हैं जब कि वे (केवल शब्दो के भीतर घटित होने की अवस्था को छोड कर) एक-दूसरे के स्थान पर पूर्ण रूप से परिवर्तनीय हो । यह परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता सत्य के आधार पर न होकर विश्लेषणात्मकता के आधार पर है । यह सत्य है कि कुछ विशिष्ट तकनीकी प्रश्न उन अवस्थाओ मे उठते हैं-जब कि शब्दो के कई विभिन्न अर्थ होते है, या कई अलग-अलग शब्द एक जैसे उच्चारित होते हैं । लेकिन हम पहले ही अपनी दिशा से अलग जा चुके हैं, और इन प्रश्नो के लिये हमको ठहरने की आवश्यकता नही है । अब हम समानार्थकता की समस्या को छोडकर पुन विश्लेषणात्मकता की समस्या का समाधान खोजने का प्रयत्न करेंगे ।

[४] भाषार्थ परक नियम

पहले पहल यह बिल्कुल स्वाभाविक ही लगता है कि विश्लेषणात्मकता की परिभाषा अर्थों के आयाम मे ढूँढी जा सकती है । अधिक परिष्कृत स्तर पर, अर्थों का आश्रय छोड कर समानार्थकता या परिभाषा का आश्रय लिया गया । परन्तु परिभाषा तो एक मृग-मरीचिका साबित हुई और समानार्थकता के सम्बन्ध मे पाया गया कि इसे उपयुक्त रूप मे विश्लेषणात्मकता के आधार पर ही समझा जा सकता है । इस प्रकार हम फिर लौटकर विश्लेषणात्मकता की समस्या पर आ पहुँचे हैं ।

मैं नहीं जानता कि "प्रत्येक हरी वस्तु विस्तार–युक्त है" विश्लेषणात्मक है या नहीं। न ही इस उदाहरण के विषय मे मेरी अनिश्चय की अवस्था इस बात की द्योतक है कि मैं 'हरा' तथा 'विस्तार–युक्त' शब्दो के अर्थ को पूर्ण रूप से नही समझता। समस्या 'हरा' या 'विस्तार-युक्त' शब्दों के सम्बन्ध मे नही है अपितु 'विश्लेषणात्मक" के सम्बन्ध म है।

ऐसा अकसर कहा जाता है कि आम बोल–चाल की भाषा मे विश्लेषणात्मक वाक्यो को सश्लेषणात्मक वाक्यो से अलग करने की कठिनाई वास्तव मे उस भाषा क अर्थों की अस्पष्टता के कारण है। एक ऐसी भाषा मे, जो मनुष्य की स्वय की रचना हो और जिसमे प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट और विशिष्ट हो, और जिसमे शब्दो को उनके विषयो से सम्बन्धित करने वाले नियम साफ हो, इन दो प्रकार के वाक्यों मे भेद करने मे कोई कठिनाई नही होगी। परन्तु यह, जैसा कि अब मैं दिखाने का प्रयास करूँगा, केवल भ्रम है।

जिस विश्लेषणात्मकता के बारे मे हम यहाँ विचार कर रहे हैं वह एक ऐसा सम्बन्ध है जो भाषाओ और कथनों के बीच में विद्यमान समझा जाता है। किसी वाक्य 'व' को किसी भाषा 'भ मे विश्लेषणात्मक कहा जाता है, और समस्या इस सम्बन्ध को सामान्य स्तर पर समझने की है, यानि किसी भी वाक्य 'व' और किसी भी भाषा 'भ' मे। यह समस्या मनुष्य की बनाई हुई अप्राकृतिक भाषाओं के लिये उतनी ही कठिन प्रतीत होती है जितनी कि आम बोल–चाल की भाषाओं के लिये। इस वाक्य का अर्थ लगाना कि "'व' 'भ' में विश्लेषणात्मक हैं," जहाँ 'व' और 'भ' चर हैं, उतना ही कठिन रहता है जितना 'भ' को अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओ तक भी सीमित रखने पर। इस बात को अब मैं और स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा।

अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओ और शब्दो को उनके विषयो से सम्बन्धित करने वाले नियमो की चर्चा करते समय हमारा ध्यान स्वभावत कारनप के लेखो और पुस्तकों की ओर जाता है। उसके भाषार्थ विषयक नियम कई प्रकार के हैं। अपना मत स्पष्ट करने के लिये मुझे उनमे से कुछ मे भेद करना होगा। मान लें कि प्रारम्भ मे हम अप्राकृतिक रूप से निर्मित एक भाषा 'भ०' को लेते हैं जिसके भाषार्थ–विषयक नियम स्पष्ट रूप से उन सब वाक्यो का जो उस भाषा भ०' म विश्लेषणात्मक हैं, अलग–अलग और पूर्ण रूप से आकलन करते हैं। ये नियम हमे स्पष्ट रूप से बताते हैं कि ये और केवल यही वाक्य भाषा 'भ०' के विश्लेषणात्मक वाक्य हैं। परन्तु इसमे समस्या यह है कि इन नियमो के निरूपण मे 'विश्लेषणात्मक' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ अभी तक हम बिल्कुल नहीं समझते। यह तो हम समझते हैं कि नियम किन वाक्यो को विश्लेषणात्मक करार देते हैं, लेकिन यह हम बिल्कुल नही समझते कि नियम उन वाक्यो मे क्या गुण आरोपित करते हैं। सक्षेप मे, इसके पहले कि हम किसी ऐसे नियम को समझें जो ऐसे शुरू होता है कि "कोई वाक्य 'व' किसी भाषा 'भ०' मे विश्लेषणात्मक है, यदि और केवल यदि " हमारे लिये सामान्य सम्बन्ध-वाचक पद 'विश्लेषणात्मक' को समझना जरूरी है। हमें यह वाक्य कि "'व' किसी 'भ' के सम्बन्ध मे विश्लेषणात्मक है" जहाँ 'व और 'भ' चर हैं, समझना जरूरी है।

अथवा इसके विपरीत, यदि हम चाहें तो इस तथा-कथित नियम को एक नये सरल प्रतीक, 'भ०' के लिये विश्लेषणात्मक" की रूढ़ परिभाषा के रूप में देख सकते हैं। यह और भी अच्छा हो यदि हम इस प्रतीक को 'क' लिखें जिससे ऐसा आभास भी नहीं हो कि यह 'विश्लेषणात्मक' शब्द के अर्थ पर कोई प्रकाश डालता है। इससे कोई गलत फहमी होने की सम्भावना भी दूर हो जायगी। इस प्रकार, यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भाषा 'भ०' के वाक्यों के विभिन्न समूह 'य', 'र', 'व' आदि किसी विशेष प्रयोजनों के लिये, या बिना किसी प्रयोजन के भी, किसी भी संख्या में निर्धारित किये जा सकते हैं। तब फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि भाषा 'भ०' के 'य' वाक्य ही विश्लेषणात्मक हैं, और 'र' या 'व' नहीं हैं ?

यह कहने से कि कौन से वाक्य भाषा 'भ०' के लिये विश्लेषणात्मक हैं, हम 'भ०'-के-लिये-विश्लेषणात्मक" पद की व्याख्या करते हैं न कि 'विश्लेषणात्मक' की या किसी-के लिये-विश्लेषणात्मक होने' की। हम इस प्रकार के वाक्य को कि "व' 'भ' के लिये विश्लेषणात्मक है", जहाँ 'व' और 'भ' चर हैं, समझने की दिशा में बिल्कुल अग्रसर नहीं होते, यदि हम 'भ' को अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं तक भी सीमित रखें।

वास्तव में, हम 'विश्लेषणात्मक' शब्द की अभिप्रेत सार्थकता के बारे में इतना तो जानते ही हैं कि विश्लेषणात्मक वाक्य सत्य समझे जाते हैं। इसलिये भाषार्थ-विषयक नियमों के हम एक दूसरे रूप की ओर ध्यान दे सकते हैं जो यह नहीं कहता कि ये अमुक कथन विश्लेषणात्मक हैं, अपितु केवल यह कि ये अमुक कथन सत्यों में शामिल हैं। नियम के इस रूप के प्रति यह आपत्ति तो लगायी नहीं जा सकती कि इसमें 'विश्लेषणात्मक' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ अभी तक हमको पता नहीं है, और हम तक के लिये यह मान भी लेते हैं कि 'सत्य' जैसे व्यापक शब्द में कोई कठिनाई नहीं है। भाषार्थ विषयक यह दूसरे प्रकार का नियम जो कि सत्य सम्बन्धी नियम है, भाषा के सारे सत्यों को निर्धारित करने वाला नहीं समझा जाता। वह केवल कुछ ऐसे कथनों को ही अपेक्षया प्रस्थापित (स्टिपुलेट) करता है जिनको, अन्य ऐसे वाक्यों के साथ, जिनका कोई स्पष्ट सङ्केत नहीं किया गया है, सत्य समझा जाना चाहिये। यह माना जा सकता है कि ऐसा नियम बिल्कुल स्पष्ट है। इसीसे, बाद में, विश्लेषणात्मकता को इस प्रकार सीमित किया जा सकता है कोई वाक्य तभी विश्लेषणात्मक होता है जब कि वह न केवल सत्य होता है, बल्कि केवल शब्दों के भाषार्थपरक नियमों के अनुसार ही सत्य होता है।

पर वास्तव में, यह भी कोई प्रगति नहीं है। अब 'विश्लेषणात्मक' जैसे शब्द का सहारा लेने के स्थान पर जिसका कि अर्थ हम नहीं समझते, हम 'भाषार्थपरक' नियम जैसे पद का सहारा ले रहे हैं, जिसका अर्थ भी हमारे लिये उतना ही दुरूह है। ऐसा प्रत्येक सत्य कथन, जो यह कहता है कि कुछ प्रकार के कथन सत्य हैं, भाषार्थपरक नियम नहीं हो सकते, अन्यथा सब सत्य कथन इस अर्थ में विश्लेषणात्मक हो जायेंगे कि वे भाषार्थपरक नियमों के अनुसार सत्य हैं। भाषार्थपरक नियमों को दूसरों से इसी प्रकार से पृथक् किया जा सकता है कि वे किसी पृष्ठ पर 'भाषार्थपरक नियम' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे होते हैं। पर यदि ऐसा है, तो यह शीर्षक

स्वय मे अर्थहीन है।

इसमे कोई सदेह नही कि हम यह कह सकते हैं कि कोई भी कथन भ०–के-लिये–विश्लेषणात्मक है यदि और केवल यदि वह विशेषरूप से अनुबन्धित "भाषार्थपरक नियमों" के अनुसार सत्य है। परन्तु ऐसी अवस्था मे हम अपने आपको वही उस समस्या पर फिर वापिस पाते हैं जिसके बारे मे हम आरम्भ मे सोच रहे थे। 'व भ०–के–लिये–विश्लेषणात्मक है यदि और केवल यदि "। एक बार हम "व भ० के–लिये–विश्लेषणात्मक है" को सामान्य रूप से 'भ' को चर के रूप मे लेते हुए ('भ' को अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओ तक सीमित रखते हुए भी) समझने का प्रयत्न करें तो यह विवेचन कि उसका आशय 'भ' के विषय–सम्बन्धी नियमो के अनुसार सत्य होना है', निरर्थक है, क्योंकि सापेक्ष–पद "भाषार्थपरक नियम" स्वय मे उतना ही विवेचनापेक्षी है, जितना कि 'किसी–भाषा–के–लिये–विश्लेषणात्मक होना'।

भाषार्थपरक नियम की अवधारणा की तुलना अभ्युपगम की अवधारणा के साथ करना उपयोगी हो सकता है। अभ्युपगमों के एक प्रदत्त समूह की सापेक्षता मे किसी विशिष्ट अभ्युपगम के बारे मे यह बताना सरल है कि वह क्या है वह उस समूह का एक सदस्य है। भाषार्थ विषयक किन्ही प्रदत्त नियमो के समूह से सम्बन्धित किसी विशिष्ट भाषार्थ विषयक नियम के बारे मे यह बताना कि वह क्या है, उतना ही आसान है। लेकिन यदि हमे प्रदत्त केवल एक लिपि मात्र है वह गणित की हो या किसी और की, तो यह कौन बता सकता है कि उसके सत्य वाक्यों में कौन–कौन से अभ्युपगम हैं और कौन से नहीं? और यह स्थिति तब भी है जब कि हमारी लिपि, एक दूसरे मे अनुवाद की दृष्टि से या अपने वाक्यो के सत्य होने की शर्तों की दृष्टि से, पूर्ण रूप से समझी जा सकने वाली हो। वास्तव मे, यह प्रश्न स्पष्टत निरर्थक है-उतना ही निरर्थक जितना कि यह पूछना कि ओहायो नगर मे कौन से बिन्दु वे बिन्दु हैं जहाँ से मनुष्य अपना चलना शुरू करते हैं। वाक्यों का (जो, शायद, सत्य हों तो ज्यादा ही अच्छा हो) कोई भी सीमित (या ऐसा असीमित जिसका विशिष्ट रूप से निर्देश सम्भव हो) चुना हुआ समूह उतना ही अभ्युपगमों का एक पुञ्ज हो सकता है जितना कि अन्य कोई भी। 'अभ्युपगम' शब्द वास्तव मे केवल किसी जाँच (परीक्षा) की अपेक्षा से ही अर्थपूर्ण है। उस शब्द का प्रयोग किसी वाक्य–समूह के लिये हम तभी करते हैं, चाहे वह आज के लिये हो या वर्ष के लिये, जब हम उनका किन्हीं और वाक्यो के सम्बन्ध में सोचते हैं जो कि उन से संक्रमण प्रक्रियाओ (सैट ऑफ ट्रांसफर्मेशन्स) के द्वारा पहुँचे जा सकते हैं और जिनकी तरफ ध्यान देना हमने किसी कारण-वश आवश्यक समझा है।

भाषार्थ विषयक नियम का विचार भी उतना ही सार्थक प्रतीत होता है जितना कि अभ्युपगमों का–यदि हम उसको भी उसी सापेक्ष दृष्टि से सोचें तो। सापेक्षता इस बार उन अनेक प्रयत्नों के सम्बन्ध में होगी जो अनजान व्यक्तियो को किसी भी प्राकृतिक या अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषा 'भ' के वाक्यो की सत्यता के पर्याप्त कारणों की जानकारी कराने के लिये किये जाते हैं। परन्तु इस दृष्टिकोण से भाषा 'भ' का कोई भी विशिष्ट वाक्य–समूह

किसी अन्य वाक्य–समूह की अपेक्षा अपने आप मे खास तौर पर विषय-सम्बन्धी नियम नहीं कहा जा सकता । और यदि 'विश्लेषणात्मक' होने का मतलब 'विषय–सम्बन्धी नियम के अनुसार सत्य होना है तो भाषा 'भ' का कोई भी सत्य वाक्य इस रूप से विश्लेषणात्मक नही है कि उसका विश्लेषणात्मक होना अन्य वाक्यो की विश्लेषणात्मकता का निराकरण करता है।

इस पर शायद यह आक्षेप किया जा सकता है कि कोई अप्राकृतिक रूप मे निर्मित भाषा 'भ', प्राकृतिक भाषा के विपरीत, साधारण अर्थ मे भाषा होने के अलावा स्पष्ट रूप से निर्धारित भाषार्थ विषयक नियम भी रखती है । कहा जा सकता है कि यह समग्र एक व्यवस्थित युगल है, और यह कि भ के भाषाथ विषयक नियम इस युगल के दूसरे घटक हैं । किन्तु इसी आधार पर और अधिक सरलता के साथ, हम एक अप्राकृतिक भाषा भ का पूर्णत इस प्रकार के एक व्यवस्थित युगल के रूप मे निर्माण कर सकते हैं जिसका कि दूसरा घटक इस भाषा के विश्लेषणात्मक वाक्य हो । और इस प्रकार भाषा 'भ' के विश्लेषणात्मक वाक्यो का निर्देश केवल यह कह कर किया जा सकता है, कि वे 'भ' के दूसरे घटक के वाक्य हैं । किन्तु इससे अच्छा यही है कि हम इस अर्थहीन और असम्भव चेष्टा को यही खत्म कर दें ।

विश्लेषणात्मकता की वे सब व्याख्याएँ जो कि कारनप और उसके पाठको को ज्ञात हैं, इस ऊपर के विवेचन मे स्पष्ट रूप से सम्मिलित नही हैं । परन्तु यह आसानी से देखा जा सकता है कि इसका प्रस्तार उनके ऊपर किस प्रकार से सम्भव है । केवल एक अन्य ऐसी बात है जो कभी–कभी जरूरी होती है और जिसका बताना आवश्यक है । कई बार विषय–सम्बन्धी नियम वास्तव मे साधारण भाषा मे अनुवाद करने के नियम–मात्र होते हैं, और ऐसी अवस्था मे अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषा के वाक्यो की विश्लेषणात्मकता वास्तव मे उनके साधारण भाषा मे अनूदित वाक्यो की विश्लेषणात्मकता से पहचानी जाती है । ऐसी दशा में तो यह विचार भी नही आ सकता कि विश्लेषणात्मकता की समस्या पर अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं की ओर से कोई प्रकाश भी पड सकता है ।

विश्लेषणात्मकता की समस्या के दृष्टिकोण से, भाषाथ विषय का नियमो–युक्त अप्राकृतिक भाषा का विचार केवल एक पागलपन है । किसी अप्राकृतिक भाषा के भाषाथ विषयक नियमो से निर्धारित विश्लेषणात्मक वाक्य वहीं तक महत्व रखते हैं, जहाँ तक कि हम विश्लेषणात्मकता के विचार को पहले से ही समझे हुए होते हैं । स्वय इस बोध को प्राप्त करने मे ये सहायक नही होते ।

अप्राकृतिक रूप से निर्मित सरल प्रकार की कल्पित भाषाओ के द्वारा विश्लेषणात्मकता को स्पष्टता प्रदान करने की चेष्टा शायद सहायक होती यदि उसके लिये आवश्यक मानसिक, व्यावहारिक या सांस्कृतिक पक्ष–चाहे वे कुछ भी हो–उस भाषा के कल्पित रूप में आवश्यक रूप से सन्निहित किये जाते । परन्तु जो कल्पित आदशरूप विश्लेषणात्मकता को स्वय अविश्लेषणीय मानकर चलता है वह विश्लेषणात्मकता की समस्या पर मुश्किल से ही कोई प्रकाश डाल सकता है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि सत्य सामान्यतया भाषा और भाषेतर तथ्य दोनो पर ही निर्भर

करता है। यह वाक्य कि 'ब्रूटस ने सीज़र की हत्या की' असत्य होगा यदि विश्व कुछ विशिष्ट रूपो मे जैसा रहा है उससे भिन्न होता। परन्तु यह भी सत्य है कि यदि 'हत्या' शब्द का वह अर्थ होता जो 'जन्म देने' का है, तब भी यह वाक्य असत्य होता। इस प्रकार यह सोचना स्वाभाविक ही होता है कि सामान्यतया किसी भी वाक्य की सत्यता दो भागो मे विश्लेष्य है, एक भाषा-सम्बन्धी और दूसरी तथ्यात्मक। इस बात को मान लेने पर यह ठीक ही लगता है कि कुछ वाक्यो का तथ्यात्मक पक्ष बिल्कुल शून्य होता है, और यही विश्लेषणात्मक वाक्य होते है। परन्तु, चाहे यह कितना ही ठीक लगे, विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यो के बीच की रेखा तो वास्तव मे खींची ही नही गई है। कि वास्तव मे ऐसा कोई भेद है, यह अनुभववादियों की अ-अनुभववादी धारणा है—एक अनुभवातीत श्रद्धा।

[५] प्रमाणीकरण-सिद्धान्त और अन्तर्भाववाद

ऊपर के विवेचन मे हमने पहले तो अर्थ के बारे मे, फिर ज्ञानात्मक समानार्थकता के बारे में, और अन्त मे विश्लेषणात्मकता के बारे मे विचार किया और इन्हे बहुत निराशाजनक पाया। परन्तु यह पूछा जा सकता है, कि अर्थ के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त की क्या स्थिति है? अनुभववाद की चर्चा से तो यह मत इतने दृढ रूप से संलग्न हो गया है कि हमारे लिये उसके नीचे छिपी कुञ्जी की खोज न करना, जो शायद अर्थ और उससे सम्बन्धित समस्याओ का समाधान कर सके, नितान्त अवैज्ञानिक होगा।

अर्थ का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त, जो दार्शनिक साहित्य मे पर्स से शुरू होकर आज तक प्रमुख बना हुआ है, यह प्रतिपादन करता है कि किसी वाक्य का अर्थ वास्तव में वह विधि ही है जो अनुभव के आधार पर उसको सत्य या असत्य ठहराती है। इस दृष्टिकोण से विश्लेषणात्मक वाक्य वह वाक्य है जो हमेशा सत्य होता है, चाहे आनुभविक तथ्य कुछ भी हो।

जैसा कि हमने पहले ही परिच्छेद-[१] में कहा है, हम अर्थ को वस्तु-रूप मे मानने के प्रश्न को छोड़ कर सीधे समानार्थकता की चर्चा की तरफ बढ सकते हैं। इस संदर्भ मे अर्थ को सत्य या असत्य प्रमाणित करने की प्रक्रिया के रूप मे देखने वाला सिद्धान्त यही प्रतिपादित करता है कि वाक्य समानार्थक तभी कहे जा सकते हैं जब, और केवल जब, उनको एक जैसी ही प्रक्रिया सत्य या असत्य ठहरा सकती है। अज्ञानात्मक समानार्थकता का यह विवरण केवल कथनों से सम्बन्धित है, सब भाषा-रूपों से नहीं।[१४] परन्तु परिच्छेद-[३] मे दी गई विधि के

---

१४ यह सिद्धान्त वास्तव में कथनों के बजाय पदों को ऐकिक मान कर प्रतिपादित किया जा सकता। इस प्रकार से ल्यूईस एक पद का अर्थ "मन मे एक कसौटी" को कहता है, 'जिसके प्रतिमान पर हम किसी अभिव्यक्ति को प्रस्तुत अथवा कल्पित वस्तुओं अथवा वस्तुस्थितियों पर लागू करते हैं अथवा लागू करने से इन्कार करते हैं।" (द्रष्टव्य एन एनेलेसिस आफ नॉलेज एंड इवेल्यूएशन, पृ० १३३) अर्थ के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त में हुए परिवर्तनों के उत्कृष्ट विवरण के लिये, जिसका आधार अर्थपूर्णता है समानार्थकता और विश्लेषणात्मकता

अनुसार हम कथनों की समानार्थकता से अन्य भाषा–गत रूपों की समानार्थकता की अवधारणा भी निकाल सकते हैं। 'शब्द' के विचार को पूर्व–मान्यता प्रदान करते हुए, हम किन्हीं भी दो रूपों को समानार्थक समझ सकते हैं यदि जहाँ कहीं भी एक का व्यवहार होता है वहाँ दूसरे का व्यवहार करने पर (केवल 'शब्दों'' के अन्दर प्रयोग को छोड कर) एक समानार्थक वाक्य की सृष्टि होती है। और अन्त मे, इस प्रकार सब भाषा–गत रूपों की समानार्थकता पाने के बाद, विश्लेषणात्मकता को 'समानार्थकता' और 'तार्किक सत्य' के विचार के द्वारा, जैसा कि परिच्छेद–[१] मे किया था, परिभाषित किया जा सकता है। यदि हम चाहें तो विश्लेषणात्मकता को सीधे वाक्यों की समानार्थकता और तार्किक सत्य के संयुक्त रूप मे परिभाषित कर सकते हैं। वाक्यों के अतिरिक्त किसी और भाषा–गत रूप के सम्बन्ध मे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी भी वाक्य को विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है यदि वह किसी ऐसे वाक्य से समानार्थक हो जो तार्किक रूप से सत्य है।

इस प्रकार, यदि प्रमाणीकरण–सिद्धान्त को वाक्यों की समानार्थकता के लिये पर्याप्त मान लिया जाय तो विश्लेषणात्मकता के प्रत्यय को भी आखिरकार ठीक ठहराया जा सकता है। परन्तु ऐसा मानने से पहले, कुछ सोच–विचार आवश्यक है। कहा जाता है कि कथनों की समानार्थकता उनके प्रमाणीकरण अथवा असत्यापन की विधि की अनुरूपता ही है, और कुछ नहीं। पर ये कौनसी विधियां हैं जिनकी समानता के प्रयोजन से तुलना की जाती है? दूसरे शब्दों मे, किसी वाक्य मे और उन अनुभवों मे, जो उसको सत्य या असत्य प्रमाणित करने मे कुछ योग–दान देते हैं, क्या सम्बन्ध है?

इस सम्बन्ध मे सबसे अपरिष्कृत मत तो यह है कि यह सम्बन्ध अव्यवहित निरूपण मूलक है। यह आत्यंतिक अन्तर्भाववाद रेडिकल रिडक्शनिज्म) है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक अर्थपूर्ण वाक्य किसी ऐसे वाक्य मे अनूदित हो सकता है जो अव्यवहित–अनुभव के बारे मे हो, चाहे वह सत्य हो या असत्य। इस प्रकार का सिद्धान्त, किसी न किसी रूप मे अर्थों के प्रमाणीकरण–सिद्धान्त से बहुत पहले का है। लॉक और ह्यूम ने इस प्रकार बहुत पहले यह माना था कि प्रत्येक विचार या तो सीधे ऐन्द्रिय अनुभव मे जन्म लेता है या जो विचार ऐसे जन्म लेते हैं उनसे मिलकर बना होता है। टुक से संकेत लेते हुए, हम इस सिद्धान्त को भाषार्थ विज्ञान की पदावली मे इस प्रकार कह सकते हैं, कि कोई भी पद अर्थपूर्ण होने के लिये या तो किसी संवेद–प्रदत्त का नाम होना चाहिए या ऐसे नामों का एक समूह होना चाहिए, या किसी ऐसे समूह का ही संक्षिप्त नामकरण। परन्तु यदि इस सिद्धान्त का इस प्रकार से वर्णन करें तो यह निश्चित नहीं होता कि संवेद–प्रदत्त संवेद-घटनाएँ या संवेद-गुण, और न ही यह कि समूह-रचना की कौन सी विधियाँ ठीक हैं और कौन सी गलत। इसके अलावा, यह सिद्धान्त अनावश्यक

नहीं, द्रष्टव्य हेम्पल का लेख प्रॉब्लम्स् एंड चेंजिस् इन दि एम्पीरीसिस्ट क्राइटीरियन ऑफ मीनिंग, लियोनार्ड लिस्की द्वारा सम्पादित–समेंटिक्स एंड दि फिलासफी आफ लेंग्वेज मे।

रूप से हमे प्रत्येक पद की विशिष्ट खोज करने के लिये वाध्य करता है कि वह वास्तव मे किन्ही सवेदनात्मक विषयों का नाम है या नही। जिस मत को मैंने आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद की सज्ञा दी है, उसकी सीमा मे रहते हुए भी हम अधिक ठीक तौर पर, (पदो के स्थान पर) पूरे वाक्यो को अर्थपूर्ण ऐकिक मान कर चल सकते हैं। इस तरह हमारी माँग यह होगी कि वाक्य अपनी पूर्णता मे सवेद्य–विषय की भाषा मे परिभाषित होना चाहिए, न कि यह कि उसका प्रत्येक पद इस प्रकार परिभाषित हो सकना चाहिए।

सिद्धान्त मे इस प्रकार का परिवतन लॉक, ह्यूम, और टुक को निस्सन्देह ही पसन्द होता, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि मे वह अर्थ के भाषार्थ–विज्ञान के एक नयी दिशा मे मुडने पर आश्रित था। और यह मोड उस दृष्टि मे था जो अर्थ का प्रधान वाहक पद को नही मान कर वाक्य को मानती थी। दिशा–परिवतन की यह दृष्टि–फ्रेगे[१५] मे बिलकुल स्पष्ट है और रसल के अपूर्ण–प्रतीकों वाले सिद्धान्त का, जो प्रतीक कि प्रयोग मे[१६] परिभाषित होते हैं, आधार है। अर्थों के प्रमाणीकरण–सिद्धान्त में भी यह निहित है, क्योकि सत्य या असत्य होने के विषय वाक्य हैं, न कि पद।

वाक्यो को ऐकिक मान कर, अब आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद के सिद्धान्त ने अपना काम यह समझा कि एक सवेद–विषयक भाषा का निर्माण करे और यह दिखाये कि बाकी सब जो अर्थपूर्ण है, उसका प्रत्येक वाक्य इसके (नई भाषा के) वाक्यो मे परिभाषित किया जा सकता है। कानप ने अपनी पुस्तक Augbau मे इसी कार्य को पूरा करने की तरफ कदम बढाया है।

जिस भाषा से कानप ने अपना काय शुरू किया वह सकीर्णतम अर्थ मे सवेद-विषयक भाषा नहीं थी, क्योकि उसमे उन्नततर सैट सिद्धान्त के तार्किक लिपि चिन्हो का समावेश है। वास्तव मे, शुद्ध गणित की सारी भाषा ही उसमे शामिल कर ली गई है। सत्ता–सम्बन्धी उसकी निहित मान्यताएँ (यानि, उसके चरो के मूल्यों की सीमा) केवल सवेद्य घटनाओं तक ही सीमित न होकर वग और वर्गो के वग आदि का भी समावेश करती थी। ऐसे अनुभववादी बहुत हैं, जो ऐसी बहुलता को मान्यता देने से घबरायेंगे। फिर भी जहाँ तक उसकी भाषा के अतार्किक, यानि सवेदनात्मक -पक्ष का प्रश्न है, कानप कम से कम को मानकर चला है। आधुनिक तक--शास्त्र की सम्भावनाओ का पूरा इस्तेमाल कर, कानप ने सफलतापूवक कई ऐसे अनुभवात्मक प्रत्ययो की परिभाषा कर डाली है जिनका कोई स्वप्न में भी विश्वास नही कर सकता था कि इतने सकीर्ण–आधार पर वे कभी की जा सकती हैं। उसको हम पहला अनुभववादी मान सकते हैं जिसने केवल यह कह कर ही सन्तोष नही कर लिया कि समस्त विज्ञान सद्य सवेदन मूलक अनुभव में पूर्ण रूप से वर्णनीय है, बल्कि जिसने ऐसा करने की दिशा मे कुछ महत्वपूर्ण कदम भी उठाये।

---

१५ गोट्लब फ्रेगे–फाउडेशस् आफ रियमेटिक, परिच्छेद ६०।

१६ द्रष्टव्य विलर्ड वान ऑर्मान क्वाईन–फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइट आफ व्यू, पृ० ६।

यदि यह मान भी लें कि कार्नप का प्रस्थान-बिन्दु सन्तोषपूर्ण है, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा, जैसा कि वह स्वयं मानता है, कि उसका काय पूरे कार्यक्रम का बहुत थोड़ा सा अंश-मात्र है। भौतिक जगत् के बारे में सरल से सरल कथनों की रचना भी अधूरी अवस्था में ही छोड़ दी गयी है। यह ठीक है कि अधूरे होने के बावजूद भी कार्नप ने जो इस दिशा में सुझाव दिये हैं वे बहुत विचारोत्तेजक हैं। उसने देश-कालिक बिन्दु-क्षणों को वास्तविक अङ्कों के चतुष्कों के रूप में रचना की और यह माना कि बिन्दु-क्षण संवेद्य गुणों से निश्चित नियमों के अनुसार सम्बद्ध होते हैं। संक्षेप में, उसकी योजना यह थी कि संवेद्य गुण बिन्दु-क्षणों से इस प्रकार सम्वर्धित किये जायं कि हमारे अनुभूत जगत् से संगत अधिक से अधिक निष्क्रिय जगत् की रचना की जा सके। अनुभव से जगत् की रचना में, कम से कम कार्य का नियम ही हमारा मार्गदर्शक होगा।

परन्तु कार्नप ने यह नहीं देखा कि भौतिक विषयों के सम्बन्ध में उसकी परियोजना अधूरी ही नहीं थी बल्कि कभी सिद्धान्ततः भी पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती थी। उसके नियमों के अनुसार, किसी भी इस प्रकार के वाक्य को, कि "कोई गुण 'क' किसी बिन्दु क्षण य, र, ल, स पर है" सत्य या असत्य इस प्रकार ठहराना चाहिये कि कुछ व्यापक-विशेषताओं को अधिकतम या अल्पतम किया जा सके और अनुभव की वृद्धि के साथ इसी दृष्टि से उनके सत्यता-मूल्य में क्रमशः संशोधन किया जा सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह वैज्ञानिक काय का सही (यद्यपि अत्यधिक सरलीकृत) विवरण है। परन्तु यह इसका रत्ती मात्र भी सङ्केत नहीं करता कि इस प्रकार के वाक्य को कि 'कोई गुण 'क' किसी बिन्दु- क्षण य, र, ल, स, पर है", कार्नप की मूल भाषा में, जिसमें केवल तार्किक चिह्न और संवेद्य-विषय सूचक शब्द ही हैं, कभी भी अनूदित किया जा सकता है। संयोजक पद 'पर है' एक और अपरिभाषित पद रहता है। नियम हमको, उसका किस प्रकार व्यवहार किया जाय, वह अवश्य बताते हैं, परन्तु यह नहीं कि उसको भाषा से किस प्रकार निकाल दिया जाय, भाषा के मूल-भूत सञ्ज्ञों में परिभाषित करके।

कार्नप ने इस बात को बाद में अवश्य महत्व दिया प्रतीत होता है, क्योंकि इसके पश्चात् लिखी अपनी अन्य रचनाओं में उसने यह विचार ही बिल्कुल त्याग दिया कि भौतिक विश्व के बारे में जितने भी वाक्य हों वे सब अव्यवहित अनुभव का वर्णन करने वाले वाक्यों में अनूदित हो सकने चाहियें। कार्नप के दर्शन में बहुत दिनों से आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद की चर्चा लुप्त हो गई है।

परन्तु, अन्तर्भाववाद के प्रति अन्ध-विश्वास एक और सूक्ष्म रूप में अनुभववादियों के विचार को प्रभावित करता रहा है। यह विचार तो सबके दिमाग में कुछ न कुछ रहता ही है कि प्रत्येक वाक्य, या यों कहें कि प्रत्येक संश्लेषणात्मक वाक्य सम्बद्ध कुछ ऐसी विशिष्ट सम्भावित संवेद्य घटनाएँ हैं जिनका घटित होना उस वाक्य के सत्य होने की सम्भावना को बढ़ाता है और इसी प्रकार कुछ अन्य विशिष्ट सम्भावित संवेद्य घटनाएँ हैं जिनका वास्तव में, यह विचार तो अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त में अन्तर्निहित ही है।

अन्तर्भाववाद के प्रति अन्धविश्वास इस धारणा के द्वारा प्रतिजीवित है कि प्रत्येक वाक्य, अपने अन्य सहयोगी वाक्यों से बिल्कुल अलग होकर, सत्य या असत्य ठहराया जा सकता है। इसके विपरीत मेरा अपना विचार, जो कि कार्नप की 'आफबाऊ' पुस्तक में प्रतिपादित भौतिक-जगत् विषयक प्रतिपादन का ही विकास है, यह है कि हमारे बाह्य-जगत् के विषय में वाक्य अलग-अलग स्वतंत्र रूप में नहीं बल्कि अपनी सम्पूर्ण समग्रता में ऐन्द्रिय अनुभव की कसौटी पर कसे जाते हैं।

अन्तर्भाववाद की अन्ध-मान्यता, अपने हल्के रूप में भी, दूसरी अन्य मान्यता से विशिष्ट रूप से सम्बंधित है। यह अन्य मान्यता यह है कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के बीच एक गहरा भेद है। हमने अपने को दूसरी मान्यता के सम्बन्ध में विचार करते-करते पहली के सम्बंध में भी विचार करते पाया है। यह अर्थ के सत्यापन या प्रमाणीकरण-सिद्धान्त के द्वारा हुआ है। अधिक स्पष्ट रूप में यह दिखाया जा सकता है कि, एक मान्यता दूसरी को इस प्रकार सहारा देती है कि यदि हम यह मान लें कि सामान्य रूप से प्रत्येक वाक्य का अपने में सत्य या असत्य ठहराया जाना अर्थपूर्ण है, तो यह भी अर्थपूर्ण लगता है कि कोई ऐसे प्रकार का वाक्य भी हो सकता है जो अपने आप में शून्यतया सत्य या असत्य होता है, वस्तु-स्थिति चाहे कुछ भी हो और इस प्रकार का वाक्य विश्लेषणात्मक होता है।

वास्तव में, दोनों मान्यताएँ अपने मूल में एक ही हैं। कुछ देर पहले हमने यह विचार प्रकट किया था कि सामान्यतया वाक्यों की सत्यता स्पष्टतः भाषा और भाषेतर तथ्यों दोनों पर ही निर्भर करती है। और हमने यह भी देखा कि यह बात, तार्किक रूप से चाहे नहीं भी हो परन्तु स्वाभाविक रूप से अवश्य यह महसूस कराने लगती है कि किसी भी वाक्य की सत्यता का दो भागों में विश्लेषण किया जा सकता है एक जो भाषा से सम्बन्धित है और दूसरी जो तथ्य से सम्बंधित है। यदि हम अनुभववादी हैं तो तथ्यात्मक अंश अन्त में कुछ उन्हीं अनुभवों में निहित होगा जो उसको सत्य या असत्य ठहराने में सहायक सिद्ध होते हैं। और जहाँ भाषार्थी घटक ही सब कुछ है, वहाँ सत्य वाक्य विश्लेषणात्मक होता है। परन्तु मैं आशा करता हूँ कि हमको अब तक यह तो पूरी तरह पता चल गया होगा कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के बीच में सीधा भेद करना कितना मुश्किल है। मैं इस बात से भी प्रभावित हूँ कि कुछ पूर्वरचित उदाहरणों को छोड़ कर, जैसे कि किसी घड़े में सफेद और काली गेंदें, संश्लेषणात्मक वाक्यों के अनुभवात्मक सत्यापन के किसी भी स्पष्ट सिद्धान्त पर पहुँचना सदैव कितना कठिन रहा है। मेरा अपना वर्तमान सुझाव यह है कि किसी अकेले वाक्य की सत्यता के बारे में यह कहना कि उसका एक भाषा-पक्ष है और दूसरा तथ्य-पक्ष, नितान्त अर्थहीन है। और यह बुनियादी गलती ही अन्य बहुत कुछ अर्थ-शून्य चर्चा की जड़ है। सामूहिक रूप में लेते हुए विज्ञान भाषा और अनुभव दोनों पर ही दुहरा आश्रित है, परन्तु विज्ञान के एक-एक वाक्य में इस दुहरे पक्ष को खोजा नहीं जा सकता।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विचार कि किसी प्रतीक की परिभाषा उसके वास्तविक व्यवहार द्वारा की जानी चाहिये, लॉक और ह्यूम के अनुभववाद से, जो प्रत्येक पद

यदि यह मान भी लें कि कार्नप का प्रस्थान- बिन्दु सन्तोषपूर्ण है, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा, जैसा कि वह स्वयं मानता है, कि उसका कार्य पूरे कार्यक्रम का बहुत थोड़ा सा अंश-मात्र है। भौतिक जगत् के बारे में सरल से सरल कथनों की रचना भी अधूरी अवस्था में ही छोड़ दी गयी है। यह ठीक है कि अधूरे होने के बावजूद भी कार्नप ने जो इस दिशा में सुझाव दिये हैं वे बहुत विचारोत्तेजक हैं। उसने देश-कालिक बिन्दु-क्षणों को वास्तविक अङ्कों के चतुष्कों के रूप में रचना की और यह माना कि बिन्दु--क्षण संवेद्य गुणों से निश्चित नियमों के अनुसार सम्बद्ध होते हैं। संक्षेप में, उसकी योजना यह थी कि संवेद्य गुण बिन्दु-क्षणों से इस प्रकार सम्बंधित किये जायं कि हमारे अनुभूत जगत् से यथासम्भव अधिक से अधिक निष्क्रिय जगत् की रचना की जा सके। अनुभव से जगत् की रचना में, कम से कम कार्य का नियम ही हमारा मार्गदर्शक होगा।

परन्तु कार्नप ने यह नहीं देखा कि भौतिक विषयों के सम्बन्ध में उसकी परियोजना अधूरी ही नहीं थी बल्कि कभी सिद्धान्ततः भी पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती थी। उसके नियमों के अनुसार, किसी भी इस प्रकार के वाक्य को, कि "कोई गुण 'क' किसी बिन्दु क्षण य, र, ल, स पर है" सत्य या असत्य इस प्रकार ठहराना चाहिये कि कुछ व्यापक--विशेषताओं को अधिकतम या अल्पतम किया जा सके और अनुभव की वृद्धि के साथ इसी दृष्टि से उनके सत्यता-मूल्य में क्रमशः संशोधन किया जा सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह वैज्ञानिक कार्य का सही (यद्यपि अत्यधिक सरलीकृत) विवरण है। परन्तु यह इसका रत्ती मात्र भी सङ्केत नहीं करता कि इस प्रकार के वाक्य को कि 'कोई गुण 'क' किसी बिन्दु- क्षण य, र, ल, स, पर है", कार्नप की मूल भाषा में, जिसमें केवल तार्किक चिह्न और संवेद्य--विषय सूचक शब्द ही हैं, कभी भी अनूदित किया जा सकता है। संयोजक पद 'पर है' एक और अपरिभाषित पद रहता है। नियम हमको, उसका किस प्रकार व्यवहार किया जाय, यह अवश्य बताते हैं, परन्तु यह नहीं कि उसको भाषा से किस प्रकार निकाल दिया जाय, भाषा के मूल -भूत सञ्ज्ञों में परिभाषित करके।

कार्नप ने इस बात को बाद में अवश्य महत्व दिया प्रतीत होता है, क्योंकि इसके पश्चात् लिखी अपनी अन्य रचनाओं में उसने यह विचार ही बिल्कुल त्याग दिया कि भौतिक विश्व के बारे में जितने भी वाक्य हों वे सब अव्यवहित अनुभव का वर्णन करने वाले वाक्यों में अनूदित हो सकने चाहियें। कार्नप के दर्शन में बहुत दिनों से आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद की चर्चा लुप्त हो गई है।

परन्तु, अन्तर्भाववाद के प्रति अन्ध-विश्वास एक और सूक्ष्म रूप में अनुभववादियों के विचार को प्रभावित करता रहा है। यह विचार तो सबके दिमाग में कुछ न कुछ रहता ही है कि प्रत्येक वाक्य, या यों कहें कि प्रत्येक संश्लेषणात्मक वाक्य सम्बद्ध कुछ ऐसी विशिष्ट सम्भावित संवेद्य घटनाएँ हैं जिनका घटित होना उस वाक्य के सत्य होने की सम्भावना को बढ़ाता है और इसी प्रकार कुछ अन्य विशिष्ट सम्भावित संवेद्य घटनाएँ हैं जिनका वास्तव में, यह विचार तो अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त में अन्तर्निहित ही है।

अन्तर्भाववाद के प्रति अन्धविश्वास इस धारणा के द्वारा प्रतिजीवित है कि प्रत्येक वाक्य, अपने अन्य सहयोगी वाक्यों से बिल्कुल अलग होकर, सत्य या असत्य ठहराया जा सकता है। इसके विपरीत मेरा अपना विचार, जो कि कार्नप की 'आफबाऊ' पुस्तक में प्रतिपादित भौतिक-जगत् विषयक प्रतिपादन का ही विकास है, यह है कि हमारे बाह्य-जगत् के विषय में वाक्य अलग-अलग स्वतंत्र रूप में नहीं बल्कि अपनी सम्पूर्ण समग्रता में ऐन्द्रिय अनुभव की कसौटी पर कसे जाते हैं।

अन्तर्भाववाद की अन्ध-मान्यता, अपने हल्के रूप में भी दूसरी अन्य मान्यता से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित है। यह अन्य मान्यता यह है कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के बीच एक गहरा भेद है। हमने अपने को दूसरी मान्यता के सम्बन्ध में विचार करते-करते पहली के सम्बन्ध में भी विचार करते पाया है। यह अर्थ के सत्यापन या प्रमाणीकरण-सिद्धान्त के द्वारा हुआ है। अधिक स्पष्ट रूप में यह दिखाया जा सकता है कि, एक मान्यता दूसरी को इस प्रकार सहारा देती है कि यदि हम यह मान लें कि सामान्य रूप से प्रत्येक वाक्य का अपने में सत्य या असत्य ठहराया जाना अर्थपूर्ण है, तो यह भी अर्थपूर्ण लगता है कि कोई ऐसे प्रकार का वाक्य भी हो सकता है जो अपने आप में शून्यतया सत्य या असत्य होता है, वस्तु स्थिति चाहे कुछ भी हो और इस प्रकार का वाक्य विश्लेषणात्मक होता है।

वास्तव में, दोनों मान्यताएँ अपने मूल में एक ही हैं। कुछ देर पहले हमने यह विचार प्रकट किया था कि सामान्यतया वाक्यों की सत्यता स्पष्टतः भाषा और भाषेतर तथ्यों दोनों पर ही निर्भर करती है। और हमने यह भी देखा कि यह बात, तार्किक रूप से चाहे नहीं भी हो परन्तु स्वाभाविक रूप से अवश्य यह महसूस कराने लगती है कि किसी भी वाक्य की सत्यता का दो भागों में विश्लेषण किया जा सकता है, एक जो भाषा से सम्बन्धित है और दूसरी जो तथ्य से सम्बन्धित है। यदि हम अनुभववादी हैं तो तथ्यात्मक अंश अन्त में कुछ उन्हीं अनुभवों में निहित होगा जो उसको सत्य या असत्य ठहराने में सहायक सिद्ध होते हैं। और जहाँ भाषायी घटक ही सब कुछ है, वहाँ सत्य वाक्य विश्लेषणात्मक होता है। परन्तु मैं आशा करता हूँ कि हमको अब तक यह तो पूरी तरह पता चल गया होगा कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के बीच में सीधा भेद करना कितना मुश्किल है। मैं इस बात से भी प्रभावित हूँ कि कुछ पूर्वरचित उदाहरणों को छोड़ कर, जैसे कि किसी घड़े में सफेद और काली गेंदें, संश्लेषणात्मक वाक्यों के अनुभवात्मक सत्यापन के किसी भी स्पष्ट सिद्धान्त पर पहुँचना सदैव कितना कठिन रहा है। मेरा अपना वर्तमान सुझाव यह है कि किसी अकेले वाक्य की सत्यता के बारे में यह कहना कि उसका एक भाषा-पक्ष है और दूसरा तथ्य-पक्ष, नितान्त अर्थहीन है। और यह बुनियादी गलती ही अन्य बहुत कुछ अर्थ शून्य चर्चा की जड़ है। सामूहिक रूप में लेते हुए विज्ञान भाषा और अनुभव दोनों पर ही दुहरा आश्रित है परन्तु विज्ञान के एक-एक वाक्य में इस दुहरे पक्ष को खोजा नहीं जा सकता।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विचार कि किसी प्रतीक की परिभाषा उसके वास्तविक व्यवहार द्वारा की जानी चाहिये, लॉक और ह्यूम के अनुभववाद से, जो प्रत्येक पद

की असम्भव रूप से अनुभवात्मक व्याख्या माँगता था, निस्सन्देह श्रेष्ठतर है। फ्रेगे के समय से यह बात सामान्यतया मान ली जाने लगी है कि अनुभववादी कसौटी पर वाक्य को परखा जाना चाहिये, न कि अकेले पद को। परन्तु जो बात मैं अब कह रहा हूँ, वह यह है कि अकेले वाक्य को भी यह मान्यता प्रदान करना गलत है। आनुभविक सार्थकता तो वास्तव में सम्पूर्ण विज्ञान तन्त्र पर ही की जा सकती है।

[६] अन्धविश्वासों से रहित अनुभववाद

हमारे तथा-कथित ज्ञान या विश्वास का सम्पूर्ण पसारा, चाहे वह भूगोल या इतिहास की मामूली सी घटनाएँ हो या आणविक भौतिकी अथवा शुद्ध गणित या तर्क-शास्त्र के गहन तम सिद्धान्त, मनुष्य का बनाया हुआ एक तन्त्र है जो अनुभव को केवल अपने किनारों पर छूता है। दूसरे प्रकार से कहें, तो, सम्पूर्ण विज्ञान एक शक्ति के क्षेत्र के समान है जिसकी सीमान्त परिस्थितियाँ अनुभवात्मक हैं। यदि परिधि पर कहीं अनुभव से असामञ्जस्य पैदा होता है, तो क्षेत्र के सारे भीतरी भाग में पुनर्व्यवस्थापन करने पड़ते हैं। कुछ वाक्यों के सत्यता मूल्य में हेर-फेर करने होते हैं, और यदि कुछ वाक्यों के सत्य-असत्य मूल्य में परिवर्तन होता है, तो कुछ अन्य, जो उनसे तार्किक दृष्टि से विशिष्ट रूप में सम्बन्धित हैं, उनमें भी परिवर्तन करना पड़ता है। परन्तु ये तार्किक नियम भी अपने आप में उसी तन्त्र के अङ्ग हैं, उसी क्षेत्र में व्याप्त हैं, उससे कुछ अलग नहीं। किसी भी एक वाक्य के पुनर्मूल्याङ्कन के बाद हमारे लिये कुछ अन्य वाक्यों का पुनर्मूल्याङ्कन भी आवश्यक हो जाता है। ये वाक्य या तो ऐसे होते हैं जो पहले वाक्य से तार्किक रूप से सम्बन्धित हों या फिर ऐसे होते हैं जो स्वयं तार्किक-सम्बन्धों-विषयक ही हों। परन्तु सारा क्षेत्र अपनी परिधि अनुभव से इस प्रकार से अनिश्चिततया निर्धारित होता है कि हमेशा इस बात की काफी हद तक स्वतन्त्रता होती है कि हम किसी एक विपरीत या अप्रत्याशित अनुभव होने पर अपने किन्हीं भी वाक्यों का पुनर्मूल्याङ्कन कर सकते हैं। कोई भी विशिष्ट अनुभव क्षेत्र के अन्दर के किसी भी विशिष्ट वाक्य से सीधे रूप से सम्बन्धित नहीं है। उसका सम्बन्ध तो केवल उस सन्तुलन से है जो कि सारे क्षेत्र में उसकी समग्रता में निहित है।

यदि यह बात ठीक है, तो किसी एक वाक्य की अनुभवात्मक अन्तवस्तु की बात करना हमको गलत दिशा में ले जाना है, विशेषकर यदि वह वाक्य क्षेत्र की आनुभविक परिधि से ज़रा भी दूर हो। इससे भी अधिक, संश्लेषणात्मक वाक्यों, जिनकी सत्यता अनुभव-सापेक्ष होती है, और विश्लेषणात्मक वाक्यों, जो चाहे कुछ भी हो हमेशा सत्य रहते हैं, के बीच सीमा-रेखा खोजना एक मूर्खतापूर्ण प्रयास ही रह जाता है। किसी भी वाक्य को हम प्रत्येक अवस्था में सत्य बनाये रख सकते हैं यदि हम क्षेत्र या संस्थान के अन्य भागों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के लिये तैयार हों। अनुभव के विपरीत होते हुये भी ज्ञान के क्षेत्र की परिधि के बहुत पास के वाक्य को भी सत्य मानकर रखा जा सकता है, यदि हम ऐसे वाक्यों में, जो तार्किक नियम कहलाते हैं, परिवर्तन करने के लिये तैयार हों या कहने के लिये कि जो अनुभूत होता है, वह-माया जाल है या भ्रम है। इसके विपरीत इसी आधार पर, यह भी कहा जा सकता

है कि कोई भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसके सत्य-असत्य-मूल्य में परिवर्तन न किया जा सके। आणविक जगत् के क्वाण्टम सिद्धान्तों के सरलीकरण के लिये तृतीय-प्रकार-अभाव (लॉ आफ एक्सक्लूडेड मिडल) जैसे आधार-भूत तार्किक सिद्धान्त तक में संशोधन का प्रस्ताव किया गया है। और यदि ऐसा किया जाय तो सिद्धान्त रूप में इस परिवर्तन में और उनमें जो केपलर ने टोलेमी-सिद्धान्त में किये थे या आईन्स्टाईन ने न्यूटन के सिद्धान्त में, या डार्विन ने अरस्तू के सिद्धान्त में, क्या अन्तर है ?

बात को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये ही मैंने सांवेदनिक परिधि से विविध फासला की चर्चा की है। अब मैं इसी बात को बिना किसी उपमा का सहारा लिये समझाने का प्रयत्न करूँगा। कुछ वाक्य, जोकि यद्यपि संवेदों के सम्बन्ध में नहीं होकर भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में होते हैं, फिर भी वे, कुछ विशेष प्रकार से संवेदों में, और उसके भी किसी विशिष्ट प्रकार से, सम्बन्ध रखते हैं, कुछ वाक्य कुछ अनुभवों से और अन्य वाक्य, अन्य अनुभवों से। ऐसे वाक्य, जो किन्हीं विशिष्ट अनुभवों से सम्बन्धित दीख पड़ते हैं, उनकी मैं इस प्रकार कल्पना करता हूँ कि वे परिधि के पास हैं। परन्तु इस "सम्बन्ध" से मेरा और कोई मतलब नहीं है सिवाय इसके कि यह अनिश्चित रूप में हमारे इस निर्णय को प्रतिबिम्बित करता है कि ऐसा अनुभव होने पर, जो हमें हमारे ज्ञान का विरोधी भी प्रतीत होता है और जिसे हम किसी प्रकार हटा भी नहीं सकते, इसकी सम्भावना अधिक है कि हम एक प्रकार के वाक्यों में परिवर्तन करेंगे, न कि दूसरे प्रकार के वाक्यों में। उदाहरण के लिये, हम ऐसे प्रतिकूल अनुभवों की कल्पना कर सकते हैं जिनको अपने ज्ञान-तन्त्र में व्यवस्थित रूप से लाने के लिये हम अपने इन वाक्यों के सत्य-मूल्य में परिवर्तन करने के लिये तैयार हो जायँ कि एल्म सड़क पर ईंटों के मकान हैं, और इसके साथ ही इससे सम्बन्धित इसी विषय पर अन्य वाक्यों में भी। हम ऐसे अन्य अनुभवों की भी कल्पना कर सकते हैं जिनके लिये हम अपने ज्ञान-संस्थान में ऐसे वाक्यों की, कि 'आधे घोड़े और आधे मनुष्य के शरीर का कोई भी व्यक्ति नहीं है' के सत्य-मूल्य में परिवर्तन करने के लिये तैयार हो सकते हैं। ऐसा अनुभव, जिसको कि आसानी से ज्ञान-तन्त्र में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, ज्ञान-संस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के सत्य असत्य मूल्यों में कई अलग-अलग प्रकार के परिवर्तन करके व्यवस्थित रूप से सम्मिलित किया जा सकता है, ऐसा मैंने कहा है। परन्तु जिन उदाहरणों की अब हम कल्पना कर रहे हैं उनमें हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होती है कि पूरे ज्ञान-संस्थान में कम से कम परिवर्तन किया जाय और इसी कारण से हम अपना परिवर्तन उन्हीं वाक्यों तक सीमित रखते हैं जो 'ईंटों के मकान' या ऐसे व्यक्तियों के बारे में हैं 'जिनका आधा शरीर घोड़े का है और आधा आदमी का'। इसलिये, ऐसा महसूस किया जाता है कि ऐसे वाक्यों का अनुभव से अधिक गहरा और सीधा सम्बन्ध है बनिस्बत भौतिक-शास्त्र, तर्क-शास्त्र या तत्त्व शास्त्र के उन वाक्यों के जो अत्यन्त सैद्धान्तिक हैं। इन दूसरी प्रकार के वाक्यों के विषय में इस प्रकार सोचा जा सकता है कि वे ज्ञान-संस्थान में केन्द्र के अपेक्षाकृत अधिक पास स्थित हैं, जिसका आशय सिर्फ यह है कि उनका किन्हीं विशिष्ट संवेदनात्मक तथ्यों से कोई विशेष सम्बन्ध हमारी दृष्टि

के सम्मुख नहीं आता।

अनुभववादी ज्ञान के नाते, मैं विज्ञान के समस्त प्रत्ययात्मक-सम्भार को अन्ततोगत्वा केवल एक ऐसी सहायक प्रक्रिया मानता हूँ जिसके द्वारा भूतकाल के अनुभव के आधार पर भविष्य के अनुभव के विषय में कुछ कहा जा सके। भौतिक पदार्थों को तो बीच में प्रत्ययात्मक ढंग से उनका आक्षिप्त करना, केवल सुविधा का काम है। इस संदर्भ में, हम भौतिक पदार्थों को उस अर्थ में नहीं ले रहे हैं जिसमें कि वे हमारे अनुभव में पूर्ण रूप से परिभाष्य हैं, अपितु उस अर्थ में जिसमें कि वे एक स्वतन्त्र सत्य आक्षिप्त होते हैं—ऐसी सत्ता जिसको कि, किसी और में रूपान्तरित भी नहीं किया जा सकता और जिसको ज्ञानात्मक दृष्टि से हम होमर के देवताओं के अनुरूप ही मान सकते हैं। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, एक साधारण भौतिक वैज्ञानिक के नाते मैं भौतिक पदार्थों की सत्ता में विश्वास रखता हूँ और होमर के देवताओं में बिल्कुल नहीं। इसके अतिरिक्त, मेरा यह भी विश्वास है कि इसके विपरीत मानना वैज्ञानिक दृष्टि से गलत है। परन्तु ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से भौतिक पदार्थों में और होमर के देवताओं में कोई मूल-भूत भेद नहीं है। भेद है तो केवल थोड़े बहुत का है। दोनों प्रकार की वस्तुएं वास्तव में हमारे प्रत्ययात्मक विचार को संस्थान संस्कृति में ही मिलती है। भौतिक पदार्थों की परिकल्पना अन्य परिकल्पनाओं से ज्ञानात्मक रूप में केवल इसलिये श्रेष्ठ है कि इसके द्वारा अनुभव के सतत् प्रवाह को हम कुछ अधिक अच्छी तरह से विचार-तन्त्र में बांध सकते हैं।

सत्ता का आक्षेप दृश्य भौतिक वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहता। आणविक स्तर पर भी हम पदार्थों का सत्तात्मक रूप में आक्षेप इसलिये करते हैं कि बृहत्तर दृश्य-जगत् के पदार्थ-सम्बन्धी नियमों को और अन्ततः अनुभव के ही नियमों को सरल किया जा सके और इस प्रकार उनको विचार में अधिक आसानी से पकड़ा जा सके और जिस प्रकार हम बृहत्तर इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों की शुद्ध संवेदनाओं के रूप में पूर्ण परिभाषा न तो स्वीकार ही करते हैं, न उसके विषय में आग्रह ही करते हैं, उसी प्रकार परमाणु या अणु के स्तर पर अध्यारोपित वस्तुओं की बृहत्तर जगत् के पदार्थों से सम्बन्धित पूर्ण परिभाषा की न तो आशा ही करनी चाहिये और न उस पर आग्रह ही। विज्ञान रोजमर्रा के ज्ञान का ही एक विस्तार मात्र है और उसके इस तरीके को कि सिद्धान्त को सरल बनाने के लिये सत्ताओं में आवश्यक परिवर्द्धन किया जाय, उसने अपनाया भी है।

और फिर, छोटे या बड़े भौतिक विषय भी एक मात्र आक्षिप्त नहीं हैं। 'शक्तियाँ', एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करती हैं और आजकल तो हम को यही बताया जाता है कि भौतिक द्रव्य और शक्ति के बीच की रेखा मिट चुकी है। इसके अलावा, वह सूक्ष्म परिकल्पित वस्तुएँ, जो गणित की प्रधान विषय हैं—जैसे वर्ग और वर्गों के वर्ग इत्यादि—इसी आक्षेप के एक अन्य उदाहरण हैं। ज्ञान की दृष्टि से यहाँ उसी प्रकार की परिकल्पना हैं जैसे कि भौतिक पदार्थ

---

१८ द्रष्टव्य फ्रॉम ए लॉजीकल प्वाइंट आफ व्यू में पृ० १७।

या पौराणिक देवता । दोनो मे से हम किसी का एक–दूसरे से अधिक सच्चा या बुरा नही मान सकते सिवाय इस सदर्भ के कि उनमे से कौन हमे अपने सवेदनात्मक अनुभवो के साथ व्यवहार करने मे कम या अधिक सफलता प्रदान करता है।

रेशनल और इर्रेशनल सख्याओ का बीज गणित, रेशनल सख्याओ के बीजगणित के द्वारा अधोनिर्धारित है। परन्तु यह सरल और अधिक सुविधाजनक है और रेशनल सख्याओ का बीजगणित उसका स्वय का एक इधर–उधर बिखरा अतरङ्ग अश है।[१९] इसी प्रकार सम्पूर्ण विज्ञान, चाहे वह गणित हो या भौतिकी, या मनुष्य सम्बन्धी, यह अनुभव के द्वारा बहुत अधिक अधोनिर्धारित रहता है। सम्पूर्ण ज्ञान सस्थान के किनारो को तो हमे अनुभव के साथ मिला कर रखना पडता है परन्तु बाकी जो सब है उसका अपनी जटिल से जटिलतम परिकल्पनाओ मे भी लक्ष्य केवल यही है कि नियमो को किस प्रकार से सरल से सरल बनाया जा सके।

इस दृष्टिकोण मे, सत्ता–शास्त्र के प्रश्न भौतिक–विज्ञान के प्रश्नो के समान स्तर के हैं।[२०] उदाहरण के लिये, यह प्रश्न लीजिये कि क्या हम वर्गों की अपनी वास्तव मे सत्ता मान सकते हैं ? यह, जैसा कि मैंने अन्य स्थानो पर भी कहा है, वास्तव मे यह प्रश्न है कि क्या हम उन चरो का परिमाणीकरण करने को तैयार हैं जिनके मूल्य वर्ग हो सकते हैं ? अब कार्नप ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यह प्रश्न वास्तव मे किसी वस्तु–स्थिति के विषय में नही है, बल्कि इसका सम्बन्ध इससे है कि विज्ञान के लिये कौन सी भाषा या कौन सा प्रत्ययात्मक सस्थान सुविधा–जनक है और इस आधार पर हम किसको चुनें। इससे मैं सहमत हूँ, परन्तु इस शर्त पर कि और सब वैज्ञानिक प्रस्थापनाओ को भी इसी रूप मे समझा जाए। यह बात कार्नप ने स्वीकार की है[२१] कि वे तत्त्व–मीमासा सम्बन्धी प्रश्नो और वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं मे इस प्रकार का दोहरा मापदण्ड केवल विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक मे पूर्णरूपेण भेद मान कर ही कर सकते हैं और मुझे फिर यह कहने की आवश्यकता नही होनी चाहिये कि मैं इस भेद को बिलकुल अस्वीकार करता हूँ।[२२]

ऐसा लगता है कि वर्गों की सत्ता का प्रश्न एक प्रत्ययात्मक सस्थान की सुविधा के सम्बन्ध मे अधिक है और किसी विशिष्ट या वास्तविक वस्तु–स्थिति के बारे मे कम। इसी प्रकार जहाँ तक एल्म गली में ईंटों के मकान का प्रश्न है, या ऐसे व्यक्तियो की सत्ता का प्रश्न है जिनका मुँह और धड आदमी का हो और बाकी घोडे का यह वास्तविक वस्तु–स्थिति से सम्बन्धित अधिक प्रतीत होते हैं और प्रत्ययात्मक सस्थान से कम। परन्तु मैं यही कहने की

---

१९ द्रष्टव्य फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू में पृ० १८।
२० एमिले मेयर्सन-आइडेन्टिटे एट रियालिटे (पेरिस, १९०८, चतुर्थ सस्करण १९३२)
२१ एम्पीरिसिज्म सेमेंटिक्स एण्ड ऑन्टोलॉजी, मीनिंग एण्ड नेसेसिटी के सस्करण में सकलित।
२२ इस भेद विषय अन्य भ्रान्तियों के निरास के सम्बन्ध में द्रष्टव्य मोर्टन व्हाइट- दि एनेलिटिक एण्ड दि सिंथेटिक एन अनटेनेबलडुअलिज्म–सिडनी हुक द्वारा सम्पादित–जोहन ड्यूई फिलोसोफर आफ साइंस एण्ड फ्रीडम मे सकलित।

के सम्मुख नहीं आता।

अनुभववादी होने के नाते, मैं विज्ञान के समस्त प्रत्ययात्मक-संस्थान को अन्ततोगत्वा केवल एक ऐसी सहायक प्रक्रिया मानता हूँ जिसके द्वारा भूतकाल के अनुभव के आधार पर भविष्य के अनुभव के विषय में कुछ कहा जा सके। भौतिक पदार्थों को तो बीच में प्रत्ययात्मक रूप से इसमें शामिल करना, केवल सुविधा की बात है। इस सन्दर्भ में, हम भौतिक पदार्थों को उस अर्थ में नहीं लाते हैं जिसमें कि वे हमारे अनुभव में पूर्ण रूप से परिभाषित हैं, अपितु उस अर्थ में जिसमें कि वे एक अपरिहार्य आश्रित हैं[18]—ऐसी सत्ता जिसको कि, किसी और में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता और जिसको ज्ञानात्मक दृष्टि से हम होमर के देवताओं के अनुरूप ही मान सकते हैं। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, एक साधारण भौतिक वैज्ञानिक होने के नाते मैं भौतिक पदार्थों की सत्ता में विश्वास करता हूँ और होमर के देवताओं में बिल्कुल नहीं। इसके अतिरिक्त, मेरा यह भी विश्वास है कि इसके विपरीत मानना वैज्ञानिक दृष्टि से गलत है। परन्तु ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से भौतिक पदार्थों में और होमर के देवताओं में कोई मूल-भूत भेद नहीं है। भेद है तो केवल मात्रा का है। दोनों प्रकार की वस्तुएं वास्तव में हमारे प्रत्ययात्मक विचार का संस्थान संस्कृति से ही मिलती हैं। भौतिक पदार्थों की परिकल्पना अन्य परिकल्पनाओं से ज्ञानात्मक रूप में केवल इसलिये श्रेष्ठ है कि इसके द्वारा अनुभव के सतत प्रवाह को हम कुछ अधिक अच्छी तरह से विचार-तन्त्र में बाँध सकते हैं।

सत्ता का आक्षेप दृश्य भौतिक वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहता। आणविक स्तर पर भी हम पदार्थों का सत्तात्मक रूप में आक्षेप इसलिये करते हैं कि बृहत्तर दृश्य-जगत् के पदार्थ सम्बन्धी नियमों को और अन्ततः अनुभव के ही नियमों को सरल किया जा सके और इस प्रकार उनको विचार में अधिक आसानी से पकड़ा जा सके और जिस प्रकार हम बृहत्तर इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों की शुद्ध सवेदनाओं के रूप में पूर्ण परिभाषा न तो स्वीकार ही करते हैं, न उसके विषय में आग्रह ही करते हैं, उसी प्रकार परमाणु या अणु के स्तर पर अध्यारोपित वस्तुओं की बृहत्तर जगत् के पदार्थों से सम्बन्धित पूर्ण परिभाषा की न तो आशा ही करनी चाहिये और न उस पर आग्रह ही। विज्ञान रोजमर्रा के ज्ञान का ही एक विस्तार मात्र है और उसके इस तरीके को कि सिद्धान्त को सरल बनाने के लिये सत्ताओं में आवश्यक परिवर्द्धन किया जाय, उसने अपनाया भी है।

और फिर, छोटे या बड़े भौतिक विषय भी एक मात्र आक्षिप्त नहीं हैं। 'शक्तियाँ', एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करती हैं और आजकल तो हम को यही बताया जाता है कि भौतिक द्रव्य और शक्ति के बीच की रेखा मिट चुकी है। इसके अलावा, वह सूक्ष्म परिकल्पित वस्तुएँ, जो गणित की प्रधान विषय हैं—जैसे वर्ग और वर्गों के वर्ग इत्यादि—इसी आक्षेप के एक अन्य उदाहरण हैं। ज्ञान की दृष्टि से यहाँ उसी प्रकार की परिकल्पना हैं जैसे कि भौतिक पदार्थ

---

१८ द्रष्टव्य फ्रॉम ए लॉजीकल प्वाइंट आफ व्यू मे पृ० १७।

या पौराणिक देवता । दोनों में से हम किसी का एक-दूसरे से अधिक अच्छा या बुरा नहीं मान सकते सिवाय इस सदर्भ के कि उनमे से कौन हमे अपने सवेदनात्मक अनुभवों के साथ व्यवहार करने मे कम या अधिक सफलता प्रदान करता है।

रेशनल और इर्रेशनल सख्याओ का बीज गणित, रेशनल सख्याओं के बीजगणित के द्वारा अधोनिर्धारित है। परन्तु यह सरल और अधिक सुविधाजनक है और रेशनल सख्याओं का बीजगणित उसका स्वय का एक इधर-उधर बिखरा अनर्गल अश है।[19] इसी प्रकार सम्पूर्ण विज्ञान, चाहे वह गणित हो या भौतिकी, या मनुष्य सम्बन्धी यह अनुभव के द्वारा बहुत अधिक अधोनिर्धारित रहता है। सम्पूर्ण ज्ञान सस्थान के किनारो को तो हम अनुभव के साथ मिला कर रखना पडता है, परन्तु बाकी जो सब है उसका अपनी जटिल से जटिलतम परिकल्पनाओ में भी लक्ष्य केवल यही है कि नियमो को किस प्रकार से सरल से सरल बनाया जा सके।

इस दृष्टिकोण मे, सत्ता-शास्त्र के प्रश्न भौतिक-विज्ञान के प्रश्नो के समान स्तर के हैं।[20] उदाहरण के लिये, यह प्रश्न लीजिये कि क्या हम वर्गों की अपनी वास्तव मे सत्ता मान सकते हैं ? यह, जैसा कि मैंने अन्य स्थानो पर भी कहा है, वास्तव मे यह प्रश्न है कि क्या हम उन चरो का परिमाणीकरण करने को तैयार हैं जिनके मूल्य वर्ग हो सकते हैं ? अब कारनप ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यह प्रश्न वास्तव मे किसी वस्तु-स्थिति के विषय मे नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध इससे है कि विज्ञान के लिये कौन सी भाषा या कौन सा प्रत्ययात्मक सस्थान सुविधा-जनक है और इस आधार पर हम किसको चुनें। इससे मैं सहमत हूँ, परन्तु इस शर्त पर कि और सब वैज्ञानिक प्रस्थापनाओ को भी इसी रूप मे समझा जाए। यह बात कारनप ने स्वीकार की है[21] कि वे तत्त्व-मीमासा सम्बन्धी प्रश्नो और वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं में इस प्रकार का दोहरा मापदण्ड केवल विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक मे पूर्णरूपेण भेद मान कर ही कर सकते हैं और मुझे फिर यह कहने की आवश्यकता नही होनी चाहिये कि मैं इस भेद को बिल्कुल अस्वीकार करता हूँ।[22]

ऐसा लगता है कि वर्गों की सत्ता का प्रश्न एक प्रत्ययात्मक सस्थान की सुविधा के सम्बन्ध में अधिक है और किसी विशिष्ट या वास्तविक वस्तु-स्थिति के बारे मे कम। इसी प्रकार जहाँ तक एल्म गली मे ईंटो के मकान का प्रश्न है, या ऐसे व्यक्तियो की सत्ता का प्रश्न है जिनका मुँह और धड आदमी का हो और बाकी घोडे का यह वास्तविक वस्तु-स्थिति से सम्बन्धित अधिक प्रतीत होते हैं और प्रत्ययात्मक सस्थान से कम। परन्तु मैं यही कहने की

---

१९ द्रष्टव्य फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट ऑफ व्यू में पृ० १८।
२० एमिले मेयसन-आइडेंटिटे एट रियालिटे (पेरिस, १९०८, चतुर्थ सस्करण १९३२)
२१ एम्पीरिसिज्म सेमेंटिक्स एण्ड ऑंटोलॉजी, मीनिंग एण्ड नेसेसिटी के सस्करण में सकलित।
२२ इस भेद विषय अन्य भ्रान्तियों के निरास के सम्बन्ध मे द्रष्टव्य मोर्टन व्हाइट-दि एनेलिटिक एण्ड दि सांइथेटिक एन अनटेनेबल डुअलिज्म-सिडनी हुक द्वारा सम्पादित-जोहन ड्यूई फिलोसोफर ऑफ साइंस एण्ड फ्रीडम मे सकलित।

कोशिश कर रहा हूँ कि यह भेद आत्यन्तिक न होकर केवल न्यूनाधिक का है और इसका आधार हमारी वह भावना है जो किसी विरोधी अनुभव के सामने विज्ञान के समस्त पसारे के एक अंश मे आसानी से परिवर्तन करने के लिये तैयार है और दूसरे मे कम। ऐसे निर्णयो मे हमारी यह भावना, कि परिवर्तन कम से कम किया जाय और यह कि विचार-तन्त्र जितना सरल हो सके उतना सरल हो, दोनो ही काम करती हैं।

कार्नेप, ल्यूइस आदि अनेक दार्शनिक, जहाँ तक विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानो और भाषीय रूपो में से चुनने का प्रश्न है, सुविधावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। परन्तु उनका सुविधावाद सश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक के बीच की परिकल्पित रेखा पर पहुँच कर विदा ले लेता है। ऐसी किसी रेखा को अस्वीकार कर, वास्तव में मैं सुविधावाद का अधिक और पूर्णतर रूप मे पोषण करता हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ एक ओर उसको संस्कृति का दिया हुआ वैज्ञानिक उत्तराधिकार मिलता है वहाँ सतत् संवेदनाओ का प्रवाह भी, और वैज्ञानिक उत्तराधिकार मे प्रतिकूल संवेदनाओ के समक्ष परिवर्तन का आधार, यदि वह बुद्धिनिष्ठ है, तो केवल सुविधा ही हो सकती है, अन्य कुछ नही।

व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदावलियाँ

गिल्बर्ट राइल

अधिकांशत , यदि पूर्णरूपेण नही भी हो तो, दार्शनिक तर्क का मुख्य विषय कथनो अथवा स्थापनाओ का अर्थ विवेचन रहा है "ऐसा कहने का क्या अर्थ है ?" ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी साधारण भाषा मे -उस भाषा मे जिसका कि वे दार्शनिक सन्दर्भ के बाहर उपयोग करते हैं-कुछ पदो का प्रयोग करते हैं, और दार्शनिक लोग उनमे से किन्हीं कम या अधिक मौलिक प्रकारो या वर्गों के पदों से ही अपने आपको बाँध देते हैं, और किसी एक प्रकार की सब अभिव्यक्तियो के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाते हैं कि उनका वास्तव में क्या अर्थ है ?

कभी-कभी दार्शनिक कहते हैं कि वे उन 'अवधारणाओं' का विश्लेषण या स्पष्टीकरण कर रहे हैं जो साधारण व्यक्ति या वैज्ञानिक, इतिहासवेत्ता, कलाकार या अन्य भी किसी के निर्णयों में निहित हैं। लेकिन यह केवल एक अत्यन्त अस्पष्ट कथन-प्रकार है कि वे उन सामान्य पदो के अर्थों की खोज मे प्रयत्नशील हैं जो उनके द्वारा उच्चरित या लिखित वाक्यों में निहित है। क्योंकि जैसाकि हम देखेंगे, 'अ एक अवधारणा है' और 'ब एक निर्णय' स्वय ही व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदावलियाँ हैं।

परन्तु यह सम्पूर्ण प्रक्रिया ही बहुत विषम है । क्योंकि यदि विचाराधीन पदो का बुद्धिमत्ता से प्रयोग किया जाय तो उनके प्रयोग करने वाले पहले से ही जानते हैं कि उनका क्या तात्पर्य है, और इसलिए उन्हें यह समझने से पहले कि वे क्या कर रहे हैं, दार्शनिकों की सहायता लेने अथवा डाँट-फटकार सुनने की आवश्यकता नही है, और यदि उनके श्रोता वह सब समझते हों जो उन्हें कहा गया है तो वे भी ऐसी घबराहट में नही हैं कि उन्हें इस अर्थ के दार्शनिक 'विवेचन' या 'स्पष्टीकरण' की आवश्यकता हो। और कम से कम स्वय दार्शनिक को यह मालूम होना चाहिए कि उस पद का क्या तात्पर्य है, क्योंकि अन्यथा तो वह स्वय भी यह नहीं जान पायेगा कि वह क्या था जिसका कि वह विवेचन कर रहा था।

निश्चित रूप से ऐसी स्थिति प्राय ही होती है कि पदों का प्रयोग विचार पूर्वक नही किया जाता है, और उस हद तक उनके लेखक तोते की भाँति निरर्थक उच्चारण कर रहे होते हैं। परन्तु तब यह पूछना स्पष्टत निरर्थक होगा कि इस पद का वास्तविक अर्थ क्या है, क्योंकि इस मान्यता का कोई कारण नहीं है कि उनका कोई अर्थ है । यदि ऐसा कोई भी कारण होता तो यह केवल रटना नही रहता। और यदि कोई दार्शनिक यह पूछना चाहे कि

यदि एक विचारशील मनुष्य इनका प्रयोग कर रहा होता तब इन पदो का क्या अर्थ होता, तो इसका केवल यही उत्तर होगा कि तब वे वही अर्थ व्यक्त करेंगे, जो वे उस अवस्था मे करेंगे। उनको समझना ही पर्याप्त होगा, और ऐसा किसी भी विचारशील श्रोता द्वारा किया जा सकता है। दार्शनिकीकरण उसकी सहायता नही कर सकता, और वास्तव मे दार्शनिक स्वय भी तब तक आरम्भ नही कर सकेगा जब तक कि वह उनको साधारण रीति से नही जान लेगा।

अत यह प्रतीत होता है कि यदि एक पद को समझा जा सके, तो इसे इस समझने की प्रक्रिया मे स्वत ही जान लिया जाता है (कि इसका क्या अर्थ है) । अत यहाँ न तो कोई अधकार विद्यमान है और इसीलिए न किसी प्रकाश की आवश्यकता है, और न ही ऐसा (अधकार–निवारण) सम्भव है।

और यदि यह सुझाया जाय कि एक पदावली का अ–दार्शनिक लेखक (फिर चाहे वह साधारण मनुष्य हो, वैज्ञानिक हो, उपदेशक हो या कलाकार हो) अपनी पदावली के तात्पय को जानता तो है किन्तु वह उसे मन्द, धूमिल और सम्भ्रामक रूप से जानता है, जबकि दार्शनिक अपनी अन्वेषण–प्रक्रिया के अन्त मे उसके तात्पय को स्पष्ट, विविक्त एव निश्चित रूप से जानता है, तो एक द्विविध उत्तर अनिवार्य दिखाई देता है। प्रथम, यदि एक वक्ता केवल सम्भ्रामक रूप से जानता है कि उसकी पदावली का क्या तात्पर्य है, तो वह उस विषय मे और उस हद तक निरथक शब्दोच्चार कर रहा है। और फिर एक दार्शनिक की न तो यह भूमिका ही है और न ही उसकी उपलब्धि कि वह उस प्रकार के शब्द–प्रवाह का कोई उपचार करे। और दूसरे, पदेन भी दार्शनिक का कार्य निरर्थक प्रलापो पर विचार करना नही है वह तो पदावलियो का अध्ययन उनके अर्थों को जानने के लिए तब करता है जब कि उन्हे बुद्धिमत्ता पूवक प्रयुक्त किया जाता है, निश्चय ही ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग होता है जिनके लिए उनसे अच्छा स्थानापन्न मिल सकता है और उसका ही प्रयोग किया ही जाना चाहिए या पहले ही किया जा चुका होगा। (१) एक अभिव्यक्ति अग्रेजी या लातीनी व्याकरण के नियमो का भङ्ग करने वाली हो सकती है । (२) एक शब्द विदेशी शब्द हो सकता है, या दुलभ शब्द अथवा पारिभाषिक या व्यापारीय पद हो सकता है, जिसके लिये एक परिचित पर्याय विद्यमान है। (३) एक वाक्याश अथवा वाक्य अपनी बनावट मे भद्दा अथवा अपरिचित हो सकता है। (४) एक शब्द या वाक्याश अनेकाथक हो सकता है और इसी कारण सम्भव शब्द क्रीडा का उपकरण हो सकता है। (५) कोई शब्द अथवा वाक्याश का इस रूप मे गलत चुनाव हो सकता है कि जहाँ एक विशिष्ट पद होना चाहिए वहाँ साधारण का प्रयोग हो, अथवा यह लाक्षणिक हो सकता है जहाँ कि उसकी लाक्षणिकता ज्ञात अथवा स्पष्ट नही हो। (६) अथवा कोई शब्द अनुपयुक्त अथवा असम्यक हो सकता है किन्तु शब्दान्तर–विन्यास मे भी खोज—जो किन्ही प्रस्तुत श्रोतागणो को शीघ्र समझ मे आ जाये या जिसमे अधिक उक्ति-चमत्कार हो अथवा जो विशेष शैली या ढग की हो या व्युत्पत्यनुसार अधिक सही हो -वह या तो व्यावहारिक कोष-रचना मात्र होगा या होगा भाषा–विज्ञान, वह दर्शन नही हो सकता।

तो अब हमे इस प्रश्न का सामना करना ही चाहिये कि, क्या व्यक्तियो द्वारा उपयोग मे लाये जाने वाले पदो व वाक्यो के अर्थो का विवेचन या स्पष्टीकरण जैसी कोई वस्तु है, सिवाय इस बात के कि भाषा -विज्ञान की दृष्टि से अनुपयुक्त पदावलियो के स्थान पर उपयुक्त पदावलियो को रख दिया जाय, हम इस समस्या को 'अवधारणाओं' की अधिक भ्रामक शब्दा-वली मे रख कर यह पूछ सकते थे कि दार्शनिक साधारण विवेचन अथवा स्पष्टीकरण व्यक्ति, वैज्ञानिक अथवा कलाकार द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओ पर ऐसी क्या क्रिया करता है कि ये अव-धारणायें जो कि पहले अन्धकार मे छिपी थी, उद्भासित हो उठती हैं ? अब ठीक वैसी ही दिक्कतें सामने आती हैं। इसलिए कि भ्रामक अवधारणा की तरह की कोई भी वस्तु नही हो सकती, क्योंकि या तो एक व्यक्ति चिन्तन कर रहा होता है, अर्थात् अपनी विषय-वस्तु के स्वभाव को जान रहा होता है, या फिर वह ऐसा करने मे असफल रहता है। यदि वह सफल हो रहा है तब तो, न तो कोई स्पष्टीकरण अपेक्षित है और न ही सम्भव है, और यदि वह असफल हो रहा है तो उसे विषय--वस्तु की अधिक खोज करनी चाहिये या उसका अधिक चिन्तन करना चाहिये, जिसके कि स्वभाव के बोध को हम 'अवधारणा' कहते हैं। लेकिन यह अवधारणा के बारे में दार्शनिकीकरण नही होगा वरन् उस वस्तु के स्वभाव की अधिक खोज होगी और इसलिए यह सम्भवत अर्थशास्त्र होगा या खगोलशास्त्र अथवा इतिहास होगा। लेकिन जैसा कि मैं सोचता हूँ, यह दिखाया जा सकता है कि यह किसी भी प्राकृतिक अर्थ मे सत्य नही है कि 'अवधारणायें' हैं। मैं अब समस्या के वर्णन की दूसरी विधि का अनुसरण करूँगा।

इस निबन्ध का उद्देश्य यह दिखाना नही है कि दर्शन सामान्यत किस चीज की परीक्षा करता है, अपितु यह दिखाना है कि तब भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है जिसमें कि दार्शनिकों को विवेचन और वर्णन करना चाहिए और वे कर सकते हैं। वह है इस या उस आधारभूत प्रकार की पदावलियो का वास्तव मे क्या अर्थ है, तथापि इन विवेचनो से यह जरा भी लागू नही होता कि इन पदावलियो का उपयोग करने वाले सामान्य लोग कुछ भी सन्देह या सम्भ्रम मे हैं कि उनकी पदावलियों का क्या तात्पर्य है, और न उन्हें भाषा के प्रयोग की साधारण--विधि को जारी रखने के लिए, अथवा उसका बोधगम्य रूप मे प्रयोग करने के लिये ही किसी दार्श-निक विश्लेषण की आवश्यकता होती है।

तो जो कुछ मैं प्रतिपादित करना चाहता हूँ उसका साराश यह है। बहुतसी ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं जो अदार्शनिक भाषा मे घटित होती हैं और जिन्हें यद्यपि उनका प्रयोग करने वाले, उन्हें पढने और सुनने वाले पूर्ण स्पष्ट रूप से समझते हैं किन्तु तब भी जो ऐसे व्याकरण या वाक्य रचना प्रकारो में रचित होती हैं कि जो उन वस्तु--स्थितियो के लिये तकत अनुप-युक्त होती हैं जिनका कि वे वर्णन करती हैं। और दर्शन के लिये ऐसे पदो का पुन प्रतिपादन किया जा सकता है, किन्तु अदार्शनिक भाषा के लिये नहीं। यह प्रतिपादन ऐसे पदो में किया जाना चाहिए जिनका कि वाक्य--रचना का रूप--वर्ण्य तथ्यो के लिये (अथवा तथोक्त वर्णन-विषय तथोक्त तथ्यों के लिये) उपयुक्त हो।

मैं अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन) शब्द का प्रयोग अकेले शब्दो, वाक्याशो और वाक्यो के लिए कर रहा हूँ । 'कथन' से मेरा तात्पय है एक ऐसे वाक्य से जो निर्देश करता हो। जब एक कथन सत्य होगा तो मैं कहूँगा कि यह एक तथ्य का या वस्तु स्थिति का विवरण है। असत्य कथन कोई विवरण नही देता । किसी कथन की सत्यता जानने का तात्पय है यह जानना कि कुछ वस्तु-स्थिति है और यह कथन इसे सूचित करता है। जब मैं किसी कथन को समझता मात्र हूँ तो यह नही जानता कि यह एक तथ्य का विवरण देता है, और न ही मुझे उस तथ्य को जानने की आवश्यकता है जिसे यह विवरण देता है, यदि यह कोई विवरण देता है तो। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि यदि यह कथन किसी वस्तु-स्थिति का विवरण हुआ तो वह वस्तु-स्थिति क्या होगी।

प्रत्येक सार्थक कथन एक विवरणकल्प होता है क्योकि इसमे विवरण होने के लिए उपयुक्त सरचना और घटक दोनो विद्यमान हैं । लेकिन इनको जानते हुए भी अभी तक यह नही जानते होते कि यह किसी तथ्य का विवरण है। असत्य कथन छद्म विवरण होते हैं और ये उसी प्रकार विवरण नही होते जिस प्रकार छद्म प्राचीन वस्तुएँ वस्तुत प्राचीन वस्तुएँ नहीं होती। इसलिए यह प्रश्न कि असत्य कथन क्या वर्णन करते हैं, एक निरथक प्रश्न है, यदि 'वर्णन करन' का तात्पर्य विवरण होने से हो। और यदि इसका तात्पय यह हो कि यदि ये किसी स्थिति का अभिलेखन करते हैं तो वे क्या अभिलेखन करेंगे ? तो यह प्रश्न स्वय ही अपना उत्तर रखता है।

जब एक अभिव्यक्ति की ऐसी वाक्य--रचना हो कि जो विवरण-बद्ध तथ्य के अनुपयुक्त हो, तो यह व्यवस्थित रूप से इस बात मे भ्रामक होगी कि इससे कुछ व्यक्तियो को—यद्यपि साधारण व्यक्तियो को नही—ऐसा आभास होगा कि विवरण बद्ध वस्तु स्थिति उस वस्तु-स्थिति से बिल्कुल भिन्न है जो कि तथ्यत किंवा वास्तव मे है।

अब मैं जिस बात पर पहुँचना चाहता हूँ उसे उदाहरणो द्वारा दिखाने का प्रयत्न करूँगा। मैं एक प्रकार की अभिव्यक्तियो के एक सम्पूर्ण वर्ग पर विचार से आरम्भ करूँगा जो कि साधारण भाषा मे घटित होती हैं, और पूर्णत सतोषजनक ढग से घटित होती हैं लेकिन जो व्यवस्थित रूप से भ्रामक होती हैं, अर्थात् वे ऐसी वाक्य-रचना मे रचित की गई होती हैं और वह बिल्कुल भिन्न तार्किक प्रकार के तथ्यो के लिए उचित होती हैं न कि विवरण-बद्ध तथ्यो के लिए (सरलता के लिए मैं ऐसा मानूँगा मानो जितने भी कथन उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत किए गये हैं वे सत्य हैं। क्योकि असत्य कथन रचना मे सत्य कथनो से भिन्न नही होते। अन्यथा तो व्याकरण-शास्त्रज्ञ सर्वज्ञ हो गये होते। और जब मैं किसी कथन को 'व्यवस्थित रूप से भ्रामक' कहता हूँ तो मेरा मतलब यह नही है कि यह असत्य है, और निश्चित--तौर पर यह भी नहीं कि यह अर्थशून्य है। 'व्यवस्थित रूप से' कहने का मेरा तात्पय है कि उस व्याकरण की आकृतिवाली सभी अभिव्यक्तियाँ समान रूप से और उन्ही हेतुओ के कारण भ्रामक होंगी)।

छद्म सत्ता–मीमांसात्मक कथन–वाक्य

काण्ट से लेकर अब तक हम में से अधिकांश ने इस सिद्धान्त को कि 'अस्तित्व कोई गुण नहीं है' कहने भर के लिए स्वीकार किया है, और इसलिए हमने इस सत्ता–मीमांसीय तर्क की छद्म अर्थापत्ति को अस्वीकार कर दिया है कि 'परमात्मा पूर्ण है, पूर्ण होने से यह अर्थापतित है कि वह अस्तित्ववान् है (अत) परमात्मा अस्तित्ववान् है।' क्योंकि यदि अस्तित्व कोई गुण नहीं है तो यह ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जो कि किसी गुण द्वारा अर्थापतित की जा सके।

लेकिन अभी हाल ही तक इस पर ध्यान नहीं दिया गया था कि यदि 'परमात्मा अस्तित्ववान् है' में 'अस्तित्ववान्' विधेय नहीं है (व्याकरण को छोड़ कर) तो उसी कथन में परमात्मा (व्याकरण को छोड़ कर) कथन का उद्देश्य भी नहीं हो सकता। इस बात का ज्ञान हमें ऐसे नकारात्मक अस्तित्वात्मक तर्कवाक्यों की परीक्षा करने से हुआ जैसे 'शैतान अस्तित्ववान् नहीं है' या 'एक सींग वाले घोड़े अनस्तित्ववान् हैं'। यदि कोई शैतान है ही नहीं तो यह कथन कि 'शैतान अस्तित्ववान् नहीं है' शैतान के बारे में उस प्रकार से नहीं हो सकता, जिस प्रकार से कि "मैं उनींदा हूँ" मेरे बारे में है। बावजूद प्रतीति के 'शैतान' शब्द विशेषणों के किसी विशेष्य का वाचक नहीं हो सकता।

दार्शनिकों ने अनेक ऐसे सिद्धान्तों से मन बहलाया है जो उन्हें निरन्तर यह कहने में सक्षम बनाये रक्खें कि 'शैतान अस्तित्ववान् नहीं है' वाक्य किसी न किसी भाँति शैतान के बारे में है, और कि 'अस्तित्ववान्' शब्द भी किसी न किसी प्रकार के विशेषण या लक्षण को व्यक्त करता है, यद्यपि यह गुण नहीं है।

इसलिए कुछ लोगों ने यह तर्क किया कि यह कथन किसी ऐसी वस्तु के बारे में है जिसका वर्णन 'शैतान का प्रत्यय' कह कर किया गया, और दूसरों ने कहा कि यह एक सत्तायुक्त (Subsistent) किन्तु अवास्तविक वस्तु के बारे में है जिसे शैतान कहा गया है। संक्षेप में, सभी सिद्धान्तों ने यह प्रदर्शित करना चाहा कि कुछ हो सकता है (चाहे वह 'केवल मानसिक' हो या कि वह सत्ताओं (Subsistent) के क्षेत्र का हो) लेकिन वह अस्तित्ववान् नहीं हो सकता। लेकिन जैसे कि हम कह सकते हैं कि 'गोल वर्गों का अस्तित्व नहीं होता' और कि 'वास्तविक अनस्तित्वों का अस्तित्व नहीं होता' तो नकारात्मक अस्तित्ववानों की इस प्रकार की व्याख्या या तो सत्ताओं (Subsistents) के क्षेत्र को या प्रत्ययों के क्षेत्र को चलने-फिरने वाले आत्म-व्याघातों से निश्चित ही भर देगी। इसलिए इन सिद्धान्तों को त्यागना पड़ा और अस्तित्ववाचकात्मक तर्क वाक्यों का नये सिरे से विश्लेषण करना पड़ा।

मानलें कि मैं सामान्य उद्देश्य पर माँसाहारी गायों के लिए कहता हूँ कि वे (स्पष्टत) 'अस्तित्ववान् नहीं हैं' और मेरा कथन सत्य है, तो मैं वास्तव में माँसाहारी गायों के बारे में बात नहीं कर रहा होता, क्योंकि ऐसी गायें हैं ही नहीं। इससे यह अनुगमित होता है कि 'माँसाहारी गायें' पद वास्तव में उस वस्तु या वस्तुओं का निर्देश करने के लिए नहीं हो रहा है जिनके सम्बन्ध में कि विधेय पद का विधान किया जा रहा है, यद्यपि व्याकरण में

इसके विपरीत प्रतीत होता है। और इसी प्रकार चूँकि 'अस्तित्व है' क्रिया विधान किये गये लक्षण को व्यक्त नही करती है, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से यह विधान करती है, अत यथार्थ विधेय हमे अन्यत्र खोजना चाहिए।

इसीलिए व्याकरण का अनुसरण छोडना आवश्यक है क्योकि उक्त विश्लेषण हमे यह सुझाता है कि 'मॉसाहारी गायें अस्तित्ववान् नही हैं' का तात्पय वही है जो इस वाक्य का है कि 'कोई भी गाय मॉसाहारी नही है' या कि 'कोई भी मॉस भक्षी पशु गाय नही है', लेकिन एक अन्य सुधार आवश्यक प्रतीत होता है।

'एक सीग वाले अश्वो का अस्तित्व नही है' का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि 'कोई भी एक साथ ही चौपाया और शाकाहारी और एक सीग को धारण करने वाला न ी है' (या और भी कोई लक्षण जो उस कल्पित घोडे के हो) और इसका यह आशय प्रतीत नही होता कि कुछ चौपाये या शाकाहारी पशु हैं।

अत 'मॉसाहारी गायो का अस्तित्व नही है', इस प्रकार लिखा जाना चाहिये कि कोई भी एक साथ ही गाय और मॉस भक्षी नही है' और इसका यह आशय नही है कि कोई भी दोनो में से एक है।

अब एक स्पष्टत व्यक्तिवाचक उद्देश्य पद लें जैसे 'परमात्मा का अस्तित्व है' या 'शैतान का अस्तित्व नहीं है' में है। यदि उपरोक्त व्याख्या सही थी तो यहाँ भी 'परमात्मा' और 'शैतान', बावजूद व्याकरण की प्रतीतियो के, वस्तुत विधेयात्मक पद होंगे। अर्थात् वे कथन के वे घटक होंगे जो यह व्यक्त करेंगे कि कोई वस्तु विशेष लक्षणो वाली है जो उद्देश्य के उस लक्षण को द्योतित करती है जिसके द्वारा वह लक्षित होता है। 'परमात्मा अस्तित्ववान् है' का वही तात्पर्य है जो इस कथन का है कि '(कुछ) और केवल एक ही वस्तु सवज्ञ, सवशक्तिमान् और असीम रूप से अच्छी है', (या अन्य कोई भी लक्षण हो जिन्हें उस परमात्मा के और केवल उसी परमात्मा के सयुक्त लक्षण मे समाकलित किया गया हो) और 'शैतान का अस्तित्व नही है' का अर्थ होना चाहिए कि 'कुछ भी एक साथ ही पैशाचिक, और पैशाचिक होने में अकेला, नहीं है', या शायद 'कुछ भी एक साथ ही पैशाचिक और 'शैतान' नही है' या कि 'शैतान' किसी भी वस्तु की व्यक्ति–वाचक सज्ञा नही है। अत स्थूल रूप से कहें, तो 'य का अस्तित्व है' और 'य का अस्तित्व नही है' में यह कथन अभिप्रेत नही है कि विशेषणो का कोई प्रदत्त–उद्देश्य (विशेष्य) य है जो कि अस्तित्व से भी विशेषित है, वलिक ऐसे य–वत् भाव का, अथवा किसी ऐसे के य होने का निषेध करते हैं जिसका कि कथन मे नामाभिधान नही किया गया है।

अब मैं अपना वास्तव मे अभिप्राय कह सकता हूँ। मैं कहता हूँ कि ऐसे कथन, जैसे कि 'मॉसाहारी गायो का अस्तित्व नही है' व्यवस्थित रूप से भ्रामक हैं और वे पद जिनसे हमने इनका वाक्य–विन्यास किया है वे भ्रामक नही हैं, या कम से कम उसी प्रकार या उसी हद तक व्यस्थित रूप से भ्रामक नही हैं। लेकिन वे न तो असत्य हैं और नही वे तात्पर्य विहीन हैं। वे सत्य हैं और वास्तव में उसी अथ को व्यक्त करते हैं (जो उनके व्यवस्थित रूप से कम

भ्रामक वाक्य-विन्यास व्यक्त करते हैं । और न ही (कुछ विशेष प्रकार की अवस्थाओं को छोड़ कर) इस प्रकार के पदो का अदार्शनिक प्रयोक्ता उन परिस्थितियों के स्वरूप के बारे मे अनजान या सशय मे है जिनका विवरण उसके पद देते हैं। यह बिल्कुल भी भटका हुआ नही है। तथापि उसकी अभिव्यक्ति की रचना मे एक फन्दा है लेकिन यह ऐसा फन्दा है जो केवल उसी व्यक्ति के लिए भयावह है जिसने वस्तु-स्थितियो के प्रकारो या रूपो के बारे मे सामान्यीकरण प्रारम्भ कर दिया हो और जो यह मानता हो कि प्रत्येक कथन अपनी वाक्य रचना के द्वारा उस तथ्य के तार्किक आकार का सकेत दे देता है जिसका यह वर्णन करता है। मैं यहाँ केवल या मुख्य रूप से भी दार्शनिक की ओर इंगित नही करना चाहता वरन् उस किसी भी व्यक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो अमूर्त -चिन्तन मे प्रवृत्त होता है ।

लेकिन इस विचार को आगे बढाने से पूव मैं हमारे 'तथाकथित अस्तित्व वाचक कथनो' की परीक्षा के परिणामो का साधारणीकरण करना चाहता हूँ। और यह इसलिए भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि जब कि अधिकाश दार्शनिको को काण्ट की चेतावनी ने 'परमात्मा का अस्तित्व है' की व्यवस्थित भ्रामकता से अगाह कर दिया था, उनमे से शायद ही कोई यह देख सका कि दूसरी अनेको अभिव्यक्तियाँ हैं जो उसी सक्रामक दोष से पीडित हैं ।

यदि 'परमात्मा का अस्तित्व है' का वही अथ है जो हमने कहा है, तो स्पष्टत 'परमात्मा एक अस्तित्ववान् (वस्तु) है', 'परमात्मा एक सत्ता है', 'परमात्मा अस्तित्व रखता है', या 'अस्तित्व' पदो को उसी प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता होगी। अतएव ' अस्तित्ववान् है', ' एक वस्तु है', केवल निरथक विधेय हैं, और (व्याकरण मे) ये जिसके सम्बन्ध मे विधान करते हैं, वह एक निरथक उद्देश्य--पद है। और ठीक वैसा ही निम्नलिखित तालिका के जोडो के तमाम पदो के लिए सत्य होगा

वाल्डविन	पिकविक
एक सत्ता है।]	[असत् है।
वास्तव मे है या वास्तविक है।]	[अवास्तविक है या अवास्तविकता है या केवल आभास है।
एक यथाथ वस्तु है।]	[मिथ्या वस्तु या वस्त्वाभास है।
एक तत्व है।]	[कोई तत्व नही है।
एक वास्तविक वस्तु या सत्ता है।]	[एक अवास्तविक वस्तु या सत्ता है।
वस्तु निष्ठ है।]	[अवस्तुनिष्ठ अथवा व्यक्तिनिष्ठ है।
एक मूर्त वास्तविक है।]	[परिकल्पना या मिथ्या रचना है।
एक विषय है।]	[काल्पनिक विषय है।
	[नही है।
	[केवल एक विचार मात्र है।
	[अमूर्त प्रत्यय है।
	[एक तार्किक सरचना है।

इनमे से एक भी कथन वस्तुत श्रीमान् पिकविक के बारे मे नही है। क्योंकि यदि वे सत्य हो तो कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है जिसके बारे मे वे हो। और न ही उनमें से कोई वाल्डविन के बारे मे है। क्योंकि यदि वे असत्य हो तो कोई ऐसा नही होगा जिसके बारे मे वे हो। और न ही उनमे से किसी मे व्याकरण का ऐसा विधेय है, अर्थात् कथन का वह अव-यव जो कि उस लक्षण को कथन करता है जिससे कि कोई वस्तु लक्षित होती है या लक्षित नही होती है।

अब मैं निष्कर्ष को कुछ थोडे अपटु ढग से इस प्रकार से प्रस्तुत करूँगा। कथनो का एक वर्ग है जिसका व्याकरण सम्बन्धी विधेय किसी विशेष लक्षण युक्त होने का वाचक प्रतीत नहीं होता किन्तु किसी विशिष्ट प्रतिष्ठा से युक्त अथवा उससे रहित प्रतीत होता है। किन्तु ऐसे सभी कथनो मे प्रतीति विशुद्ध व्याकरण सम्बन्धी होती है और कथन जो कुछ भी वस्तुत वर्जित करते हैं, वह ऐसे कथनो मे व्यक्त किया जा सकता है जो बिल्कुल भी ऐसे छद्म सत्ता–वाचक विधेयो से युक्त न हो।

और फिर ऐसे सभी छद्म सत्ता-वाचक कथनो मे व्याकरण का उद्देश्य पद किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करता या इ गित करता प्रतीत होता है जिसको कि विधेय विधेयित किये जाते हैं, परन्तु प्रकट उद्देश्य पद वास्तव मे प्रच्छन्न विधेयात्मक पद है, और वास्तव में इन कथनो मे जो कुछ वर्णित किया जाता है उसका ऐसे कथनो द्वारा पुन कथन किया जा सकता है कि जिनका कोई भी अश ऐसे किसी भी उद्देश्य को इ गित करता प्रतीत नही होता।

एक शब्द मे यह कहा जा सकता है कि सभी छद्म सत्तात्मक कथन व्यवस्थित रूप से भ्रामक हैं। (यदि मेरी यह बात सही है तो इससे यह निष्कर्ष अनुगत होता है–जिसे मैं अगी-कार करता हूँ—कि वे तत्त्वमीमासी दार्शनिक बहुत बड़े अपराधी हैं जिन्होंने 'सत्' या 'सत्ता' (बीइ ग) को अपने तर्क वाक्यो का उद्देश्य पद बना लिया है, या सत्ता को विधेय बना लिया है, मानो जैसे वे कोई अत्यन्त महत्व की बात कह रहे हो। क्योंकि जो कुछ भी वे कहते हैं कम से कम वह व्यवस्थित रूप से भ्रामक तो है ही, और किसी भी दार्शनिक के तर्क वाक्यो को ऐसा होने का कोई हक नही है और इनके लिए यह भी कहा जा सकता है कि ये निर-र्थक हैं।

मुझे पुन चेतावनी दे देनी चाहिए कि ऐसे छद्म सत्ता–वाचक पदो का प्रयोग करने वाला अनाडी आदमी भी आवश्यक रूप से भ्रान्त नहीं होता, वैसी सम्भावना भी अधिक नहीं होती। वह जो कुछ कहना चाहता था उसने कह दिया है और कोई भी जो अग्रेजी जानता हो यह समझ सकता है कि वह क्या कह रहा था। तिस पर भी मैं यह और कहना चाहूँगा कि उन अवस्थाओं मे, जिनकी कि मैं तालिका दे चुका हूँ वे कथन न केवल महत्वपूर्ण हैं अपितु सत्य भी हैं। उनमें से प्रत्येक एक वास्तव वस्तुस्थिति को अकित करता है। परन्तु उनसे दार्शनिक को भी भ्रमित नही होना चाहिए। उदाहरण के लिए, मुझे पूर्ण आशा है कि हम भ्रमित नही हैं। लेकिन बात यह है कि कोई भी व्यक्ति दार्शनिको समेत--जो अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण करता है और इस प्रकार यह विचार करने का प्रयत्न करता है कि एक ही

प्रकार के विभिन्न तथ्यो मे, अर्थात् विभिन्न वस्तुओ के बारे मे एक ही प्रकार के तथ्या म ऐसा क्या है जो समान है, उसे बलात् उन तथ्यो विषयक कथनो के लिए व्याकरण के साधारण रूपो को व्यवहार मे लाना होता है जिनके द्वारा कि वह तथ्या के स्वय के तार्किक स्वरूप की परीक्षा कर सके । क्योकि (जैसा कि हम आगे देखेगे) वह तरीका जिसके द्वारा वाक्यो मे किसी तथ्य को आकलित किया जाना चाहिए उस तथ्य के स्वरूप को समझने के लिए सकेत होगा, इससे हम तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वह तरीका जिसके द्वारा तथ्य का आकलन किया गया है, वास्तव मे एक ऐसा ही सकेत है । परन्तु अक्सर यह सकेत भ्रामक होता है और यह तथ्य के जिस रूप के सही होने का आभास देता है वह वास्तव मे म ही नही होता । "शैतान एक सत् (वस्तु) नही है" इसकी व्याकरण--परक रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह उसी प्रकार के तथ्य का आकलन करता है जैसा कि 'कैपोन कोई दार्शनिक नही है' करता है, और इसीलिए उसी हद तक मानो किसी व्यक्ति विशेष के, जिसे 'कैपोन' कहा जाता है, एक लक्षण को नकारता है । लेकिन, परीक्षा से पता चलता है कि यह प्रतीति एक धोखा है क्योकि वही तथ्य उचित रूप से ही, इस कथन मे आकलित किया जा सकता था कि "शैतान" व्यक्ति वाचक सज्ञा नही है या कोई भी शैतान' कहलाने वाला (अस्तित्व-वान्) नही है, या 'कोई भी एक साथ "शैतान" और अत्यन्त दुष्ट नही है', या शायद 'कुछ व्यक्ति विश्वास करते हैं कि कुछ ऐसा है जो एक साथ 'शैतान' और अत्यन्त दुष्ट है, किन्तु उनका विश्वास मिथ्या है और इनमे से कोई भी कथन शैतान' के बारे मे होने का दावा नही करता । इसके बजाय ये सभी कथन 'शैतान' रूप एक ध्वनि के बारे मे हैं और केवल उसी के बारे मे हैं, या फिर उन व्यक्तियो के बारे में हैं जो इसका दुरुपयोग करते हैं ।

इसी प्रकार, जबकि यह कहना कि 'श्रीमान् पिकविक एक परिकल्पना है' सार्थक, सत्य एव प्रत्यक्ष रूप से बुद्धिगम्य है, यह व्यवस्थित रूप से भ्रामक अभिव्यक्ति है (अर्थात् एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो एक आकार परक लक्षण के कारण जिसमे यह अन्य अभिव्यक्ति के साथ सहभागी है, या हो सकती है, भ्रामक है), क्योकि यह वस्तुत उस प्रकार के तथ्य का आकलन नही करती जैसाकि यह करती हुई प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार से जैसे यह करती है कि श्रीमान् वाल्डविन एक राजनीतिज्ञ है'। विश्व मे परिकल्पनाए उस प्रकार विद्यमान नही होती हैं जिस प्रकार राजनीतिज्ञ विद्यमान होते हैं । ऐसा कोई विशेष्य नही है जिसके सम्बन्ध मे हम कह सकें 'एक कथा है' । अलबत्ता हम डिकेन्स के बारे में यह कह सकते हैं कि 'वह एक कहानी कहने वाला है' या पिकविक के निबन्धो के बारे मे कह सकते हैं कि 'वह झूठी बातो का एक पुलन्दा है', या उपन्यास मे एक वाक्य के सम्बन्ध में, जिसमे छद्म नाम 'श्रीमान् पिकविक' अथवा 'एक कथा है' है कुछ कहना सम्भव है । और जब हम इस प्रकार की बातें कहते हैं तो हम ठीक उसी बात को आकलित करते हैं जिसे कि हमने तब आकलित किया था जब हमने कहा था कि 'श्रीमान् पिकविक एक परिकल्पना है', सिर्फ हमारी नयी अभिव्यक्तियाँ वह बात नहीं सुझाती जो पुरानी अभिव्यक्तियाँ सुझाती थी, कि कुछ विशेष्यो के दो विशेषण है । एक तो उनका 'श्रीमान् पिकविक' होना और दूसरे उनका एक परिकल्पना होना वरन्

इसके विपरीत यह बताती हैं कि किसी विशेष्य के विशेषण उसका डिकेन्स कहलाना और छद्म प्रकथनो एव छद्म व्यक्तिवाचक नामो का गढने वाला होना, या दूसरी व्याख्यानुसार, पुस्तक या वाक्य का होना जो सत्य या असत्य हो सकता है केवल यदि कोई 'श्रीमान् पिकविक' नामक व्यक्ति हो। वास्तव मे 'श्रीमान् पिकविक एक परिकल्पना है' प्रकटत भिन्न होने पर भी, या तो डिकेन्स के बारे मे है या पिकविक के निबन्धो के बारे मे है । लेकिन यह तथ्य कि यह इस प्रकार का है उस अभिव्यक्ति के स्वरूप से, जिसमे कि यह पद घटित होता है, प्रकट नही होता, छुपा रहता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जिस अर्थ मे इस प्रकार के छद्म सत्तापरक कथन भ्रामक हैं वह यह नही है कि ये असत्य हैं, और यह भी नही है कि उनमे कोई भी शब्द अनेकार्थक या अस्पष्ट है, वरन् केवल यह है कि वे उन तथ्यो के तार्किक रूप के लिए अपनी रचना मे ही अनुपयुक्त हैं जिनके आकलन के लिए उनका प्रयोग किया गया था, और वे बिल्कुल दूसरे ही तथ्यो के तार्किक रूप के लिए उपयुक्त हैं। रचनात्मक उपयुक्तता या अनुपयुक्तता की अवधारणाओ की क्या अर्थापत्तियाँ हैं, यह हम बाद मे देखेंगे।

[२] सामान्यो के बारे मे प्रतीत होने वाले कथन, अथवा प्लेतोनी–कल्प प्रकथन

हम अक्सर अत्यन्त सुविधापूर्वक ऐसी अभिव्यक्तियो का जैसे 'समयानुसार नही चलना गर्हणीय है' और 'गुण स्वय का पारितोषिक है' का प्रयोग करते हैं। और प्रथम दृष्टि मे ये अभिव्यक्तियाँ इन वाक्यो के पूर्णत समान प्रतीत होती हैं कि 'जोन्स धिक्कारने योग्य है' और स्मिथ ने स्वय को पारितोषिक दे लिया है'। इसीलिए दार्शनिको ने यह मानकर कि जो कुछ प्रथम वर्ग के कथनो का तात्पर्य है वह यथार्थत दूसरे वर्ग के कथनो के समान ही है, इस परिणाम को स्वीकार कर लिया है कि ससार मे कम से कम दो प्रकार की वस्तुएँ हैं अर्थात विशेष, जैसे जोन्स एव स्मिथ, और 'सामान्य' जैसे 'अ–समयपालन' एव 'नैतिक गुण'।

लेकिन तुरन्त ही विसगतियाँ उठ खडी होती हैं। एक सामान्य के लिए यह कहना कि यह धिक्कारने--योग्य है, स्पष्टत मूर्खता होगी। आप ठीक उसी भाँति 'सामान्य की प्रशसा या उस पर दोषारोपण नही कर सकते जिस प्रकार कि आप विषुवद्वृत्त (ईक्वेटर) मे सुराख नही बना सकते। अब जब कि हम यह कहते हैं कि 'अ–समयपालन धिक्कारने योग्य है' तो क्या हम वस्तुत यह मानते हैं कि अ–समयपालन को स्वय पर लज्जित होना चाहिए ?

हमारा जो तात्पर्य है वही निम्न वाक्य का है कि 'जो कोई भी अ–समयपालक है वह अन्य लोगो के द्वारा निन्दा का पात्र है', और यह वाक्य हमारे मन्तव्य को अधिक उपयुक्त रूप में अभिव्यक्त करता है। क्योकि अ–समयपालक व्यक्ति तो निन्दनीय हो सकते हैं, अ–समयपालकता कैसे हो सकती है ? क्योकि व्यक्ति ही अभिकर्त्ता है, यह नही। अब इस नयी अभिव्यक्ति मे कि 'जो कोई भी अ–समयपालक है वह धिक्कारने योग्य है' 'अ–समयपालकता' शब्द '   असमयपालक है' इस विधेय पद के पक्ष मे लुप्त हो गया है। इस प्रकार जब कि

मूल अभिव्यक्ति मे 'अ -समयपालकता' पद एक विशेष्य का वाचक प्रतीत होता था, जिसके लिए कि विशेषण का कथन किया जा रहा था, अब वह एक विशेषण- युक्त होने का वाचक हो जाता है, अर्थात् यह विशेष्य या उद्देश्य न रह कर मात्र विशेषण रह गया है। और हम वस्तुत यही कह रहे हैं कि जो कोई भी इस विशेषण को धारण करेगा वह दूसरे विशेषण का भी धारक होगा।

पुन यह शब्दश सत्य नहीं है कि नैतिक गुण पारितोषक का प्राप्तकर्ता है। सत्य यह है कि जो कोई भी नैतिक-गुण-युक्त है वह उसके द्वारा लाभान्वित होता है। जो कोई भी अच्छा है वह अच्छे होने के कारण कुछ न कुछ प्राप्त करता है । अत मूल कथन 'गुण के बारे में' नही था अपितु अच्छे (गुणवान्) व्यक्तियो के बारे में था, और व्याकरण के उद्देश्य पद का वही तात्पय था जो कि ' गुणवान् है' का है, और इसीलिए वास्तव मे यह एक विधेय पद था, किन्तु यह विधेय नही होने का छद्म कर रहा था।

मुझे इतना विस्तार में जाने की आवश्यकता नही है । यह शब्दश सत्य नही है कि 'ईमानदारी मुझे अमुक कहने को मजबूर करती है' क्योंकि ईमानदारी किसी बलात्कारी अभि-कर्त्ता (कोअर्सिव एजेंसी) का नाम नहीं है। जो सही है वह अधिक अच्छी तरह से यों कहा जा सकता है क्योंकि मैं ईमानदार हूँ, या कि ईमानदार होना चाहता हूँ, इसलिए मुझे ऐसा–ऐसा ही कहना चाहिए [या मैं इस-इस तरह से कहने को बाध्य हूँ]' । 'रग विस्तार का समावेश करता है' का तात्पय है कि 'जो कुछ भी रग-युक्त है वह विस्तृत भी है', 'आशा यदि पूरा न हो तो मन खिन्न हो जाता है' का अथ यह है कि 'जो कोई भी अधिक समय तक अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाता है उसका दिल टूट जाता है।'

यह मेरा स्वय का मत है कि सभी कथन जो 'सामान्यों के बारे मे' होते हैं—एक ही तरह से विश्लेषित किए जा सकते हैं और परिणाम स्वरूप सामान्यपद कभी भी वस्तुत विशेषणों के उद्देश्य के नाम नही हो सकते। अत 'सामान्य' उस रूप में वस्तुएँ नही है जिस प्रकार कि एवरेस्ट पवत एक वस्तु है, और इसीलिए यह प्राचीन प्रश्न कि वे किस प्रकार की वस्तुएँ हैं, एक निरथक प्रश्न रह जाता है। क्योंकि सामान्य सज्ञायें, विशेषण आदि व्यक्तिवाचक सज्ञायें नही होती, इसीलिए हम "समानता", "न्याय" और "प्रगति" जैसी वस्तुओ के बारे मे कुछ कह नहीं सकते।

प्लेटोनी और प्लेटो-विरोधी कथन-वाक्य जैसे 'समानता एक यथाथ सत्ता है' या, 'वह यथाथ सत्ता नहीं है'—तदनुसार समान रूप से भ्रामक हैं और एक साथ ही दो तरह से भ्रामक हैं, क्योंकि वे साथ ही साथ छद्म सत्तापरक कथन भी हैं और प्लेटोनी-कल्प भी।

तथापि यहाँ इस सामान्य प्रतिपादन की रक्षा करने की मेरी कोई इच्छा नही है, वरन् मैं केवल यही प्रदर्शित करना चाहता हूँ कि कुछ अवस्थाओ में वे कथन, जो अपने व्याकरण स्वरूप के कारण यह कथन कर रहे प्रतीत होते हैं कि 'ईमानदारी ने ऐसा–ऐसा किया', या 'समानता इस–इस प्रकार की है', तब वास्तव में हम तकत अनुचित रूप से (जो कि यद्यपि

तुरन्त समझ मे आ जाता है और लाक्षणिक रूप से ठीक होता है) यह कह रहे होते हैं कि 'जो कुछ भी य के बराबर है वह अमुक है' या 'जो भी ईमानदार है वह अमुक प्रकार का होता है।' ये कथन उस बात को खुल्लम-खुल्ला कह देते हैं, जिसे अन्य प्रच्छन्न रूप से कहते हैं, कि यदि किसी मे एक लक्षण विद्यमान है तो आवश्यक रूप से दूसरा लक्षण भी होगा।

निश्चय ही, वह साधारण मनुष्य जो इस प्रकार की प्लेटोनी अभिव्यक्तियो का इस्तेमाल करता है, कोई दार्शनिक भूल नही कर रहा है। वह बिल्कुल भी दार्शनिक क्रिया नही कर रहा है। वह ऐसे प्रकथनो के द्वारा न तो भ्रमित होता है और न ही उनमे निहित भ्रामक छद्म-कथनो पर ध्यान देता है कि वे 'ईमानदारी के बारे मे' या 'प्रगति के बारे में' हैं। वह जानता है कि उसका क्या तात्पर्य है, और बहुत सम्भव है कि वह नये वाक्य मे अपने अभिप्राय के अधिक प्रयुक्त प्रतिपादन को स्वीकार कर लेगा, लेकिन उसके पास अधिक उचित तर्क-रूप की अभिव्यक्ति की इच्छा करने के लिए कोई प्रेरक नही होगा, और न ही उसके पास यह बात मानने के लिए कोई कारण होगा कि यह अधिक उचित है। क्योंकि उसकी रुचि तथ्य के तर्क-रूप को उस विषयवस्तु से पृथक देखने मे नही होती जिसके सम्बन्ध मे कि वह तथ्य होता है। इस प्रकार से उसके लिए किसी चीज को व्यक्त करने का सर्वोत्तम ढङ्ग वह होता है जो सर्वाधिक लाघवपूर्ण, सर्वाधिक सुष्ठु, अथवा सर्वाधिक प्रगल्भ हो, जबकि वे लोग, जो दार्शनिको के समान इस प्रकार के प्रसगो के सम्बन्ध मे साधारणीकरण करते हैं, उन साधारण व्याकरण रचनाओ को तथ्यो के तार्किक रूपो के सकेतक मान लेते हैं जिनमे कि ये तर्क-रूप आकलित होते हैं। और ये सकेतक अधिकाशत भ्रामक होते है।

[३] वर्णनात्मक अभिव्यक्तियाँ और छद्म वर्णनात्मक पद

हम सभी निरन्तर 'अमुक-अमुक' प्रकार की पदावलियो का उपयोग करते हैं। जैसे कि 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उपकुलपति' एव 'विश्व का उच्चतम पर्वत' और इनके इस तरह के तर्क-वाक्यो मे इस प्रकार से निर्देश-विषय होते हैं जैसे 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उपकुलपति लम्बा आदमी है', एव 'मैंने विश्व का उच्चतम पर्वत नही देखा है।'

(अंग्रेजी में) व्यक्तिवाचक वर्णनों (यूनीक डिस्क्रिप्शन्स्) मे 'दि' पद के प्रयोग मे कोई मौलिक भ्रामकता नही है, यद्यपि एक अर्थ मे वे अत्यधिक सघन और सक्षिप्त होती हैं। और दार्शनिक लोग अपने विवरणों मे जो वे इस तरह के विवरणात्मक पदो के तात्पर्य के बारे मे देते हैं—भूल कर सकते हैं और करते हैं। जैसाकि हम देखेंगे भ्रामक ऐसे पद (अंग्रेजी के 'दि' पूर्वक पद) होते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार व्यवहार करते हैं मानो वे एक परक वर्णन थे जो व्यक्तियो की ओर निर्देश कर रहे थे, जबकि वे वस्तुत बिल्कुल भी निर्देश करने वाले पद नही होते। लेकिन इस वर्ग के व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदो की परीक्षा तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि हम यह विचार न कर लें कि प्रामाणिक एक परक वर्णन किस प्रकार निर्देश करते हैं। वर्णनात्मक पद व्यक्तिवाचक सज्ञा नहीं होते, और ये जिस प्रकार से विशेषणो के उद्देश्य (विशेष्य) का निर्देश करते है वह इस कारण से निर्दिष्ट नही होता कि उसका 'विशिष्ट प्रकार का अमुक' (दि सो एण्ड सो) कह कर वर्णन किया जा रहा है, बल्कि

इसलिए क्योंकि यह अद्वितीय विशेषताओं का, जो कि इस वर्णनात्मक पद द्वारा व्यक्त होती हैं अद्वितीय धारक है। यदि टॉमी जोन्स का ज्येष्ठ पुत्र है, तो, 'जोन्स का ज्येष्ठ पुत्र' वाक्यांश टॉमी को व्यक्त करता है, इसलिए नहीं कि कोई (व्यक्ति) या अन्य (व्यक्ति) उसे 'जोन्स का पुत्र' पुकारते हैं वरन् इसलिए कि केवल वही जोन्स का पुत्र भी है और जोन्स के अन्य सभी पुत्रों में सबसे बड़ा है, और अन्य कोई ऐसा नहीं हो सकता। अर्थात् यह वर्णनात्मक पद व्यक्ति-वाचक संज्ञा नहीं है वरन् एक विधेयात्मक पद है जो कि टॉमी के दोनों लक्षणों को निर्दिष्ट करता है, अर्थात् उसके जोन्स का पुत्र होने को और जोन्स के अन्य सभी पुत्रों में ज्येष्ठ होने को। यह टॉमी का केवल इस अर्थ में निर्देश करता है कि टॉमी और केवल टॉमी ही उन लक्षणों को धारण करता है।

इस पद का अर्थ किसी भी प्रकार से "टॉमी" नहीं है। जैसाकि हम देखेंगे, ऐसा मत पूर्णत निरर्थक (अर्थहीन) होगा। इसका वही अर्थ है जो इस विधेयात्मक पद का है ' वह जोन्स का पुत्र भी है और उसके अन्य सभी पुत्रों से बड़ा भी है' और इस प्रकार यह स्वयं भी एक विधेयात्मक पद मात्र है। 'विधेयात्मक पदों से मेरा तात्पर्य कथन के उस अंश से है जिसकी वजह से किसी लक्षण या किन्हीं लक्षणों का उसमें होना व्यक्त किया जाता है। और किसी निश्चित लक्षणों को धारण करने वाला होने का अभिप्राय गुणों के विषयी होने से नहीं है वरन् यह है कि गुणों का कोई विषयी इसको धारण करता है और अन्यों में इसका अभाव रहता है। स्वयं के द्वारा न तो यह विषयी का नामकरण करता है जो लक्षण से युक्त होता है और न ही यह इस तथ्य को आकलित करता है कि कोई विषयी इससे युक्त होता है। वास्तव में यह अपने आप घटित भी नहीं हो सकता, वरन् केवल एक घटक के रूप में, अर्थात् एक सम्पूर्ण कथन में एक विधेयात्मक घटक की भाँति, घटित हो सकता है।

अत इस सम्पूर्ण कथन का कि 'जोन्स के सबसे बड़े पुत्र का विवाह आज हुआ' यह तात्पर्य है कि 'कोई (अर्थात् टॉमी) १ जोन्स का पुत्र है, २ जोन्स के अन्य पुत्रों से बड़ा है (इसे और आगे भी उद्धरित किया जा सकता है), और ३ आज विवाहित हुआ है।

यह सम्पूर्ण कथन तब तक सत्य नहीं हो सकता जब तक कि तीन या अधिक घटक कथन सत्य न हों। लेकिन कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके बारे में १ और २ दोनों सत्य हैं, यह केवल १ और २ के कथन मात्र से प्रमाणित नहीं हो जाता। (कोई भी कथन स्वयं की सत्यता का प्रमाण नहीं हो सकता) परिणामत स्वरूप–निर्धारण करने वाले पद ' जोन्स का सबसे बड़ा पुत्र है' का तात्पर्य न तो टॉमी से इस अर्थ में है कि वह उसका व्यक्तिवाचक नाम है और न ही इस अर्थ में कि यह एक पद है जिसका बोध अपने में इस ज्ञान का समावेश करता है कि टॉमी में यह विलक्षण गुण है। यह टॉमी को केवल इसी अर्थ में निर्दिष्ट करता है कि जिससे उसे भलिभाँति जानने वाले श्रोता पहले से ही जान लेंगे कि टॉमी और केवल टॉमी में ही वास्तव में यह विलक्षण गुण है। लेकिन यह ज्ञान उस जानकारी का भाग नहीं है जो इस कथन को समझने के लिए अपेक्षित है कि 'जोन्स का ज्येष्ठ पुत्र आज विवाहित हुआ।' क्योंकि हम इसके तात्पर्य को बिना यह जाने भी समझ सकते हैं कि टॉमी ही वह ज्येष्ठ पुत्र था या

वह आज विवाहित हुआ था। हमे जो कुछ जानना चाहिए वह इतना ही है कि कोई एक या अन्य का इस प्रकार से स्वरूप निर्धारित होना चाहिए ताकि सम्पूर्ण कथन सत्य हो सके।

एक कथन को समझने के लिए, या यह जानने के लिए कि किसी कथन का क्या तात्पय है यह जानना पर्याप्त नही है कि यह कथन इस तथ्य का आकलन करता है, वरन् यह जानना आवश्यक है कि, यदि यह कथन तथ्य का विवरण हो तब स्थिति क्या होगी। पृथक्कृत व्यक्ति-वाचक नाम अथवा पृथक्कृत एक-परक वर्णन का अर्थ कभी समझा नही जाता। क्योकि या तो हम यह पहले से जानते हैं कि कोई व्यक्ति-विशेष किसी व्यक्ति द्वारा उस नाम से पुकारा जाता है, या यह कि वह उन विशिष्ट लक्षणो से युक्त है जो वर्णनात्मक पद द्वारा व्यक्त किए गये हैं, और इसकी यह अपेक्षा है कि हम नाम या विवरण और उस व्यक्ति--जिसका नाम लिया गया है या जिसका विवरण दिया गया है--दोनो से परिचित हैं। या फिर हम इन चीजो को नही जानते, और उस अवस्था मे हम नही जानते कि क्या यह नाम कल्प-पद कोई नाम है, इसी प्रकार कि यह एक परक विवरण कल्प-पद किसी एक का वर्णन भी करता है ? लेकिन हम उन कथनो को समझ सकते हैं जिनमे नाम कल्प-पद एक परक अनोखे विवरण कल्प-पद आते हैं क्योकि हम यह जान सकते हैं कि क्या अवस्था होगी यदि कोई इस प्रकार पुकारा जाय, या इस प्रकार वर्णित किया जाय, और कथन के विधेयो में व्यक्त लक्षणो से युक्त भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णनात्मक पद सक्षिप्त विधेय पद होते हैं जिनका काय कथनो मे वह घटक होना है या (अधिकाश मे) उन घटको मे से एक होना है (जो कि सरल रूप से यह आकलित करते हैं कि कोई वस्तु किसी लक्षण या लक्षणो से युक्त है) जिनमें कि इस या उस लक्षण के होने को व्यक्त किया जाता है।

और यह सरलता से दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है।

कोई भी ऐसे पद मे जो एक परक (अग्रेजी के 'दि' पद से आरम्भ होने वाला) है जो कि व्याकरण की दृष्टि से स्वभावत वाक्य मे उद्देश्य के रूप मे घटित होता है, जैसे कि, 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उपकुलपति'।

अब हम वर्णनात्मक वाक्याशो को ज्यो का त्यों लेकर उन्हे निर्देश रहित रूप मे कथनो एव अभिव्यक्तियो के व्याकरणीय-विधेयो के रूप मे प्रयुक्त कर सकते हैं। 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का वतमान उप-कुलपति कौन है', 'अमुक श्रीमान् ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वर्तमान उप-कुलपति हैं', 'जार्ज कारपेन्टर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वर्तमान उप-कुलपति नही हैं', 'अमुक श्रीमान् या तो ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के उप-कुलपति हैं या वरिष्ठ प्रॉक्टर हैं', जो कोई भी ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उप-कुलपति है उसे अधिक काम रहता है, आदि' तो अब यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि नकरात्मक, सोपाधिक एव वैकल्पिक कथनो की अवस्थाओ मे--जो इस सामान्य विधेयात्मक पदो से युक्त हैं--यह सन्निहित नही है, या ध्वनित भी नही होता, कि कोई व्यक्ति है जो उप कुलपति के पद को ग्रहण करता है अतएव यहाँ का अद्वितीयता--सूचक पद सर्वथा ही निर्देश शून्य है, वल्कि ऐसे निर्देश का आडम्बर भी इसमें नही है। यह एक अद्वितीयपरक लक्षण

को व्यक्त करता है, लेकिन इसकी यह विवक्षा नहीं है कि कोई इसे धारण करने वाला भी है। यह हमें पुन अपने मूल निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि एक वर्णनात्मक पद का किसी भी अर्थ मे न तो इस व्यक्ति से तात्पर्य है और न उस वस्तु से, या इसे दूसरे रूप मे रखा जाय तो यह है कि हम उस कथन को समझ सकते हैं जिसमे कि वर्णनात्मक पद हो और फिर भी इस या उस गुणो के विषय को नहीं जान सकते है कि यह विवरण इसके लिए उचित है। (हाँ, इस स्थिति के लिए हमे शायद ही विवेचन की आवश्यकता हो। क्योंकि कोई भी–जिसमे बुद्धि के लिए थोडा भी आदर है–किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर इंगित करके स्वप्न मे भी यह कहना नही चाहेगा कि यह अमुक–अमुक पद का तात्पर्य है' या कि अमुक पद का तात्पर्य इन्फ्ल्यूएन्जा से ग्रस्त है।' 'सुकरात एक तात्पर्य है' निरर्थक वाक्य है। पद निर्देश के बारे मे यह सारा झगडा इस धारणा से उत्पन्न होता प्रतीत होता है कि हम किसी वस्तु का वर्णन महत्वपूर्ण ढग से इस प्रकार कर सकते हैं जैसे 'य' पद का तात्पर्य' या जो कुछ भी 'य' पद का तात्पर्य है'। वास्तव मे यह कहा जा सकता है कि एक वर्णनात्मक पद इस व्यक्ति या उस पहाड की ओर निर्देश करता है, या उन्हे अपने मे अन्तर्भूत करता है, और इस मनुष्य या उस पर्वत का इस भाँति वर्णन किया जा सकता है कि जिसकी ओर "य" पद निर्देशित करे। लेकिन इसका मतलब केवल यही होगा कि यह मनुष्य या पर्वत उस लक्षण को धारण करने में अकेले ही हैं जिसका कि 'धारण करना इस विधेयात्मक वाक्यांश मे व्यक्त किया गया है ' ' का अमुक–अमुक')।

यह सब हमे एक और व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदो के वर्ग की ओर ले जाता है। किन्तु वे एकपरक पद जिनका हम अध्ययन कर चुके हैं–चाहे व्याकरण मूलक उद्देश्य के रूप मे आये हों या कथनो मे विधेयो के रूप मे आकारत भ्रामक नहीं थे। उन वाक्यो की व्याकरण रचना मे कोई भी ऐसी बात नहीं थी जिसमे यह ध्वनित होता है कि आकलित तथ्य उस तार्किक रचना से भिन्न थे जिससे वे वास्तव में युक्त थे।

पिछला तर्क कतिपय यथार्थ या सम्भाव्य दार्शनिक भ्रान्तियो की आलोचना के लिए अभिप्रेत था, किन्तु वे भ्रान्तियाँ वर्णनात्मक पदों के बारे मे थी न कि वर्णनात्मक पदों की स्वय की भ्रामकता के कारण। स्थूल रूप से, वे भ्रान्तियाँ जिनको मैं दूर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ ये मत है १ कि वर्णनात्मक पद व्यक्तिवाचक संज्ञायें हैं, और २ कि वह वस्तु-जिसका कि एक वर्णन निरूपण करता है, वही है जो वर्णन द्वारा अभिप्रेत है। अब मैं दीर्घ अवान्तर चर्चा के बाद अपने प्रस्तुत विषय की ओर लौटूंगा और व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदो के एक अन्य वर्ग पर विचार करूँगा।

व्यवस्थित रूप से भ्रामक छद्म निर्देशात्मक एक–परक पद

१ साधारण भाषा–प्रयोग मे बार–बार ऐसे पद मिलते हैं–जो यद्यपि प्रकटत एक-परक होते हैं तथापि वे वास्तव मे अद्वितीय निर्देशात्मक नही होते, हालांकि उनकी व्याकरण रचना से ऐसा दिखाई पडता है मानो वे अद्वितीय विवरण हो। वह व्यक्ति–जिसका अमूर्ति-

करण या सामान्यीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है—इनका प्रयोग बिना किसी दुविधा या भ्रान्ति के करता है और बिल्कुल ठीक तरह से जानता है कि उन वाक्यों का क्या तात्पर्य है जिनमे वे घटित होते हैं। लेकिन दार्शनिक को उनका पुनर्कथन बिल्कुल भिन्न एव औपचारिक रूप से अधिक सयत शब्दों मे करना पड़ता है यदि वह फँसना नही चाहता है तो।

जब एक वर्णनात्मक पद किसी वाक्य के व्याकरण परक उद्देश्य के रूप मे औपचारिक रूप से अभ्रामक तरीके से प्रयुक्त होता है—जैसे 'राजा आज शिकार खेलने गया'—तो हम जानते हैं कि यदि यह पूरा का पूरा कथन ही सत्य (या असत्य भी) हो तो कम से कम विश्व मे एक व्यक्ति होना चाहिए जिसकी ओर यह विवरण—'वह राजा'—निर्देश करता है या जिसके लिए प्रयुक्त होता है। और हम सार्थक रूप से यह पूछ सकते हैं कि 'राजा कौन है ?' और कि 'क्या वेल्स के राजकुमार का पिता एव वह राजा एक ही व्यक्ति है ?

लेकिन हम देखेंगे कि साधारण बोल—चाल की भाषा मे 'वह अमुक—अमुक' प्रकार के छद्म वर्णनात्मक पद जिनके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि विश्व मे कोई भी और कुछ भी ऐसा नही होता जिसका उस रूप मे वर्णन किया जा सके, जिसे वह निर्देशित करता है या जिसके लिए प्रयुक्त होता है, और इस तरह यह कि कुछ भी (वस्तु) या कोई भी (व्यक्ति) ऐसा नहीं है जिसके बारे मे हम यह पूछ भी सकें कि 'क्या यह वह अमुक—अमुक है ?' या कि कि 'क्या वह और वह अमुक—अमुक एक ही व्यक्ति है ?'

यह अनेक प्रकार से हो सकता है। पहले यह कथन लीजिए, जो सत्य है और स्पष्टत बुद्धिगम्य है, 'पाइनकैर फ्रान्स का राजा नही है'। प्रथम दृष्टि मे यह कथन आकारत इसके समान दिखाई देता है कि 'टॉमी जोन्स इग्लैण्ड का राजा नही है (अर्थात् उससे अभिन्न नही है)।' परन्तु इन दोनो का भेद शीघ्र ही प्रकट हो जाता है। क्योंकि यदि उत्तरवर्त्ती कथन सत्य हो तो इसका विपर्यय 'इग्लैण्ड का राजा टॉमी जोन्स नहीं है' सत्य होना चाहिए। यह कहना न तो सत्य है और न असत्य कि 'फ्रान्स का राजा पाइनकैर नही है' क्योंकि फ्रान्स का कोई भी राजा नही है। [अर्थात् वहाँ यह पद नही है] और 'फ्रान्स का राजा पद किसी के लिए भी उचित नहीं है', और न ही उस साधारण व्यक्ति ने, जिसने यह कहा था कि 'पाइनकैर फ्रान्स का राजा नही है' इस विपर्यय पद को सोचा था। अतएव उक्त कथन मे 'फ्रान्स का सम्राट' अन्य कथनो के 'इग्लैण्ड का राजा' के सदृश नही है। इसे वस्तुत किसी व्यक्ति विशेष के अद्वितीय परक वर्णन के लिए या, उसका निर्देश करने के लिए, बिल्कुल भी प्रयुक्त नही किया गया है।

अब हम तुलना किए गए वाक्यो की इस प्रकार पुनर्रचना कर सकते हैं जो कि उस अन्तर को उदघटित कर दे जिसे प्रथम तर्क वाक्यो ने आकलित तथ्यो के आकारो के बीच मे छिपा दिया था।

'टॉमी जोन्स वही व्यक्ति नही है जो कि इग्लैण्ड का राजा है' का वही तात्पर्य है जो इस कथन का है '१ कोई एक, जो अविशेषित है, और केवल एक ही टॉमी जोन्स कहलाता है, २ कोई व्यक्ति और केवल एक ही व्यक्ति, इग्लैण्ड में राज्य—शक्ति सयुक्त है, और

२ कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो एक साथ ही टॉमी जोन्स भी हो और इंगलैण्ड का सम्राट भी हो।' इस प्रकार मूल कथन तब तक सत्य नहीं हो सकता जब तक कि १ और २ सत्य न हों।

अब इसे लीजिए कि "पाइनकैर फ्रान्स का राजा नहीं है।" इसका वही तात्पर्य होगा जो इसका होगा कि '१ कोई एक व्यक्ति पाइनकैर कहलाता है और २ पाइनकैर को फ्रान्स के राजा का पद प्राप्त नहीं है।' और यह इसका कदापि समावेश नहीं करता कि किसी को भी यह पद प्राप्त है [और इससे यह भी व्यक्त नहीं होता कि किसी को भी यह पद प्राप्त है]।

कभी-कभी यह एक परक पदों का दुहरा प्रयोग—अर्थात् निर्देश नहीं करने वाला प्रयोग हमारे सामान्य भाषा-प्रयोग मात्र में असुविधाजनक हो जाता है। 'स्मिथ ही अकेला वह आदमी नहीं है जो कभी मान्ट ब्लैंक पर चढ़ा हो' का तात्पर्य किसी व्यक्ति द्वारा आसानी से यह लिया जा सकता है, जो इस वाक्य का अर्थ है कि 'एक व्यक्ति और केवल एक व्यक्ति ही मान्ट ब्लैंक पर चढ़ पाया है, और वह स्मिथ नहीं है, और दूसरों द्वारा यह कि स्मिथ मान्ट ब्लैंक पर चढ़ पाया है, किन्तु कम से कम एक और व्यक्ति भी ऐसा कर पाया है।' लेकिन मुझे ऐसे पदों की आकस्मिक संदिग्धता में रुचि नहीं है वरन् इस तथ्य में है कि एक इस प्रकार का पद जिसका प्रयोग वस्तुतः निर्देश करने के लिए नहीं किया गया था, इस प्रकार से भी समझा जा सकता है मानो इसका प्रयोग अनिवार्यतः निर्देश करने के लिए ही किया जा सकता है या मानो कोई भी एक परक पद निर्देश करने के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है। दार्शनिक एवं वे अन्य लोग जिन्हें अमूर्तिकरण एवं सामान्यीकरण करना पड़ता है, दो प्रकार के एक-परक पदों में शाब्दिक अनुरूपता के कारण पथभ्रष्ट हो जाया करते हैं क्योंकि उन्हें यह दिखाने के लिए कि प्रस्तुत एक-परक पद किसका निर्देश करता है, वस्तुओं को गढ़ना पड़ता है।

अब हम सबसे पहले ऐसे पदों पर विचार करेंगे जैसे 'उस पेड़ की चोटी' या 'उस झाड़ी का मध्यभाग' जो कि इस प्रकार के कथनों में घटित होते हैं जैसे 'एक उल्लू उस झाड़ी के मध्य से होकर गुजर गया।' ये कथन बिल्कुल स्पष्ट (असंदिग्ध) हैं और उस बात को स्पष्टतया और सही ढंग से व्यक्त कर देते हैं जिसे इनके द्वारा व्यक्त करना अभिप्रेत है।

परन्तु चूँकि इनकी वाक्य रचना 'एक व्यक्ति उप-कुलपति के पास बैठा है' और 'मेरा तीर परदे में होकर गुजर गया' वाक्यों के अनुरूप है और पुनः चूँकि एक कितनी भी बड़ी सूची बनाई जा सकती है जिससे 'उस पेड़ की चोटी' और 'उस झाड़ी का केन्द्र', के समान एक-परक पद हों, इसलिए उन व्यक्तियों का इस बात को मानने के या विश्वास करने के प्रलोभन से बचना बहुत कठिन हो जायगा कि ये एक परक पद ठीक उसी प्रकार वस्तुओं का निर्देश करते हैं। जिस प्रकार कि 'वह उप-कुलपति' और 'वह पर्दा' वस्तुओं का निर्देश करते हैं। और इसका अर्थ यह मानना या विश्वास करना हो जायगा कि 'उस पेड़ की चोटी' भी 'उस उप-कुलपति' की भाँति ही विशेषणों का उचित विशेष्य है।

परन्तु (उस अवस्था को छोड़ कर जहाँ कि पद का दुरुपयोग 'वह सबसे ऊँची शाखा'

या 'उस पेड की सबसे ऊँची पत्ती' पदो मे किया गया हो) यह सहज ही मालूम पड जाता है कि 'उस पेड की चोटी' किसी भी वस्तु का निर्देश नही कर रहा है। विश्व मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसके लिए यह कह सकना सत्य (या असत्य ही) हो कि 'वह अमुक–अमुक पेड की चोटी है।' उदाहरण के लिए, यह पेड के किसी भाग का निर्देश नही करता, क्योंकि न तो इसे काटकर जलाया जा सकता था, या एक गुल–दस्ते में रक्खा जा सकता था। 'वह पेड की चोटी' पद किसी भी वस्तु को निर्दिष्ट नहीं करता अपितु यह एक विशेषण को व्यक्त करता है—अर्थात् एक सापेक्ष स्थिति रखने को—जब यह इस आकृति के कथनो मे घटित होता है जैसे ''य' पेड की चोटी पर या उसके समीप या उसके ऊपर या उसके नीचे है।' इसे यदि अपरिष्कृत रूप मे रखा जाय तो इसका अर्थ है कि यह किसी वस्तु को निर्दिष्ट नही करता अपितु किसी वस्तु के किसी विशेष स्थान पर होने को व्यक्त करता है, या फिर किसी वस्तु को व्यक्त नहीं करता अपितु किसी वस्तु के स्थान को व्यक्त करता है जैसे कि किसी शाखा या पत्ती के स्थान को, जो कि पेड की अन्य शाखाओ या पत्तियो से ऊँची है। परिणामत यह कहना सार्थक है कि अब एक शाखा और अब दूसरी शाखा पेड पर सबसे ऊपर है। परन्तु 'पेड की चोटी पर' का तात्पर्य इससे अधिक नही है कि यह 'पेड के अन्य सभी हिस्सो से ऊँची' है और इस अन्तिम पद को कोई भी 'वह वर्तमान उप-कुलपति है' के समान निर्देश करने वाले पद के रूप मे नही लेगा।

किसी वस्तु का स्थान या उसका विवरण वस्तु नहीं है वरन् इस तथ्य का अन्तिम छोर है कि कुछ वहाँ है। 'जहाँ मधुमक्खी मधुपान करती है वही मैं मधुपान करता हूँ' किन्तु यह तो रामपण्य पुष्प है जो मधुमय है उसकी स्थिति विशेष्य नही। इन सबका यही मतलब है कि यद्यपि हम छद्म–वर्णनात्मक पदो का प्रयोग यह व्यक्त करने के लिए कि कोई वस्तु कहाँ है, कर सकते हैं तथापि हमे यह जान लेना चाहिए कि 'कोई वस्तु वहाँ है' यह उस वस्तु का सम्बन्ध मूलक लक्षण है न कि स्वय मे विशेष्य वस्तु।

मुझे लगता है कि बहुत सी देकार्तीय और शायद न्यूटन की भी, देश और काल सम्बन्धी घोर भूलें एक-परक पदो के व्यवस्थित रूप से भ्रामक लक्षण के कारण जिन्हे हम वस्तुओ के काल और स्थान निर्धारण के लिए प्रयुक्त करते हैं, जैसे 'य द्वारा अध्युषित स्थान' 'व द्वारा अनुसरित मार्ग', 'वह क्षण या समय जिस पर ज घटित हुआ है', उत्पन्न होते हैं। यह नही समझा गया कि ये तो पीछे लटके हुए विधेय पद हैं और साधारण तौर पर भी इन्हे ऐसे वर्णनात्मक पद नही माना है जिनका प्रयोग निर्देश करने के लिए किया जाता है, ठीक उसी प्रकार कि 'पाइनकँर फान्स का राजा नही हैं' मे 'फान्स का राजा' को साधारणत या ऐसे समझा जाता है मानो यह निर्देश करने के लिए प्रयुक्त एक-परक पद हो।

एक और उदाहरण लें। 'अस्पताल जाने के विचार से जोन्स को घृणा है' 'अभी–अभी मुझे विचार आया कि छुट्टी मनानी चाहिए।' इन छद्म–वर्णनात्मक पदो से ध्वनित होता है कि विश्व मे एक वस्तु है जो वही है जो कि 'अस्पताल जाने के विचार' पद से निर्दिष्ट होती है और एक दूसरी है जो 'छुट्टी होने का विचार' से निर्दिष्ट होती है। और इस भाँति किसी

हद तक इस तरह के पद की प्रकट व्याकरण–रचना के कारण दार्शनिकों ने ठीक श्रद्धाभाव से 'प्रत्ययों', धारणाओं', एव 'विचारों' अथवा 'निर्णयों' में विश्वास कर लिया जिस प्रकार उनके पूर्वजों ने (समान कारणों से) आकारों की ठोस सत्ता मे कर लिया था, या जैसे बच्चे समान कारणों से विषुवद्‌वृत्त, आकाश और उत्तरी ध्रुव मे विश्वास करते हैं।

लेकिन यदि हम इन्हे दूसरे शब्दो मे कहें तो इन पदों का कुछ भी साक्ष्य लॉक की राक्षसी विद्या के पक्ष मे नहीं होगा। क्योंकि 'अस्पताल जाने के विचार से जोन्स को घृणा है' का केवल वही तात्पर्य है जो इसका है कि 'जोन्स को दुःख अनुभव होता है जब वह यह सोचता है कि अस्पताल जाने पर उस पर क्या बीतेगी।' अब यहाँ वाक्यांश ' का विचार' 'जब कभी भी वह (उसके बारे मे) विचारता है तो ' मे रूपान्तरित हो जाता है जो कि जोन्स और शायद अस्पताल के अतिरिक्त किसी भी अन्य सत्ता का निर्देश रखता हुआ प्रतीत भी नहीं होता। और इसकी सत्यता के लिए विश्व मे एक जोन्स होना चाहिए जो कभी विचार कर रहा हो और कभी सो रहा हो, परन्तु इसके लिए 'जोन्स' और 'अमुक–अमुक का विचार या प्रत्यय' दोनों को रखना उसी प्रकार आवश्यक नही है जिस प्रकार यह कि इसमे कोई 'जोन्स' कहलाने वाला और कुछ वह जिसे निद्रा कहा जाता है, दोनो विद्यमान हो।

इसी प्रकार यह कथन कि 'छुट्टी लेने का विचार मुझे अभी आया है' व्याकरण की दृष्टि से इस कथन के सदृश दिखाई देता है कि 'उस कुत्ते ने मुझे अभी काटा है।' और क्योंकि यदि बाद का कथन सत्य है तो विश्व में मैं और कुत्ता दोनो विद्यमान होने चाहिएँ, इसलिए यह दिखाई देता है कि यदि पहला कथन सत्य है तो विश्व मे मैं और 'छुट्टी लेने का विचार' दोनों भी विद्यमान होने चाहिए। लेकिन यह प्रतीति भ्रममात्र है क्योंकि जब मैं कुत्ते के विरुद्ध अपनी शिकायत किसी भी ऐसे वाक्य द्वारा दूसरे शब्दों मे व्यक्त नही कर सकता जिसमें कि कोई ऐसा वर्णनात्मक पद न हो जो कुत्ते को निर्दिष्ट करता हो, मैं 'छुट्टी लेने के विचार' के बारे मे कथन को आसानी से ऐसे वाक्यों में व्यक्त कर सकता हूँ जिसमे एतद्विषयक वर्णनपद घटित न हो, उदाहरण के लिए, इस कथन में कि 'मैं अभी सोच ही रहा हूँ कि मैं एक छुट्टी ले सकता हूँ।'

स्वय तर्क-शास्त्र और ज्ञान–मीमासा मे इसी प्रकार की बहुत सारी त्रुटियाँ छद्म-वर्णनात्मक पद '"प" पद के अर्थ' के विवेचन मे भूल के कारण हुई हैं। मुझे सन्देह है कि कल्पनाओं, प्रत्ययों, पदों, निर्णयों, वस्तुनिष्ठ–तर्कवाक्यों, अर्थों, उद्देश्यों आदि के गलत सिद्धान्त इस प्रकार की भ्रान्ति से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् [इससे कि] कुछ वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो ऐसे पदों द्वारा निर्दिष्ट होती है, जैसे '"य" शब्द पद का अर्थ', और यह वस्तु उस सिपाही के सर्वाङ्ग सम होनी चाहिए जो कि इस कथन मे कि 'हमारे गाँव का सिपाही फुटबॉल का शौकीन है'—तद्विषयक वर्णनात्मक पद द्वारा निर्दिष्ट होता है। और इस भ्रान्ति से निकलने का उपाय यह देखने मे है कि कतिपय एकपरक वाक्यांश निर्देश करने वाले वर्णनात्मक वाक्यांशों के अनुरूप व्याकरण की दृष्टि से तो होते हैं किन्तु क्रिया (व्यापार) मे नहीं। उदाहरणार्थ, उस अवस्था मे जिसका हम अध्ययन कर रहे हैं "य" का अर्थ' 'पाइनकॅर फान्स का

राजा नही है' वाक्य मे–'फ्रान्स का राजा' पद के समान है, जो कि एक वर्णनात्मक पद है जिसका उपयोग निर्देश करने के लिए नही किया गया है।

श्रौर, निश्चय ही साधारण मनुष्य जब ऐसे कथन वाक्यो का प्रयोग करता है जिनमे कि ऐसे पद होते हैं जैसे '"य" का अर्थ' तब इस भ्रम मे नही होता कि कोई ऐसी विचित्र वस्तु है जिसका कि इस वाक्य मे निर्देश किया जा रहा है यह उसके मस्तिष्क मे नही आता कि उसके पद को निर्देश करने वाले वर्णनात्मक पद के रूप मे समझ लिया जायेगा। अत वह दार्शनिक त्रुटि या भ्रम का दोषी नही होता। फिर भी उसके शब्दो का रूप व्यवस्थित रूप से भ्रामक है। क्योकि एक तार्किक आकार का महत्वपूर्ण भेद व्याकरण की दृष्टि से–'गाँव का सिपाही विश्वसनीय है' और '"ष" का अर्थ सन्देहास्पद है'—इन दोनो की अनुरूपता के कारण छुप जाता है, या पुन इन दोनो मे कि 'मैं अभी–अभी गाँव के सिपाही से मिला हूँ' और कि 'मैं अभी–अभी "य" का अर्थ समझा हूँ।'

परिणामत —क्योकि ऐसी कोई वर्ण्य वस्तु नही है जो 'य का अर्थ' पद से निर्देशित की जाती हो इसलिए इस प्रकार की वस्तुओ के अस्तित्व के स्वरूप के बारे मे प्रश्न निरर्थक हैं। यह विवेचन करना कि शब्दो (अर्थात् 'सकल्पनाओ या 'सामान्यो') के अर्थ आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, या वाक्यो अर्थात् 'निर्णयो' या 'उद्देश्यो' के अर्थ आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, उतना ही व्यर्थ होगा जितना कि यह विवेचन करना कि विषुवद्‌वृत्त या आकाश आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, क्योकि ये प्रश्न स्वय ही किसी भी वस्तु के बारे मे नही हैं।

किन्तु यह सब हमे उन वाक्यो का बुद्धिमत्तापूर्वक और बोधगम्य रूप से प्रयोग करने से नही रोकता जिनमे कि '"य" का अर्थ' जैसे पद हो और जहाँ कि इनकी इस प्रकार पुन रचना की जा सके जैसे '"य" से क्या तात्पर्य है ?' क्योकि यहाँ एकपरक विधेयात्मक रूप से प्रयुक्त हुआ है, एक अद्वितीयपरक की भाँति नही। '"य" का अर्थ "व" के अर्थ के समान है' इस कथन के बराबर है कि '"य" से वही अभिप्रेत है जो "व" से है और इसे सत्ताओ को बढाने के प्रलोभन बिना समझा जा सकता है।

किन्तु अन्तत यह तर्क विशिष्ट प्रकार के छद्म वर्णनो के बारे मे है।

२ एकपरक पदो के प्रयोग का एक और वर्ग भी है जो दार्शनिक रूप से अशुद्ध रचनाओ को उत्पन्न कर सकने मे समर्थ है, हालाँकि मैं निश्चित नही हूँ कि मैं किन्ही भी ऐसी वास्तविक त्रुटियो के अच्छे उदाहरणो को याद कर सकता हूँ जो इस स्रोत से उद्भूत हुए हो।

मानलो मैं कहता हूँ कि 'मजदूर दल की हार ने मुझे आश्चर्यान्वित किया है', तो इस कथन की पुन रचना इस वाक्य द्वारा की जा सकती है कि 'यह तथ्य कि मजदूर दल हरा दिया गया है, और मैं आश्चर्यान्वित हूँ कि यह हार गया है।' यहाँ एकपरक पद किसी वस्तु की ओर निर्देश नहीं करता अपितु किसी के किसी प्रकार का होने का सक्षिप्त कथन करता है। और यह प्रचलित एव सुविधाजनक मुहावरा है। हम हमेशा यह कहने की बजाय कि 'चूँकि अ ब है, अत स द है' यह कह सकते हैं कि 'स का द पन, अ के ब पन के कारण है।'

'सर्दी की अधिकता गोभी के ऊँचे भाव के लिए जिम्मेदार है' का वही तात्पय है जो इसका है कि 'गोभी बहुत मँहगी है क्योंकि सर्दी कडाके की थी।'

लेकिन यदि मैं कहूँ कि 'मजदूर दल की हार १९३१ मे हुई' तो मेरा एकपरक पद एक घटना का वर्णन करने के लिए निर्देश करने वाले पद की तरह प्रयुक्त हुआ है, किसी तथ्य के सक्षिप्त आकलन के रूप मे नही। क्योकि घटनाएँ समय विशेष पर घटित होती है, तथ्य समय विशेष मे घटित होते, इसलिए व्याकरण की दृष्टि से समान दीखने वाले कथनो—'मजदूर दल की हार ने मुझे आश्चर्यान्वित किया' एव 'मजदूर दल की हार १९३१ में हुई'—मे जो तथ्य आकलित किए गए हैं वे तार्किक आकार मे बिल्कुल भिन्न हैं। और ये दोनो प्रकार के ही तथ्य स्वभाव मे इस तीसरे तथ्य से बिल्कुल भिन्न हैं जो इस वाक्य मे आकलित किया गया है कि 'मजदूर दल की जीत ने मुझे आश्चर्यान्वित किया होता।' क्योकि यह न तो किसी घटना को निर्दिष्ट करता है, और न ही इस तथ्य का आकलन करता है कि मजदूर दल जीता था, वरन् कहता है कि 'यदि मज़दूर दल जीत गया होता तो मुझे आश्चर्य हुआ होता।' अतएव यहाँ एकपरक पद भूमिकात्मक है। और एक बार फिर, ये एकपरक पदो के तीनो ही प्रयोगो के अर्थ प्रकारत इससे भिन्न हैं कि आगे के चुनाव मे 'अनुदार दल की हार हो सकती है', या 'सम्भव' या असम्भव है। क्योकि इनका तात्पय है कि 'प्राप्त सम्बद्ध आँकडे इसके पक्ष मे हैं' या 'इससे असङ्गत नही हैं' या 'इससे असगत हैं' कि अनुदार दल की हार अगले चुनावो मे हो सकती है।

इस प्रकार से कम से कम ये चार प्रकार के तथ्य हैं जिन्हें साधारण भाषा-प्रयोग में आसानी से और उपयुक्त रूप से कथनो मे आकलित किया जा सकता है जिनमें व्याकरण की दृष्टि से भेद रहित एकपरक पद हो। परन्तु उन्हें इस प्रकार के शब्दो द्वारा दोहराया जा सकता है जो अपनी स्वय की विशेष व्याकरण सम्बन्धी रचना द्वारा विभिन्न प्रकार के आकलित तथ्यों की अनेक तार्किक सरचनाओं को प्रदर्शित नहीं करते हैं।

३ अन्त में मुझे व्यवस्थित रूप से भ्रामक एकपरक पद के एक और वग का केवल मात्र वर्णन करना चाहिए। हम कह सकते हैं कि 'ह्वेल एक मछली नही है—अपितु स्तनपायी है' और 'सच्चा अग्रेज दूषित खेल को नापसन्द करता है' तथ्यो का अकालन करते हैं। लेकिन ये कथन 'इस ह्वेल' का या 'उस अग्रेज' के बारे में नही है, और वे तब भी सत्य हो सकते हैं यदि कोई भी ह्वेल नही होती या सच्चे अग्रेज नहीं होते। शायद, ये छद्मवेषी प्राक्कल्पनात्मक कथन हैं। परन्तु मैं जो बताना चाहता हूँ वह यह है कि कथन स्पष्टत छद्म-वेषी है।

मैंने इन तीन मुख्य प्रकार के व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों का चयन इसलिए किया है क्योंकि ये सभी समान रूप से किसी न किसी दिशा में भ्रामक हैं। ये सभी नये प्रकार की वस्तुओं के अस्तित्व को सुझाते हैं, या यदि इसे दूसरी तरह से कहा जाय तो यह कहा जायगा कि ये सभी हमें 'सत्ताओं को बढ़ाने' का प्रलोभन देते हैं। प्रत्येक में—छद्म सत्तात्मक, छद्म प्लेटोनीय और छद्म वर्णनात्मक पदो मे—एक पद का अशुद्ध अर्थ किसी वस्तु को व्यक्त करने

राजा नही है' वाक्य मे–'फ्रान्स का राजा' पद के समान है, जो कि एक वर्णनात्मक पद है जिसका उपयोग निर्देश करने के लिए नही किया गया है।

और, निश्चय ही साधारण मनुष्य जब ऐसे कथन वाक्यो का प्रयोग करता है जिनमे कि ऐसे पद होते हैं जैसे '"य" का अर्थ' तब इस भ्रम मे नही होता कि कोई ऐसी विचित्र वस्तु है जिसका कि इस वाक्य मे निर्देश किया जा रहा है यह उसके मस्तिष्क मे नही आता कि उसके पद को निर्देश करने वाले वर्णनात्मक पद के रूप मे समझ लिया जायेगा। अत वह दार्शनिक त्रुटि या भ्रम का दोषी नही होता। फिर भी उसके शब्दो का रूप व्यवस्थित रूप से भ्रामक है। क्योकि एक तार्किक आकार का महत्वपूर्ण भेद व्याकरण की दृष्टि से–'गाँव का सिपाही विश्वसनीय है' और '"य" का अर्थ सन्देहास्पद है'—इन दोनो की अनुरूपता के कारण छुप जाता है, या पुन इन दोनो मे कि 'मैं अभी–अभी गाँव के सिपाही से मिला हूँ' और कि 'मैं अभी–अभी "य" का अर्थ समझा हूँ।'

परिणामत —क्योकि ऐसी कोई वर्ण्य वस्तु नही है जो 'य का अर्थ' पद मे निर्देशित की जाती हो इसलिए इस प्रकार की वस्तुओ के अस्तित्व के स्वरूप के बारे मे प्रश्न निरर्थक हैं। यह विवेचन करना कि शब्दो (अर्थात 'सकल्पनाओ या 'सामान्यो') के अर्थ आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ, या वाक्यो अर्थात् 'निर्णयो' या 'उद्देश्यों' के अर्थ आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, उतना ही व्यर्थ होगा जितना कि यह विवेचन करना कि विषुवद्‌वृत्त या आकाश आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, क्योकि ये प्रश्न स्वय ही किसी भी वस्तु के बारे मे नही हैं।

किन्तु यह सब हमें उन वाक्यो का बुद्धिमत्तापूर्वक और बोधगम्य रूप से प्रयोग करने से नही रोकता जिनमे कि '"य" का अर्थ' जैसे पद हो और जहाँ कि इनकी इस प्रकार पुन रचना की जा सके जैसे '"य" से क्या तात्पर्य है ?' क्योकि यहाँ एकपरक विधेयात्मक रूप से प्रयुक्त हुआ है, एक अद्वितीयपरक की भाँति नही। '"य" का अर्थ "व" के अर्थ के समान है' इस कथन के बराबर है कि '"य" से वही अभिप्रेत है जो "व" से है और इसे सत्ताओं को बढाने के प्रलोभन बिना समझा जा सकता है।

किन्तु अन्तत यह तर्क विशिष्ट प्रकार के छद्म वर्णनो के बारे मे है।

२ एकपरक पदो के प्रयोग का एक और वर्ग भी है जो दार्शनिक रूप से अशुद्ध रचनाओ को उत्पन्न कर सकने मे समर्थ है, हालांकि मैं निश्चित नही हूँ कि मैं किन्ही भी ऐसी वास्तविक त्रुटियो के अच्छे उदाहरणो को याद कर सकता हूँ जो इस स्रोत से उद्भूत हुए हो।

मानलो मैं कहता हूँ कि 'मजदूर दल की हार ने मुझे आश्चर्यान्वित किया है', तो इस कथन की पुन रचना इस वाक्य द्वारा की जा सकती है कि 'यह तथ्य कि मजदूर दल हरा दिया गया है, और मैं आश्चर्यान्वित हूँ कि यह हार गया है।' यहाँ एकपरक पद किसी वस्तु की ओर निर्देश नही करता अपितु किसी के किसी प्रकार का होने का सक्षिप्त कथन करता है। और यह प्रचलित एव सुविधाजनक मुहावरा है। हम हमेशा यह कहने की बजाय कि 'चूँकि अ ब है, अत स द है' यह कह सकते हैं कि 'स का द पन, अ के ब पन के कारण है।'

'सर्दी की अधिकता गोभी के ऊँचे भाव के लिए जिम्मेदार है' का वही तात्पय है जो इसका है कि 'गोभी बहुत मँहगी है क्योंकि सर्दी कडाके की थी।'

लेकिन यदि मैं कहूँ कि 'मजदूर दल की हार १६३१ मे हुई' तो मेरा एकपरक पद एक घटना का वर्णन करने के लिए निर्देश करने वाले पद की तरह प्रयुक्त हुआ है, किसी तथ्य के सक्षिप्त आकलन के रूप में नही। क्योकि घटनाएँ समय विशेप पर घटित होती है, तथ्य समय विशेष मे घटित होते, इसलिए व्याकरण की दृष्टि से समान दीखने वाले कथनो—'मजदूर दल की हार ने मुझे आश्चर्यान्वित किया' एव 'मजदूर दल की हार १६३१ मे हुई'—मे जो तथ्य आकलित किए गए हैं वे तार्किक आकार में बिल्कुल भिन्न हैं। और ये दोनो प्रकार के ही तथ्य स्वभाव मे इस तीसरे तथ्य से बिल्कुल भिन्न हैं जो इस वाक्य में आकलित किया गया है कि 'मजदूर दल की जीत ने मुझे आश्चर्यान्वित किया होता।' क्योकि यह न तो किसी घटना को निर्दिष्ट करता है, और न ही इस तथ्य का आकलन करता है कि मजदूर दल जीता था, वरन् कहता है कि 'यदि मजदूर दल जीत गया होता तो मुझे आश्चर्य हुआ होता।' अतएव यहाँ एकपरक पद भूमिकात्मक है। और एक बार फिर, ये एकपरक पदो के तीनो ही प्रयोगो के अर्थ प्रकारत इससे भिन्न हैं कि आगे के चुनाव मे 'अनुदार दल की हार हो सकती है', या 'सम्भव' या असम्भव है। क्योकि इनका तात्पर्य है कि 'प्राप्त सम्बद्ध आँकडे इसके पक्ष मे हैं' या 'इससे असङ्गत नही हैं' या 'इनसे असगत हैं' कि अनुदार दल की हार अगले चुनावो मे हो सकती है।

इस प्रकार से कम से कम ये चार प्रकार के तथ्य हैं जिन्हें साधारण भाषा-प्रयोग में आसानी से और उपयुक्त रूप से कथनो में आकलित किया जा सकता है जिनमे व्याकरण की दृष्टि से भेद रहित एकपरक पद हो। परन्तु उन्हें इस प्रकार के शब्दो द्वारा दोहराया जा सकता है जो अपनी स्वय की विशेष व्याकरण सम्बन्धी रचना द्वारा विभिन्न प्रकार के आकलित तथ्यों की अनेक तार्किक सरचनाओं को प्रदर्शित नही करते हैं।

३ अन्त में मुझे व्यवस्थित रूप से भ्रामक एकपरक पद के एक और वर्ग का केवल मात्र वर्णन करना चाहिए। हम कह सकते हैं कि 'ह्वेल एक मछली नही है—अपितु स्तनपायी है' और 'सच्चा अग्रेज दूषित खेल को नापसन्द करता है' तथ्यो का अकालन करते हैं। लेकिन ये कथन 'इस ह्वेल' का या 'उस अग्रेज' के बारे मे नहीं है, और वे तब भी सत्य हो सकते हैं यदि कोई भी ह्वेल नहीं होती या सच्चे अग्रेज नहीं होते। शायद, ये छद्मवेपी प्राक्कल्पनात्मक कथन हैं। परन्तु मैं जो बताना चाहता हूँ वह यह है कि कथन स्पष्टत छद्म-वेपी है।

मैंने इन तीन मुख्य प्रकार के व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों का चयन इसलिए किया है क्योंकि ये सभी समान रूप मे किसी न किसी दिशा में भ्रामक हैं। ये सभी नये प्रकार की वस्तुओं के अस्तित्व को सुझाते हैं, या यदि इसे दूसरी तरह से कहा जाय तो यह कहा जायगा कि ये सभी हमे 'सत्ताओ को बढाने' का प्रलोभन देते हैं। प्रत्येक में—छद्म सत्तात्मक, छद्म प्लेतोनीक और छद्म वर्णनात्मक पदो में—एक पद का अशुद्ध अर्थ किसी वस्तु को व्यक्त करने

के लिए कर लिया जाता है जब कि वास्तव मे वह पद किसी वस्तु को व्यक्त नही करता, लेकिन केवल व्याकरण की दृष्टि से उन पदो के जैसा प्रतीत होता है जिन्हे किसी वस्तु को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है । अत मेरे मत मे ओकम का नुस्खा यह था कि 'उन सभी पदो को, जो व्याकरण की दृष्टि से व्यक्तिवाचक सज्ञाओ, या निर्देश करने वाले एकपरक पदो जैसे हैं ऐसे मत प्रयुक्त करें मानो वे इसीलिए वास्तव मे व्यक्तिवाचक सज्ञायें या निर्देश करने वाले एकपरक पद हैं ।

लेकिन कुछ अन्य प्रकार के भी व्यवस्थित रूप से भ्रामक पद हैं जिनमे से मैं कुछ एक का जो मुझे याद आ रहे हैं, केवल नाम मात्र ही यहाँ लूँगा । 'जोन्स एक कथित खूनी है', या 'एक खूनी है', 'स्मिथ एक सम्भाव्य लॉर्ड मेअर है', 'रोबिन्सन एक प्रकट, या प्रतीत होने वाला, या कृत्रिम या छद्म या मिथ्या नायक है', 'ब्राउन या तो भविष्य मे होने वाला या अतीत मे रहने वाला पालियामेण्ट का सदस्य है', आदि आदि । इन कथनो से जो ध्वनित होता है वह वस्तुत उनका तात्पर्य नही है, अर्थात् उद्देश्य पद किसी विशिष्ट प्रकार के खूनी, या लॉर्ड मेअर, या नायक या पालियामेंण्ट के सस्दय के नाम थे । लेकिन एक कथित खूनी होना खूनी होने को अर्थापतित नही करता, और न ही एक सम्भाव्य लॉड मेअर उसके लॉड मेअर होने को अर्थापतित करता है ।

'जोन्स प्रसिद्ध है' से ध्वनित होता है कि प्रसिद्ध होना बुद्धिमान होने के जैसा है, जो कि एक गुण है, लेकिन वास्तव मे यह एक सम्बन्ध मूलक लक्षण है, और एक ऐसा लक्षण है जो सीधे जोन्स को विशेषित नही करता, अपितु उन लोगो को करता है जो जोन्स को चाहते हैं । और इसलिए 'जोन्स प्रसिद्ध है' का तात्पय वही है जो इस वाक्य का है कि 'बहुत से लोग जोन्स को चाहते हैं और ऐसे लोगो की सख्या उन लोगो की सख्या से अधिक है जो या तो उसे नही चाहते या उसके प्रति उदासीन हैं ।'

लेकिन मैं सोचता हूँ कि मैं यह दिखाने के लिए काफी उदाहरण दे चुका हूँ कि पद किस प्रकार अपने वास्तविक अथ से विल्कुल भिन्न अथ मे प्रयुक्त प्रतीत होते हैं जो कि वास्तव मे उनका अर्थ होता है और परिमाणत मैं दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार कुछ पद व्यवस्थित रूप से भ्रामक होते हैं ।

अत अब मैं यह मान कर चल सकता हूँ कि निम्न निष्कष सिद्ध किये जा चुके हैं (१) कि जो कुछ भी एक पद मे व्यक्त किया जाता है वही बहुधा व्याकरण की दृष्टि से विल्कुल भिन्न प्रकार के पदो द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है, और (२) कि दो पदो मे से—जिनमे प्रत्येक का वही अथ है जो दूसरे का है—जो व्याकरण की दृष्टि से अलग-अलग तरह के होते हैं, एक दूसरे की अपेक्षा बहुधा व्यवस्थित रूप से अधिक भ्रामक होता है ।

और इसका अर्थ यह है कि जब कि एक तथ्य या परिस्थिति का व्याकरण की दृष्टि से असख्य प्रकार के कथनो द्वारा आकलन किया जा सकता है, तो यह किसी एक मे दूसरो की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से व्यक्त किया जाता है । आदर्श, जो कि चाहे कभी भी प्राप्त न किया जा सके, यही है कि इसे पूर्णत अ-भ्रामक शब्दो मे व्यक्त किया जाना चाहिए । अब,

जब हम एक प्रकार की अभिव्यक्ति को दूसरी की अपेक्षा अच्छा कहते हैं तब हमारा तात्पर्य यह नही है कि यह अधिक सुरुचित संक्षिप्त या परिचित या साधारण सुननेवालो के लिए सुबोध गम्य है अपितु यह है कि यह अपनी व्याकरण परक रचना के द्वारा उस तथ्य या परिस्थिति के तार्किक रूप को, जिसका आकलन किया जा चुका है, एक ऐसे अङ्ग से प्रदर्शित करती है जिसमे कि अन्य वाक्य असफल रहते हैं।

किन्तु तथ्यो के तार्किक रूप को अधिकाधिक उपयुक्त ढग से प्रदर्शित करने मे प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचि नही है, अपितु केवल दार्शनिक की है।

अब मैं कुछ उपयु क्त विमर्श के परिणाम स्वरूप उत्पन्न समस्याओ को उठाना चाहूँगा, यद्यपि उनके हल का प्रयत्न नही करूँगा।

१ मान लें कि एक प्रकार की व्याकरण- रचना के वाक्य किसी एक प्रकार के तार्किक-रूपवाले तथ्यो, और केवल उन्ही तथ्यो, के लिए उचित (या किसी भी तरह लगभग उचित) हैं तो क्या व्याकरण के रूपो का तार्किक रूपा से यह औचित्य का सम्बन्ध प्राकृतिक है या पारम्परिक?

मैं इस सिद्धान्त मे—जो विट्गैंन्सटाइन और उसके अनुयायी तार्किक-व्याकरण-शास्त्रियो का प्रतीत होता है—विश्वास नहीं करता कि जो एक पद को एक तथ्य के लिए अधिकारिक रूप से उचित बनाता है वह वाक्य और तथ्य की सरचना के बीच का कोई वास्तविक और अपारम्परिक चित्रण सम्बन्ध है।

क्योंकि मैं यह नही देख पाता कि कैसे कुछ विशिष्ट रूप से चुनी गयी अवस्थाओ के छोटे वग को छोड कर—एक तथ्य या परिस्थिति को सरचना मे एक वाक्य, इ गित या चित्र के समान या असमान माना जा सकता है। क्योंकि एक तथ्य अशो का समूह—क्रमबद्ध किया हुआ समूह भी--उस रूप मे नहीं है जिसमे कि एक वाक्य शब्दो का एक व्यवस्थापित समूह है। एक तथ्य कोई वस्तु नही है और इसीलिए एक व्यवस्थित वस्तु भी नही है। निश्चित रूप से एक मानचित्र एक देश के समान या रेल की लाइनो की व्यवस्था के समान हो सकता है, और इसकी भी अपेक्षा अधिक साधारणीकृत और शिथिल अथ मे एक वाक्य, ध्वनियो की एक व्यवस्थित शृ खला के रूप में, यातायात के प्रवाह में गाडियो की पत्ति के समान, अथवा सप्ताह मे दिनो की शृ खला के समान हो सकता है।

परन्तु सुकरात के गुस्से मे होने या इस तथ्य मे कि या तो सुकरात समझदार था या प्लेटो बेईमान था, मे अशों की कोई शृखला नहीं देख पाता जिससे कि वाक्य के अवयवो की शृखला को इसके समान सामान्य सरचनात्मक योजना का माना जा सके। लेकिन हो सकता है कि यह कठिनाई मेरी नासमझी के कारण हो।

दूसरी ओर, इस विकल्प को स्वीकार करना भी इतना आसान नही दिखाई देता कि केवल मात्र परम्परा के कारण ही एक प्रदत्त व्याकरण मूलक रचना एक प्रकार के तार्किक आकार के तथ्यो के लिए विशेष रूप से समर्पित है। क्योंकि, वस्तुत प्रचलित प्रयोग तो व्यवस्थित

रूप से भ्रामक पदो की ओर पूर्ण रूपेण सहिष्णु हैं। और फिर यह स्पष्ट करना कठिन है कि भाषा की उत्पत्ति में किस प्रकार हमारे अदार्शनिक पूर्वजो ने यह निर्धारित किया होगा कि एक विशिष्ट व्याकरण रचना विशिष्ट तथ्यों की सरचना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योकि सम्भवत अमूत तार्किक रचनाओ का अध्ययन वाक्य रचना के सामान्य प्रयोगो की अपेक्षा पीछे की उपज है।

फिर भी मेरा वर्तमान मत यह है कि व्याकरण-मूलक रचना की तार्किक रचना से अनुरूपता अधिकाश मे प्राकृतिक की अपेक्षा पारम्परिक अधिक है हालांकि मैं न तो इसे एक मनमानी का या एक 'सुचिन्तित' योजना का प्रभाव मानता हूँ।

२ अब अगला प्रश्न यह है कि हम विशेष अवस्थाओ मे यह कैसे पता लगायें कि एक पद व्यवस्थित रूप से भ्रामक है या नही ? मैं सोचता हूँ कि इसका उत्तर इस प्रकार होगा हम 'श्रीमान् पिकनिक एक कल्पित व्यक्ति हैं' और 'विपुवद्वृत्त भूमण्डल के चारो ओर हैं' के समान वाक्य रचनाओ को देखते हैं, समझते हैं और उनकी उपयुक्तता मे विश्वास भी करते हैं। और हम जानते हैं कि यदि ये रचनाएँ वही कह रही हो जो ये कहती हुई प्रतीत होती हैं तो इनसे कुछ अन्य तक वाक्य अनुगमित होगे। लेकिन मालूम यह हुआ है कि 'श्रीमान् पिकविक अमुक-अमुक साल में पैदा हुए थे' और 'विपुवद्वृत्त-अमुक मोटाई का है' जैसे तर्क वाक्य न केवल असत्य हैं अपितु व्याख्या करने पर प्रतीत होता है कि ये किसी बात मे उनके विपरीत भी हैं जिनके कि ये तार्किक परिणाम हैं। अत इसका हल यही रह जाता है कि यह समझ लिया जाये कि एक काल्पनिक व्यक्ति का होना किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति का होना नहीं हैं, और उस अर्थ का जिसमें कि विपुवद्वृत्त पृथ्वी की मेखला है यह तात्पय नही है कि यह कोई वास्तविक अगूठी या पट्टिका नहीं हैं जो पृथ्वी को चारो ओर से घेरे हुए है। और इसका मतलब यह समझ लेना है कि मूल तर्क वाक्य वह बात नही कह रहे थे जो वे प्रथम व्याख्या में कहते हुए प्रतीत हो रहे थे। तर्काभास इस बात के प्रमाण है कि एक पद व्यवस्थित रूप से भ्रामक है।

तो भी व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदो मे उस रूप मे कोई वदतो व्याघात नही होता जिस रूप मे वे अभिप्रेत होते हैं और समझे जाते हैं। वास्तव मे लोग तब तक दार्शनिक रूप से निरर्थक बात नही करते जब तक कि वे दार्शनिक काय नही कर रहे हो या, जो एक बिल-कुल भिन्न चीज है, जब तक कि वे अर्थ बहुल नहीं हो रहे हो। वे यह करते हैं कि वे ऐसे पदो का प्रयोग करते हैं जो किसी भी कारण—जो कि अधिकाश मे शब्द लाघव, सक्षिप्त और सरलता की इच्छा ही होती है—आकलित तथ्यो की सरचना को प्रदर्शित करने की अपेक्षा उन्हें छिपा देते हैं। और हम इन सरचनाओं को प्रकट करने के लिए ही अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण करते हैं। ये अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण की विधा मे दार्शनिक व्याख्या के प्रारम्भ होने से पहले घटित होते हैं। हाँ, यह अवश्य दिखाई पड़ता है कि उनके परिणाम दर्शन की विषय वस्तु हैं। दार्शनिकीकरण से पहले का अमूर्त चिन्त तो सर्वदा व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदो द्वारा पथ भ्रष्ट कर ही दिया जाता है, किन्तु दार्शनिक अमूर्तन चिन्तन भी, जिसका

कि मुख्य कार्य इस बीमारी का उपचार करना है, वास्तव मे इसकी ही बलि चढ जाता है।

३ व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदो के सम्भाव्य प्रकारो के वर्गीकरण का, या उनकी एक सवत पूर्ण सूची दे देने का, कोई ढग मुझे मालूम नही है। फिर भी मैं कल्पना करता हूँ कि उनकी सख्या सिद्धान्तत अनन्त है, लेकिन प्रचलित एव आग्रह-ग्रस्त प्रकारो की सख्या थोडी ही है।

४ मुझे यह सिद्ध करने का कोई ढग ज्ञात नही है कि कोई पद व्यवस्थित रूप से बिल्कुल भ्रामक नही है। अभी तक विप्रतिषेधो (antinomies) का न उठना यह सिद्ध नही करता कि वे कभी भी नही उठेंगे। हम यह जान सकते हैं कि दो पद 'य' और 'व' मे से—जो कि एक ही तथ्य का आकलन करते हैं—'य' 'व' की अपेक्षा कम भ्रामक है, किन्तु यह नही कि स्वय 'य' मे सुधार सम्भव नही है।

५ अत दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि यह व्यस्थित पुन रचनाएँ करे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि यह भाषा-विज्ञान या साहित्यिक आलोचना का एक विभाग है।

दार्शनिक पुनारचना एक सज्ञा के स्थान पर दूसरी सज्ञा या क्रिया का प्रतिस्थापन नही है। उसमे तो कोषकार एव अनुवादक अधिक उत्कृष्ट प्रमाणित होते हैं। इसकी पुनारचनाएँ वाक्य रचना के रूपान्तरण होते हैं और वाक्य रचना के ऐसे रूपान्तरण होते है जो कि लालित्य या शैली के सही होने की इच्छा से नियन्त्रित नही होते अपितु उन तथ्यो के रूपो को प्रकट करने की इच्छा से नियन्त्रित होते है जिनको जानने का दर्शन प्रयत्न करता है।

तो अब मैं निष्कर्षरूप मे कहना चाहता हूँ कि आखिरकार एक अर्थ मे हम भली-भाँति अन्वेषण कर सकते है और यह भी कह सकते हैं कि 'अमुक कहने का वस्तुत क्या अर्थ है।' क्योकि हम पूछ सकते हैं कि आकलित तथ्य का वास्तविक आकार क्या है जबकि यह छिपा हुआ हो या छद्मवेष मे हो और प्रस्तुत पद द्वारा सम्यक् रूप से प्रदर्शित न किया गया हो। और हम इस तथ्य को बहुधा नये शब्दो के रूप मे वर्णन करने मे सफल हो जाते है जो उसे प्रदर्शित कर देता है जिसे कि पूर्व शब्दरूप प्रदर्शित करने मे असफल रह गया था। और इस समय मैं यह विश्वास करना चाहता हूँ कि यही दार्शनिक व्याख्या है और यही दर्शन का एक मात्र कार्य है। लेकिन मैं अब इस समस्या का विवेचन नही करना चाहता।

लेकिन चूँकि आत्म-स्वीकृति आत्मा के लिए उपकारक है, अत मुझे मानना चाहिए कि मैं स्वय उन निष्कर्षो से सन्तुष्ट नही हूँ जिनकी ओर मेरे उक्त निष्कर्ष सकेत करते हैं। मैं दर्शन को पद प्रयोगों के स्रोत खोजने की अपेक्षा, जो कि बार बार घटित होने वाली भ्रामक रचनाओ और मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों के जनक हैं, उत्कृष्टतर कार्य सौंपना चाहूँगा। किन्तु मुझे इस बात मे बिल्कुल सन्देह नही है कि दर्शन का कम से कम यह कार्य तो है ही।

तत्त्वमीमांसा क्या है ?

मार्टिन हाइडेग्गर

"तत्त्वमीमासा क्या है ?" इस प्रश्न से यह आशा होती है कि तत्त्वमीमासा के विषय मे विमर्श होगा । परन्तु यह हमारा उद्देश्य नही है । इसके स्थान पर हम एक निश्चित तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न पर विचार करेंगे । इस प्रकार, जैसा आगे प्रतीत होगा, हम सीधे तत्त्वमीमासा की भूमि पर उतरेंगे । केवल इसी रूप में हम वास्तव मे इस सम्भावना को उत्पन्न कर सकेंगे कि तत्त्वमीमासा स्वय अपसे लिए बोल सके ।

हमारा कार्य एक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न के प्रस्तुतीकरण से प्रारम्भ होता है, फिर इस प्रश्न के विकास की ओर अग्रसर होता है, तथा उसके उत्तर के साथ समाप्त हो जाता है ।

एक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न का प्रस्तुतीकरण स्वस्थ सामान्य बुद्धि के दृष्टिकोण से, दर्शन, हेगेल के अनुसार, "अपने सिर के बल खडा हुआ ससार है" । अत हमारे कार्य की विशिष्ट प्रकृति किसी प्रारम्भिक परिभाषा की अपेक्षा रखती है । यह अपेक्षा तत्त्वमीमासात्मक जिज्ञासा की दोहरी प्रकृति का परिणाम है ।

प्रथम, प्रत्येक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न, सदैव तत्त्वमीमासात्मक समस्याओ की पूरी शृ खला को समाहित कर लेता है । प्रत्येक दशा मे वह स्वय एक पूर्ण है । द्वितीय, प्रत्येक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न केवल इस प्रकार ही प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रश्नकर्ता स्वय प्रश्न करने की प्रक्रिया मात्र मे स्वत अन्तर्ग्रस्त हो जाता है ।

इससे हम निम्न सकेत प्राप्त करते हैं तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न को समग्र के रूप में ही प्रस्तुत करना होगा तथा उसको सदा उस अस्तित्व की तात्त्विक स्थिति पर आधारित करना होगा, जो उसे प्रस्तुत करता है । यहाँ और इस समय हम प्रश्न करते हैं, अपने ही कारण । हमारा अस्तित्व—वैज्ञानिक, शिक्षक तथा विद्यार्थियो का समाज—विज्ञान से शासित है । अब, जबकि विज्ञान हमारी अभीप्सा बन गया है, हमारे अस्तित्व के आधारो मे, हमारे साथ किस प्रकार की तात्त्विक बातें घट रही हैं ?

विज्ञानो के क्षेत्र एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं । उनकी पद्धतियाँ मूलत भिन्न हैं । शास्त्रो की विछिन्न विविधता आज केवल विश्वविद्यालयो तथा उनके सकायो के तकनीकी सगठन के द्वारा ही परस्पर गठित हैं, और उन सकायों के व्यावहारिक लक्ष्यो के द्वारा अर्थ की एक इकाई के रूप मे रक्षित हैं। परन्तु इसके विपरीत विज्ञानों का मूल, उनके तात्त्विक आधार मे, क्षयाकृत हो गया है ।

और फिर भी—जहां तक हम उनके अत्यन्त विशिष्ट लक्ष्यों को समझते हैं—सभी विज्ञानों में हम जो-है से सम्बन्धित हैं। सुनिश्चितत विज्ञानों के दृष्टिकोण से कोई क्षेत्र किसी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नहीं करता और न ही प्रकृति इतिहास पर अथवा इतिहास प्रकृति पर प्रधानता प्राप्त करता है। कोई एक पद्धति किसी अन्य पद्धति से श्रेष्ठ नहीं है। भाषा-वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक ज्ञान की तुलना में गणित का ज्ञान अधिक सनियमित नहीं होता। उसकी विशेषता केवल "सुनिश्चितता" है, जिसे सनियमितता से अभिन्न नहीं समझना चाहिए। इतिहास से सुनिश्चितता की अपेक्षा रखना, मानवीय विज्ञानों से सम्बन्धित सनियमितता के प्रकार की धारणा का अतिक्रमण होगा। सभी विज्ञानों में तत्सम्बन्धी जो सांसारिक-सम्बन्ध व्याप्त है, वह विज्ञानों को जो-है के निजत्व को खोजने के लिए, इस दृष्टि से बाध्य करता है, कि वह उसे उसकी किमता [Wasgehalt] तथा उसकी अवस्था [Seinart] के अनुरूप अनुसन्धान का और आधारभूत परिभाषा का विषय बनाये। यदि आदर्श रूप में कहें, तो विज्ञानों की जो भी उपलब्धि है, वह सभी वस्तुओं की तात्त्विक प्रकृति के अनुरूप होना है।

जो-है के निजत्व के प्रति यह सुस्पष्ट सांसारिक सम्बन्ध, हमारे मानवीय अस्तित्व के द्वारा स्वतन्त्र रूप में चुनी गई दृष्टि से रक्षित तथा निर्दिष्ट है। यह सत्य है कि मनुष्य की वे क्रियाएँ जो विज्ञान से पूर्व की हैं जो विज्ञान के अतिरिक्त हैं, वे भी जो-है से सम्बद्ध हैं। किन्तु विज्ञान की विशिष्टता इस तथ्य में निहित है कि, एक नितान्त विशिष्ट रूप में, केवल वह तथा वही, व्यक्त रूप में स्वयं विषय को प्रथम तथा अन्तिम शब्द कहने की अनुज्ञा देता है। प्रमाण, परिभाषा तथा जिज्ञासा की इस वस्तुनिष्ठता में, जो है के प्रति, एक प्रकार की सीमित अधीनता है, जिस से जो-है स्वयं को प्रकट करे। विज्ञान द्वारा अपनाई गई यह अधीन दृष्टि एक ऐसी सम्भावना का आधार बन जाती है, जिसमें विज्ञान स्वतः, यद्यपि सीमित रूप में, नेतृत्व प्राप्त कर लेता है। विज्ञान का सांसारिक-सम्बन्ध और उसके लिए उत्तरदायी मनुष्य की दृष्टि, स्पष्टतः, केवल तभी पूर्णतया समझी जा सकती है, जब हम यह देख लेते और समझ लेते हैं कि इस प्रकार स्वीकृत सांसारिक-सम्बन्ध में क्या घट रहा है। मनुष्य—जो विभिन्न सत्ताओं में से एक सत्ता [Seiendes] है—विज्ञान का "अनुशीलन करता है।" इस "अनुशीलन" में जो कुछ घटित हो रहा है वह उस विशिष्ट सत्ता, जिसे "मनुष्य" कहते हैं, के जो-है की समग्रता में उद्भेदन से कम नहीं है। यह उद्भेदन इस प्रकार से होता है कि इसमें तथा इसके द्वारा जो-है, वह स्वयं को वह जो है और जैसा वह है, के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह उद्घाटक उद्भेदन जिस प्रकार से होता है, वह ऐसी प्रमुख स्थिति है जो जो-है के जो वह है, बनने में सहायक होती है।

सांसारिक-सम्बन्ध, दृष्टिकोण तथा उद्भेदन की यह त्रिमुखी प्रक्रिया—जो एक मौलिक इकाई है—वैज्ञानिक सत्ता में अस्तित्व की कुछ प्रेरणादायक सरलता और तीव्रता को ले आती है। अब यदि हम व्यक्त रूप में वैज्ञानिक अस्तित्व [Dasein] को, उस रूप में अधिकार में ले लें, जिस में हमने उसे स्पष्ट किया है तो हम अत्यावश्यक रूप में कहेंगे

सांसारिक-सम्बन्ध जिसकी ओर संकेत करता है, वह जो-है है—और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

तत्त्वमीमांसा क्या है ?

मार्टिन हाइडेग्गर

"तत्त्वमीमासा क्या है ?" इस प्रश्न से यह आशा होती है कि तत्त्वमीमासा के विषय मे विमर्श होगा । परन्तु यह हमारा उद्देश्य नही है । इसके स्थान पर हम एक निश्चित तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न पर विचार करेंगे । इस प्रकार, जैसा आगे प्रतीत होगा, हम सीधे तत्त्वमीमासा की भूमि पर उतरेंगे । केवल इसी रूप मे हम वास्तव मे इस सम्भावना को उत्पन्न कर सकेंगे कि तत्त्वमीमासा स्वय अपने लिए बोल सके ।

हमारा कार्य एक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न के प्रस्तुतीकरण से प्रारम्भ होता है, फिर इस प्रश्न के विकास की ओर अग्रसर होता है, तथा उसके उत्तर के साथ समाप्त हो जाता है ।

एक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न का प्रस्तुतीकरण स्वस्थ सामान्य बुद्धि के दृष्टिकोण से, दर्शन, हेगेल के अनुसार, "अपने सिर के बल खडा हुआ ससार है" । अत हमारे कार्य की विशिष्ट प्रकृति किसी प्रारम्भिक परिभाषा की अपेक्षा रखती है । यह अपेक्षा तत्त्वमीमासात्मक जिज्ञासा की दोहरी प्रकृति का परिणाम है ।

प्रथम, प्रत्येक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न, सदैव तत्त्वमीमासात्मक समस्याओ की पूरी शृ खला को समाहित कर लेता है । प्रत्येक दशा मे वह स्वय एक पूर्ण है । द्वितीय, प्रत्येक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न केवल इस प्रकार ही प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रश्नकर्ता स्वय प्रश्न करने की प्रक्रिया मात्र मे स्वत अन्तग्रस्त हो जाता है ।

इससे हम निम्न सकेत प्राप्त करते हैं तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न को समग्र के रूप में ही प्रस्तुत करना होगा तथा उसको सदा उस अस्तित्व की तात्त्विक स्थिति पर आधारित करना होगा, जो उसे प्रस्तुत करता है । यहाँ और इस समय हम प्रश्न करते हैं, अपने ही कारण । हमारा अस्तित्त्व—वैज्ञानिक, शिक्षक तथा विद्यार्थियो का समाज—विज्ञान से शासित है । अब, जबकि विज्ञान हमारी अभीप्सा बन गया है, हमारे अस्तित्व के आधारों मे, हमारे साथ किस प्रकार की तात्त्विक बातें घट रही हैं ?

विज्ञानो के क्षेत्र एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं । उनकी पद्धतियाँ मूलत भिन्न हैं । शास्त्रो की विछिन्न विविधता आज केवल विश्वविद्यालयो तथा उनके सकायो के तकनीकी सगठन के द्वारा ही परस्पर गठित हैं, और उन सकायों के व्यावहारिक लक्ष्यो के द्वारा अर्थ की एक इकाई के रूप मे रक्षित हैं । परन्तु इसके विपरीत विज्ञानो का मूल, उनके तात्त्विक आधार में, कृशकृत हो गया है ।

और फिर भी—जहाँ तक हम उनके अत्यन्त विशिष्ट लक्ष्यो को समझते हैं—सभी विज्ञानो मे हम जो-है से सम्बन्धित हैं। सुनिश्चितत विज्ञानो के दृष्टिकोण से कोई क्षेत्र किसी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नही करता और न ही प्रकृति इतिहास पर अथवा इतिहास प्रकृति पर प्रधानता प्राप्त करता है। कोई एक पद्धति किसी अन्य पद्धति से श्रेष्ठ नही है। भाषा–वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक ज्ञान की तुलना में गणित का ज्ञान अधिक सनियमित नही होता। उसकी विशेषता केवल "सुनिश्चितता" है, जिसे सनियमितता से अभिन्न नही समझना चाहिए। इतिहास से सुनिश्चितता की अपेक्षा रखना, मानवीय विज्ञानो से सम्बन्धित सनियमितता के प्रकार की धारणा का अतिक्रमण होगा। सभी विज्ञानों मे तत्सम्बन्धी जो सासारिक-सम्बन्ध व्याप्त है, वह विज्ञानो को जो–है के निजत्व को खोजने के लिए, इस दृष्टि से बाध्य करता है, कि वह उसे उसकी किमता [Wasgehalt] तथा उसकी अवस्था [Seinart] के अनुरूप अनुसन्धान का और आधारभूत परिभाषा का विषय बनाये। यदि आदश रूप मे कहे, तो विज्ञानो की जो भी उपलब्धि है, वह सभी वस्तुओं की तात्त्विक प्रकृति के अनुरूप होना है।

जो- है के निजत्व के प्रति यह सुस्पष्ट सासारिक सम्बन्ध, हमारे मानवीय अस्तित्व के द्वारा स्वतन्त्र रूप में चुनी गई दृष्टि से रक्षित तथा निर्दिष्ट है। यह सत्य है कि मनुष्य की वे क्रियाएँ जो विज्ञान से पूर्व की हैं जो विज्ञान के अतिरिक्त हैं, वे भी जो -है से सम्बद्ध हैं। किन्तु विज्ञान की विशिष्टता इस तथ्य मे निहित है कि, एक नितान्त विशिष्ट रूप में, केवल वह तथा वही, व्यक्त रूप में स्वय विषय को प्रथम तथा अंतिम शब्द कहने की अनुज्ञा देता है। प्रमाण, परिभाषा तथा जिज्ञासा की इस वस्तुनिष्ठता में, जो है के प्रति, एक प्रकार की सीमित अधीनता है, जिस से जो–है स्वय को प्रकट करे। विज्ञान द्वारा अपनाई गई यह अधीन दृष्टि एक ऐसी सम्भावना का आधार बन जाती है, जिसमे विज्ञान स्वत, यद्यपि सीमित रूप में, नेतृत्व प्राप्त कर लेता है। विज्ञान का सांसारिक–सम्बन्ध और उसके लिए उत्तरदायी मनुष्य की दृष्टि, स्पष्टत, केवल तभी पूर्णतया समझी जा सकती है, जब हम यह देख लेते और समझ लेते हैं कि इस प्रकार स्वीकृत सासारिक -सम्बन्ध मे क्या घट रहा है। मनुष्य–जो विभिन्न सत्ताओं में से एक सत्ता [Seiendes] है—विज्ञान का "अनुशीलन करता है।" इस "अनुशीलन" में जो कुछ घटित हो रहा है वह उस विशिष्ट सत्ता, जिसे "मनुष्य" कहते हैं, के जो–है की समग्रता में, उद्भेदन से कम नही है। यह उद्भेदन इस प्रकार से होता है कि इसमे तथा इसके द्वारा जो–है, वह स्वय को वह जो है और जैसा वह है, के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह उद्घाटक उद्भेदन जिस प्रकार से होता है, वह ऐसी प्रमुख स्थिति है जो जो–है के जो वह है, बनने मे सहायक होती है।

सांसारिक–सम्बन्ध, दृष्टिकोण तथा उद्भेदन की यह त्रिमुखी प्रक्रिया–जो एक मौलिक इकाई है—वैज्ञानिक सत्ता मे अस्तित्व की कुछ प्रेरणादायक सरलता और तीव्रता को ले आती है। अब यदि हम व्यक्त रूप मे वैज्ञानिक अस्तित्व [Dasein] को, उस रूप मे अधिकार मे ले लें, जिस मे हमने उसे स्पष्ट किया है तो हम अत्यावश्यक रूप में कहेगे

सासारिक–सम्बन्ध जिसकी ओर सकेत करता है, वह जो–है है—और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही।

जिसके द्वारा प्रत्येक दृष्टि रूपायित है वह जो–है है और उस से अधिक कुछ नहीं।

जिसके द्वारा वैज्ञानिक स्पष्टीकरण अथवा "उद्भेदन" करता है, वह जो–है है—और उसके परे, कुछ नहीं। किन्तु क्या यह उल्लेखनीय नही है कि ठीक उसी विन्दु पर जहाँ वैज्ञानिक मनुष्य अपनी सर्वाधिक निश्चित सम्पत्ति को निश्चित करता है, वही किसी अन्य के विषय मे बोलना अपेक्षित हो जाता है ? जिसका अनुसन्धान करना है, वह जो–है है–और अन्य कुछ नही, केवल जो–है—तथा उससे अधिक कुछ नही, केवल तथा मात्र–है—और उसके परे, कुछ नही।

किन्तु यह क्या है ? क्या यह केवल एक आकस्मिक बात है कि हम नितान्त स्वाभाविक रूप मे उस प्रकार कह जाते हैं ? क्या यह केवल बोलने की रीति मात्र है उससे अधिक कुछ नही ?

किन्तु इस कुछ–नहीं को लेकर चिन्ता क्यो की जाय ? विज्ञान द्वारा "कुछ–नही" पूर्णतया अस्वीकृत एव निस्सार शून्य [das Nichtige], के रूप मे छोड दिया गया है। परन्तु, यदि इस प्रकार हम कुछ–नहीं को छोड देते हैं, तो क्या अपने इस काय से ही, हम उसे वास्तव मे स्वीकार नही कर लेते ? क्या जब हम कुछ–नहीं को स्वीकार करते हैं, तो उसकी स्वीकृति की बात कह सकते हैं ? परन्तु शायद इस प्रकार की विक्षिप्त–वार्ता पहले ही, शब्दो को लेकर एक रिक्त बहस रूप मे विकृत हो गई है।

दूसरी ओर, विज्ञान को अपनी गरिमा तथा गम्भीरता पर पुन आग्रह करना पडता है तथा यह घोषणा करनी पडती है कि वह केवल जो–है से सम्बन्धित है। कुछ–नहीं—यह विज्ञान के लिए आतक तथा भूत के अतिरिक्त कुछ और कैसे हो सकता है ? यदि विज्ञान का आग्रह सही है तो एक बात निश्चित है विज्ञान कुछ–नहीं के विषय मे कुछ जानना नही चाहता। अन्तत यह कुछ–नहीं के प्रति सनियमित वैज्ञानिक दृष्टि है। कुछ–नहीं के विषय मे हमारा कुछ नही जानने की इच्छा करना ही, उसका ज्ञान प्राप्त करना है।

विज्ञान कुछ–नही के विषय मे कुछ नही जानना चाहता। फिर भी यह एक तथ्य है कि ठीक उसी विन्दु पर जहाँ विज्ञान अपने तत्त्व को शब्दो मे रखने का प्रयास करता है वहाँ वह 'कुछ–नहीं' की सहायता के लिये अभ्यर्थना करता है। जिस बात को वह अस्वीकार करता है, उसी का उसे आश्रय लेना पडता है। यह किस प्रकार का खण्डित–व्यक्तित्व है ?

विज्ञान द्वारा शासित अपने क्षणिक अस्तित्व पर, विचार करने से हम एक बहस के बीच आ पडे हैं। इस बहस की अवधि मे एक प्रश्न पहले ही प्रस्तुत हो गया है। प्रश्न को केवल विशिष्ट रूप मे रखना अपेक्षित है। यह कुछ–नहीं क्या है ?

प्रश्न का विकास

कुछ–नहीं मे हमारे अनुसन्धान का विकास अनिवार्यत हमें उस स्थिति मे ले आयेगा, जहाँ यह सिद्ध हो जायगा कि या तो उत्तर सम्भव है अथवा वह असम्भव है। कुछ–नहीं को स्वीकार किया गया है। एक उच्च उदासीनता की दृष्टि को अपनाते हुए, विज्ञान उसे जो "नही है" के रूप मे छोड देता है।

फिर भी हम कुछ–नहीं मे अनुसन्धान करने का प्रयास करेंगे । कुछ–नहीं क्या है ? इस प्रश्न के प्रति प्रारम्भिक दृष्टि भी हमे कुछ असाधारण दिखाती है । इस प्रकार प्रश्न करते हुए, हम कुछ–नहीं को, उस विषय के रूप मे, जो किसी न किसी रूप मे "है" एक सत्ता (Seindes) के रूप मे, स्थापित करते हैं । किन्तु ऐसा कुछ नही है । कुछ–नहीं क्या है तथा क्योकर है, इस सम्बन्ध मे किया गया प्रश्न अपने विषय को उसके विरोधी मे परिवर्तित कर देता है । प्रश्न स्वत अपने को अपने विषय से वञ्चित कर लेता है ।

अत इस प्रश्न का प्रत्येक उत्तर प्रारम्भ से असम्भव है । कारण कि वह अनिवार्यत इस रूप मे प्रारम्भ होना है कि कुछ–नहीं यह, वह, अथवा अन्य है । जहाँ तक कुछ–नहीं का सम्बन्ध है प्रश्न तथा उत्तर दोनो ही समान रूप में निरर्थक हैं ।

अत विज्ञान द्वारा अस्वीकृति भी अनावश्यक है । समस्त चिन्तन का सामान्य तथा उद्धृत आधारभूत नियम–यह उक्ति कि विरोधाभास से बचना चाहिए–तथा 'तर्क शास्त्र" इस प्रश्न का निराकरण कर देते हैं । कारण कि चिन्तन, जो तत्वत सदैव किसी के विषय मे चिन्तन होता है, कुछ–नहीं का चिन्तन करने मे, अपनी प्रकृति के विरुद्ध सक्रिय होने के लिए बाध्य होगा ।

क्योकि जैसे ही हम कुछ–नहीं को विषय मे परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं, हमें निरन्तर असफलता प्राप्त होती है । कुछ–नहीं में हमारा अनुसन्धान पहले ही समाप्ति के निकट आ जाता है—स्पष्टत यह सदैव मान लिया जाता है कि इस अनुसन्धान में "तर्क शास्त्र" ही अपील के लिए सर्वोच्च न्यायालय है, बुद्धि साधन है, तथा चिन्तन कुछ–नहीं के मौलिक ग्रहण और उसके सम्भव प्रकाशन का मार्ग है ।

किन्तु यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या "तर्क शास्त्र" के नियम का अतिक्रमण किया जा सकता है ? क्या कुछ–नहीं के इस अनुसन्धान मे बुद्धि का वस्तुत कोई प्रभुत्व नहीं है ? वस्तुत बुद्धि की सहायता से ही हम, प्रथमत कुछ–नहीं को परिभाषित कर सकते हैं तथा उसे एक समस्या, यद्यपि एक ऐसी समस्या जो केवल अपना ही भक्षण करती है, के रूप मे रख सकते हैं । कारण कि कुछ–नहीं जो–है का समग्रता का निषेध [verneinung] है वह जो नितान्त नही है । किन्तु इस स्थल पर हम कुछ–नहीं को निषेधक [Nichthaftes] की, तथा इसलिए जो निषिद्ध है कि उच्चतर कोटि मे ले आते हैं ।

किन्तु "तर्क शास्त्र" के अभिभूत करने वाले एव अनाक्रम्य नियमों के अनुसार निषेध बुद्धि का एक विशिष्ट कार्य है । कुछ–नहीं में अपने अनुसन्धान में, तथा इस प्रकार के अनुसन्धान की सम्भावना मात्र मे, फिर हम कैसे बुद्धि का निराकरण कर सकते हैं ? किन्तु जिसे हम मान रहे हैं क्या यह इतना निश्चित है ? क्या नहीं [das Nicht] निषिद्ध किए जाने की स्थिति [die Verneint heit] और इसलिए स्वय निषेध [verneinung], वास्तव मे उस उच्चतर कोटि का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अन्तर्गत कुछ–नहीं एक ऐसी विशिष्ट वस्तु के रूप मे जिसका निषेध हुआ है स्थान ग्रहण करता है । क्या कुछ–नहीं केवल इसी

लिए "विद्यमान है" कि नहीं अर्थात् निषेध विद्यमान है ? या स्थिति इसके विपरीत है ? क्या निषेध तथा नहीं केवल इसीलिए विद्यमान हैं कि कुछ-नहीं विद्यमान है ? इस बात का निश्चय नही हो पाया—वस्तुत यह बात व्यक्त रूप मे पूछी भी नही गई। हम निश्चयपूर्वक कहते हैं, "कुछ नहीं", नहीं तथा निषेध की तुलना मे अधिक मौलिक है।

यदि यह प्रस्थापना सही है, तब बुद्धि के कृत्य के रूप मे निषेध की सम्भावना मात्र ही, तथा परिणाम स्वरूप बुद्धि स्वय, किसी प्रकार से कुछ-नहीं पर निर्भर है। इस दशा मे, बुद्धि किस प्रकार इस समस्या के हल का प्रयत्न कर सकती है ? जहाँ तक कुछ-नही का सम्बन्ध है, क्या प्रश्न तथा उत्तर की यह प्रतीयमान निरर्थकता, कदाचित् भटकती बुद्धि के अंध-हठ पर ही निर्भर नही है ?

किन्तु, यदि हम कुछ-नहीं मे अनुसन्धान की रूपात्मक असम्भावना के द्वारा भ्रमित होने से इन्कार कर दें, तथा उसके रहते भी अपना अनुसन्धान जारी रखें, हमे कम से कम उस आधारभूत प्रथम आवश्यकता को, जो किसी भी सम्यक् अनुसन्धान की शर्त है, पूरा करना होगा। यदि कुछ-नहीं के यथावत् रूप मे, अभी भी कोई अनुसन्धान करना है, तो यह परिणाम निकलता है कि वह पहले से ही "प्रदत्त" होना चाहिए। हमारा उसका सामना होना चाहिए।

कुछ-नहीं को हम कहाँ खोजें ? हमे कुछ नही की प्राप्ति कहाँ होगी ? यदि हम किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहे तो क्या यह पूर्व ज्ञान अपेक्षित नही है कि वह है ? वास्तव मे हमे यह ज्ञान होना चाहिए। सर्व प्रथम हम तभी खोज सकते हैं, जब हम उस वस्तु की उपस्थिति को पहले से ही स्वीकार करलें, जिसकी हम खोज करना चाहते हैं। किन्तु यहाँ जिस वस्तु की हम खोज कर रहे हैं वह कुछ-नहीं है। क्या अन्तत बिना पूर्व-मान्यता के कोई भी खोज होती है ? ऐसी खोज, केवल प्राप्ति ही जिसका पूरक हो ?

इस सम्बन्ध मे स्थिति चाहे कैसी भी क्यो न हो हम "कुछ-नही" को जानते हैं, चाहे केवल एक ऐसे पद के रूप में ही जिसका हम प्रति-दिन मन चाहा उपयोग करते हैं। यह सामान्य तथा पिष्टपेषित 'कुछ-नही' जिसे इतने पूर्ण रूप में बिना शंका के स्वीकार कर लिया गया है और जो हमारी जिह्वा पर यू जब तब आता रहता है—हम इसकी एक तात्कालिक परिभाषा तक दे सकते हैं।

कुछ-नही जो-है की समग्रता का पूर्ण निषेध है।

अन्तत कुछ-नही की यह विशेषता क्या उस दिशा की ओर इंगित नही करती, केवल जहाँ वह हमसे मिल सकता है ?

जो-है की समग्रता पहले ही प्रदत्त होनी चाहिए, जिससे वह निषेध के सम्मुख झुक जाय जिससे तब निश्चय ही कुछ नहीं का आविर्भाव होगा।

किन्तु निषेध तथा कुछ-नही के इस संशयात्मक सम्बन्ध के अतिरिक्त भी, सीमित सत्ताओं के रूप मे, जो-है के पूर्ण को उसकी समग्रता मे उसके निजत्व में हम किस प्रकार

गम्य बना सकते हैं ? हमारे लिए वह गम्य है यह प्रश्न तो छोड़ ही दें। आवश्यकता पड़ने पर हम जो-है के पूर्ण को एक प्रत्यय के रूप में धारणा कर सकते हैं फिर जो कुछ हमने अपने विचारों में इस प्रकार कल्पित किया है उसका निषेध कर सकते हैं और यह "सोच सकते हैं" के उसका निषेध हो गया। इस प्रकार हम एक काल्पनिक 'कुछ-नहीं' की रूपात्मक धारणा को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु स्वयं कुछ-नहीं को कभी नहीं। किन्तु 'कुछ-नहीं कुछ नहीं है, और काल्पनिक तथा वास्तविक [eigentlich] 'कुछ-नहीं' में कोई भेद नहीं हो सकता यदि 'कुछ-नहीं विभेद की स्थिति के पूर्ण, अभाव का सूचक हो। किन्तु "वास्तविक" 'कुछ-नहीं' क्या यह पुनः उसी 'कुछ नहीं' का निहित और निरर्थक प्रत्यय नहीं है जो "है" ? एक बार पुनः तथा अन्तिम बार बौद्धिक आक्षेपों ने हमारी खोज में बाधा पहुँचाई है, जिसकी वैधता कुछ नहीं के अन्वेषणात्मक अनुभव के द्वारा ही प्रमाणित की जा सकती है।

जितना निश्चय इस बात का है कि हम कभी भी जो-है की समग्रता को निरपेक्ष रूप में ग्रहण नहीं कर पायेंगे उतनी ही यह बात भी निश्चित है कि हम स्वयं को जो-है के मध्य स्थित पाते हैं, तथा यह किसी प्रकार समग्रता में प्रकट हो जाता है। अन्ततोगत्वा, जो-है की समग्रता को ग्रहण करने तथा समग्रता-में-जो-है के मध्य अपने को स्थित पाने में तात्त्विक अन्तर है। प्रथम नितान्त असम्भव है। द्वितीय सदैव होती रहती है।

स्वभावतः ऐसा प्रतीत होता है मानो अपनी दैनिक क्रियाओं में, हम इस अथवा उस वस्तु [Seiendes] को पकड़े रहते हों, मानो हम जो-है के इस अथवा उस क्षेत्र में खोये हुए हों। दैनिक चर्चा कितनी भी आंशिक क्यों न प्रतीत हो, वह फिर भी जो है को, कितने ही सन्दिग्ध रूप में, "पूर्ण" की इकाई के भीतर बनाए रखती है। उस समय भी, अथवा यूँ कहें, ठीक उस समय जब हम वस्तुओं में अथवा स्वयं अपने में लीन नहीं होते, यह 'पूर्णता" हम पर छा जाती है—उदाहरणार्थ, वास्तविक विरक्ति की स्थिति में। जिस समय कोई पुस्तक विशेष, अथवा कोई खेल, यह कार्य अथवा वह निष्क्रियता की अवधि हमें केवल उकता डालती है उस समय भी वास्तविक विरक्ति हम से दूर होती है। वास्तविक विरक्ति तब होती है, जब "कोई उकता जाता है"। यह गहन विरक्ति अस्तित्व की गहराइयों में यत्र तत्र मूक कोहरे की भाँति आती जाती रहती है, सभी वस्तुओं को, सभी मनुष्यों को तथा उनके साथ स्वयं को, एक प्रकार की उदासीनता में एकत्र कर लेती है। यह उकताहट समग्रता में जो-है को प्रकाशित करती है।

इस प्रकार के प्रकाशन की एक और सम्भावना है, और यह सम्भावना किसी के, जिसे हम प्यार करते हैं—जो केवल व्यक्ति मात्र नहीं है—के सत् की उपस्थिति में अनुभूत रूप में होती है।

इन मनोदशाओं के कारण, जिन में, जैसा हम कहते हैं कि, हम यह अथवा वह "हैं" (अर्थात् उकताए हुए, प्रसन्न आदि) हम अपने को समग्रता-में-जो-है के मध्य पाते हैं और उससे पूर्णतया परिव्याप्त रहते हैं। यह रागात्मक दशा, जिस में हम स्वयं को पाते हैं, हमारी मनोदशा के अनुकूल केवल समग्रता में जो-है का प्रकाशन ही नहीं करती, अपितु साथ ही,

यह उद्घाटन केवल एक आकस्मिक घटना होने से बहुत दूर की बात है और हमारे अस्तित्व [Da-sein] की आधार--प्रतीति है ।

हमारी "अनुभूतियाँ" जैसा हम उन्हें कहते हैं हमारे मानसिक तथा ऐच्छिक व्यवहार की अस्थायी सहगामिनी ही नही हैं, न ही वे इस प्रकार के व्यवहार का मात्र अवसर अथवा कारण हैं, न ही वे वह स्थिति हैं जो कि केवल "वहाँ" है, तथा जिसमे हम अपने प्रति एक प्रकार की अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं ।

तथापि ठीक उसी क्षण, जब हमारी मनोदशाए हमे इस प्रकार समग्रता-मे--जो-है के सम्मुख ले आती है, वे उस 'कुछ-नही' को छिपा लेती है जिसे हम खोज रहे हैं । इस बात को हम अब और भी कम मानने लगते हैं कि हमारी इन मनोदशाओ के द्वारा प्रकाशित समग्रता-मे-जो-है का निषेध मात्र वस्तुत हमे 'कुछ-नही' की ओर ले जा सकता है । सब प्रथम, यह केवल ऐसी मनोदशा मे सम्भव होता है जो अपने आशय मे इतने विशिष्ट रूप मे प्रकाशशील हो कि स्वय 'कुछ-नही' को प्रकट करे ।

क्या मानवीय अस्तित्व मे कभी कोई इस प्रकार की मनोदशा आती है, जिसके द्वारा हम स्वय 'कुछ-नही' के समक्ष ले आये जायँ ?

यह सम्भव है तथा आंग्स्ट[1] की महत्वपूर्ण मनोदशा मे वस्तुत होती भी है यद्यपि कभी-कभी ही, और केवल कुछ क्षणो के लिए ही । 'आंगस्ट' से हमारा तात्पय 'चिन्ता' [Angstlichkeit] से नही है जो अत्यन्त सामान्य है तथा सम्भ्रम [Furchtsamkeit]–एक ऐसी मनोदशा जो हम पर बडी सरलता से छा जाती है–की सजातीय है । आंग्स्ट भय [furcht] से नितान्त भिन्न है । हम सदैव इस अथवा उस वस्तु से भयभीत रहते हैं, जो हमे इस अथवा उस विशिष्ट रूप मे धमकाती रहती है । किसी वस्तु "का भय" सामान्यतया किसी वस्तु के "प्रति भय" होता है । क्योकि भय की यह विशिष्ट सीमा है—किसी "का" तथा किसी के "प्रति", जो व्यक्ति भयभीत होता है अर्थात् सम्भ्रान्त व्यक्ति, उस वस्तु से सदैव, जिससे वह भयभीत रहता है, अथवा उस स्थिति से जिस मे वह स्वय को पाता है, बचा रहता है । इस कुछ [वस्तु अथवा स्थिति] से, अपनी रक्षा करने के प्रयास मे वह दूसरी वस्तुओ के सम्बन्ध मे अनिश्चित हो जाता है । वास्तव में, सामान्यतया, वह अपनी स्थिति के विषय मे किंकर्तव्यविमूढ सा हो जाता है ।

आंग्स्ट मे इस प्रकार भ्रान्ति नही हो सकती ऐसा कहना अधिक सत्य होगा कि

---

१ जर्मन 'आंग्स्ट' के कई अर्थ हैं 'पीडा' 'चिन्ता' तथा 'भय' । हाईडेग्गर के प्रयोग मे किसी न किसी रूप मे इनमे से प्रत्येक का पुट है । इसके अतिरिक्त हाईडेग्गर जर्मन मे भी 'आंग्स्ट' का विशिष्ट प्रयोग करता है जो इस व्याख्यान मे उसके स्पष्टीकरण से स्पष्ट है । हिन्दी मे 'सन्ताप' 'सन्त्रास' आदि शब्दों का प्रयोग 'आंग्स्ट' के लिए किया जाता है, पर उससे अर्थ का अनर्थ होने की अधिक सम्भावना है, अत यहां 'आंग्स्ट' को मूल रूप मे ही रहने दिया गया है ।

आग्स्ट एक विशेष प्रकार की शान्ति से परिव्याप्त रहती है और यद्यपि आग्स्ट सदैव [किसी] "की आग्स्ट" होती है, वह किसी विशिष्ट वस्तु की नही होती । [किसी] "की आग्स्ट" सदैव ही [किसी] "के प्रति" आशंकात्मक अनुभूति होती है परन्तु वह किसी विशिष्ट मे सम्बद्ध नही । उसकी निश्चितता जिस के प्रति आग्स्ट है केवल किसी निश्चितता का अभाव नही है वह "उसकी" परिभाषा देने की तात्त्विक असम्भावना की सूचक है । यह अनिश्चितता एक ऐसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जाती है जो प्रत्येक के लिए सुपरिचित है ।

जैसा कि हम कहते हैं, आग्स्ट मे "किसी को [einem] कुछ [es] रहस्यात्मक अनुभूति होती है" । उपयुक्त "कुछ" तथा "किसी को" किस के सूचक हैं ? हम यह कहने मे असमर्थ हैं कि "किसी को" यह रहस्यात्मक अनुभूति किस से होती है । "किसी को" समग्रत [in Ganzen] यह अनुभूति होती है सभी वस्तुएँ तथा उनके साथ हम, एक प्रकार की उदासीनता मे डूब जाते है । किन्तु इस अर्थ मे नही कि प्रत्येक वस्तु केवल लुप्त हो हो जाती है, अपितु हम से दूर जाने की क्रिया मे ही प्रत्येक वस्तु हमारी ओर उन्मुख हो जाती है । समग्रता–मे--जो -है का यह विनिवर्तन तब आग्स्ट मे हमारे चारो ओर घिर आता है, यही वह है जो हमे अभिभूत कर देता है । कुछ भी ऐसा नहीं रहता जिसका आश्रय लिया जा सके। जिस समय जो- है अन्तर्धान हो जाता है, उस समय एक मात्र वस्तु जो शेष रहती है तथा हमे आच्छादित कर लेती है, वही यह कुछ नहीं' हैं ।

आग्स्ट 'कुछ–नही' को प्रकट करती है।

आग्स्ट मे हम "अनिश्चय" मे रहते हैं अथवा अधिक सुनिश्चित रूप मे कहे आग्स्ट हमे अनिश्चय मे रखती है क्योकि वह समग्रता–मे–जो–है को हमारे समक्ष अन्तर्धान कर देती है । अत इसके साथ ही हम स्वय भी जो है के मध्य स्थित सत्ताओं के रूप मे स्वय अपने समक्ष अन्तर्धान हो जाते हैं । इसी कारण यह 'मैं' या "आप" नही हैं जिसे रहस्यात्मक अनुभूति होती है अपितु "कोई" [einem] होता है । इस अनिश्चय के त्रास मे, जहाँ कुछ भी ऐसा नही जिसका सहारा लिया जा सके, अस्तित्व (Da sein) मात्र ही अवशिष्ट रहता है ।

आग्स्ट हमे मूक बना देती है । कारण कि समग्रता-में-जो-है वह अन्तर्धान हो जाता है तथा इस प्रकार 'कुछ-नही' को सामने ठेलता है, समस्त अस्ति-कथन (Ist Sagen) इसके समक्ष व्यर्थ हो जाते हैं । यह तथ्य केवल 'कुछ-नहीं' की उपस्थिति को सिद्ध करता है कि जब हम आग्स्ट की रहस्यात्मकता मे पकडे जाते हैं, हम बहुधा, रिक्त मौन को स्वत —नि सृत शब्दों द्वारा तोडने का प्रयास करते हैं । हम स्वत इसका अनुमोदन करते हैं कि आग्स्ट 'कुछ-नहीं' को प्रकट करती है—जब हम आग्स्ट पर विजय प्राप्त कर लेते हैं । उस सुस्पष्ट दर्शन मे जो उस समय अकस्मात् अभिव्यक्त होता है, जब हमारी स्मृति मे अनुभव ताजा होता है, हमे यह कहना चाहिए कि हम जिसमे त्रस्त थे, वह "वास्तव मे" [eigentlich] कुछ नहीं' है । और वस्तुत स्वय 'कुछ-नहीं' । 'कुछ नहीं' स्वत वहाँ था ।

अब आग्स्ट की इस महत्वपूर्ण मनोदशा के साथ हम अपने अस्तित्व मे उस घटना पर

यह उद्घाटन केवल एक आकस्मिक घटना होने से वहुत दूर की बात है और हमारे अस्तित्व [Da-sein] की आधार--प्रतीति है।

हमारी "अनुभूतियाँ" जैसा हम उन्हे कहते हैं हमारे मानसिक तथा ऐच्छिक व्यवहार की अस्थायी सहगामिनी ही नही हैं, न ही वे इस प्रकार के व्यवहार का मात्र अवसर अथवा कारण हैं, न ही वे वह स्थिति हैं जो कि केवल "वहाँ" है, तथा जिसमे हम अपने प्रति एक प्रकार की अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं।

तथापि ठीक उसी क्षण, जव हमारी मनोदशाए हमें इस प्रकार समग्रता -मे--जो--है के सम्मुख ले आती है, वे उस 'कुछ-नही' को छिपा लेती हैं जिसे हम खोज रहे हैं। इस बात को हम अब और भी कम मानने लगते हैं कि हमारी इन मनोदशाओ के द्वारा प्रकाशित समग्रता मे-जो-है का निषेध मात्र वस्तुत हमे 'कुछ-नही' की ओर ले जा सकता है। सव प्रथम, यह केवल ऐसी मनोदशा मे सम्भव होता है जो अपने आशय मे इतने विशिष्ट रूप मे प्रकाशशील हो कि स्वय 'कुछ-नही' को प्रकट करे।

क्या मानवीय अस्तित्व मे कभी कोई इस प्रकार की मनोदशा आती है, जिसके द्वारा हम स्वय 'कुछ-नही' के समक्ष ले आये जायें ?

यह सम्भव है तथा आग्स्ट[1] की महत्वपूर्ण मनोदशा मे वस्तुत होती भी है यद्यपि कभी-कभी ही, और केवल कुछ क्षणो के लिए ही। 'आगस्ट' से हमारा तात्पय 'चिन्ता' [Angstlichkeit] से नही है जो अत्यन्त सामान्य है तथा सम्भ्रम [Furchtsamkeit]--एक ऐसी मनोदशा जो हम पर वडी सरलता से छा जाती है--की सजातीय है। आग्स्ट भय [furcht] से नितान्त भिन्न है। हम सदैव इस अथवा उस वस्तु से भयभीत रहते हैं, जो हमे इस अथवा उस विशिष्ट रूप मे धमकाती रहती है। किसी वस्तु "का भय" सामान्यतया किसी वस्तु के "प्रति भय" होता है। क्योकि भय की यह विशिष्ट सीमा है--किसी "का" तथा किसी के 'प्रति", जो व्यक्ति भयभीत होता है अर्थात् सम्भ्रान्त व्यक्ति, उस वस्तु से सदैव, जिससे वह भयभीत रहता है, अथवा उस स्थिति से जिस मे वह स्वय को पाता है, वधा रहता है। इस कुछ [वस्तु अथवा स्थिति] से, अपनी रक्षा करने के प्रयास में वह दूसरी वस्तुओ के सम्वन्ध मे अनिश्चित हो जाता है। वास्तव मे, सामान्यतया, वह अपनी स्थिति के विषय मे किंकर्तव्यविमूढ सा हो जाता है।

आग्स्ट में इस प्रकार भ्रान्ति नही हो सकती ऐसा कहना अधिक सत्य होगा कि

---

१ जर्मन 'आंग्स्ट' के कई अर्थ हैं 'पीडा' 'चिन्ता' तथा 'भय'। हाईडगर के प्रयोग में किसी न किसी रूप मे इनमे से प्रत्येक का पुट है। इसके अतिरिक्त हाईडेगार जर्मन मे भी 'आंग्स्ट' का विशिष्ट प्रयोग करता है जो इस व्याख्यान में उसके स्पष्टीकरण से स्पष्ट है। हिन्दी मे 'सन्ताप' 'सन्त्रास' आदि शब्दों का प्रयोग 'आंग्स्ट' के लिए किया जाता है, पर उससे अर्थ का अनर्थ होने की अधिक सम्भावना है, अत यहा 'आंग्स्ट' को मूल रूप में ही रहने दिया गया है।

आग्स्ट एक विशेष प्रकार की शान्ति से परिव्याप्त रहती है और यद्यपि आग्स्ट सदैव [किसी] "की आग्स्ट" होती है, वह किसी विशिष्ट वस्तु की नहीं होती। [किसी] "की आग्स्ट" सदैव ही [किसी] "के प्रति" आशंकात्मक अनुभूति होती है परन्तु वह किसी विशिष्ट से सम्बद्ध नहीं। उसकी निश्चितता जिस के प्रति आग्स्ट है केवल किसी निश्चितता का अभाव नहीं है वह "उसकी" परिभाषा देने की तात्त्विक असम्भावना की सूचक है। यह अनिश्चितता एक ऐसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जाती है जो प्रत्येक के लिए सुपरिचित है।

जैसा कि हम कहते हैं, आग्स्ट में "किसी को [einem] कुछ [es] रहस्यात्मक अनुभूति होती है"। उपर्युक्त "कुछ" तथा "किसी को" किस के सूचक हैं ? हम यह कहने में असमर्थ हैं कि "किसी को" यह रहस्यात्मक अनुभूति किस से होती है। "किसी को" समग्रत [in Ganzen] यह अनुभूति होती है सभी वस्तुएँ तथा उनके साथ हम, एक प्रकार की उदासीनता में डूब जाते हैं। किन्तु इस अर्थ में नहीं कि प्रत्येक वस्तु केवल लुप्त हो हो जाती है, अपितु हम से दूर जाने की क्रिया में ही प्रत्येक वस्तु हमारी ओर उन्मुख हो जाती है। समग्रता–में- जो -है का यह विनिवर्तन तब आग्स्ट में हमारे चारों ओर घिर आता है, यही वह है जो हमें अभिभूत कर देता है। कुछ भी ऐसा नहीं रहता जिसका आश्रय लिया जा सके। जिस समय जो- है अन्तर्धान हो जाता है, उस समय एक मात्र वस्तु जो शेष रहती है तथा हमें आच्छादित कर लेती है, वही यह 'कुछ नहीं' है।

आग्स्ट 'कुछ–नहीं' को प्रकट करती है।

आग्स्ट में हम "अनिश्चय" में रहते हैं अथवा अधिक सुनिश्चित रूप में कहें आग्स्ट हमें अनिश्चय में रखती है क्योंकि वह समग्रता–में–जो–है को हमारे समक्ष अन्तर्धान कर देती है। अत इसके साथ ही हम स्वयं भी जो है के मध्य स्थित सत्ताओं के रूप में स्वयं अपने समक्ष अन्तर्धान हो जाते हैं। इसी कारण यह 'मैं' या "आप" नहीं हैं जिसे रहस्यात्मक अनुभूति होती है अपितु "कोई" [einem] होता है। इस अनिश्चय के त्रास में, जहाँ कुछ भी ऐसा नहीं जिसका सहारा लिया जा सके, अस्तित्व (Da sein) मात्र ही अवशिष्ट रहता है।

आग्स्ट हमें मूक बना देती है। कारण कि समग्रता-में-जो-है वह अन्तर्धान हो जाता है तथा इस प्रकार 'कुछ-नहीं' को सामने ठेलता है, समस्त अस्ति-कथन (Ist Sagen) इसके समक्ष व्यर्थ हो जाते हैं। यह तथ्य केवल 'कुछ-नहीं' की उपस्थिति को सिद्ध करता है कि जब हम आग्स्ट की रहस्यात्मकता में पकड़े जाते हैं, हम बहुधा, रिक्त मौन को स्वत —नि सृत शब्दों द्वारा तोड़ने का प्रयास करते हैं। हम स्वत इसका अनुमोदन करते हैं कि आग्स्ट 'कुछ-नहीं' को प्रकट करती है—जब हम आग्स्ट पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। उस सुस्पष्ट दर्शन में जो उस समय अकस्मात् अभिव्यक्त होता है, जब हमारी स्मृति में अनुभव ताजा होता है, हमें यह कहना चाहिए कि हम जिससे त्रस्त थे, वह "वास्तव में" [eigentlich] 'कुछ-नहीं' है। और वस्तुत स्वयं 'कुछ-नहीं'। 'कुछ नहीं' स्वत वहाँ था।

अत आग्स्ट की इस महत्वपूर्ण मनोदशा के साथ हम अपने अस्तित्व में उस घटना पर

पहुँच गए हैं जो 'कुछ नहीं' को प्रकट करती है तथा जो इसलिए हमारी खोज का प्रारम्भिक बिन्दु होना चाहिए

तो यह 'कुछ नहीं' क्या है ?

प्रश्न का उत्तर

यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि हम वास्तव मे 'कुछ-नही' की समस्या तक सीमित हैं, तो वह उत्तर, एक मात्र जो हमारे उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण है, हमे पहले ही प्राप्त हो चुका है। यह मनुष्य के उसके अस्तित्व (Da-sein) मे परिवर्तित होने को आवश्यक बना देता है, ऐसा परिवतन जो हम मे सदैव आग्स्ट से उत्पन्न होता है—जिस से हम 'कुछ नही' को उस रूप मे तथा उसी प्रकार ग्रहण कर सकें जिस रूप मे तथा जिस प्रकार वह आग्स्ट मे प्रकट होता है। साथ ही हमे अन्तिम रूप से 'कुछ-नही' की उन विशेषताओं का छोड देना होगा जो हमारी खोज के फलस्वरूप प्रकट नही हुई।

कुछ-नही' आग्स्ट मे प्रकट होता है किन्तु किसी ऐसी-वस्तु के रूप मे नही जो "है"। न ही उसे किसी विषय के रूप में लिया जा सकता है। आग्स्ट 'कुछ-नही' का ग्रहण नहीं है। फिर भी, कुछ नही आग्स्ट मे तथा उसके द्वारा प्रकट होता है, तथापि इस अर्थ मे नही कि जब हमे वह "रहस्यात्मक" अनुभूति होती है तब 'कुछ-नही' समग्रता-मे-जो-है से अलग तथा असम्बद्ध है, अपितु हम यह कहेगे आग्स्ट मे 'कुछ-नही' इस प्रकार सक्रिय होता है मानो वह समग्रता-मे-जो-है से अभिन्न हो। "अभिन्न" होने से हम क्या अर्थ लेते हैं ?

आग्स्ट मे समग्रता-मे-जो-है वह अग्राह्य [hinfallıng] हो जाता है। कैसे ? जो है का आग्स्ट के द्वारा नाश नही होता जिस से 'कुछ-नही' रह जाता हो। यह देखते हुए कि आग्स्ट स्वय को समग्रता-मे-जो-है के सम्मुख पूर्णतया अशक्त पाती है, यह कैसे सम्भव था ! वास्तव मे होता यह है कि 'कुछ-नही' तत्त्वत जो-है, जब उसका समग्रता में अन्तर्धान हो रहा होता है, से सम्बन्धित रूप मे स्वय को प्रकट करता है।

आग्स्ट मे जो-है के निजत्व की समग्रता नष्ट नही होती, किन्तु साथ ही 'कुछ-नही' तक पहुँचने के लिए, हम समग्रता-मे-जो-है का निषेध नहीं कर सकते। इस तथ्य के अतिरिक्त कि निषेधात्मक कथन की व्यक्तता, आग्स्ट मात्र की प्रकृति से असम्बद्ध है, हम कभी भी 'कुछ नही' को सिद्ध करने के विचार से ऐसे किसी भी निषेध के साथ समय पर नही पहुँच पायेंगे कारण कि कुछ नहीं इसका पूर्ववर्ती है। जैसा हमने कहा, 'कुछ-नही' जो-है से उस समय अभिन्न होता है, जब वह समग्रता मे अन्तर्धान हो जाता है।

आग्स्ट मे किसी से पीछे हटना होना है, यद्यपि वह इतना पलायन नही है जितना की आश्चर्यमय [gebannt] शांति है। इस [किसी] से पीछे हटने का स्रोत 'कुछ-नही' मे है। 'कुछ नहीं' आकर्षित नही करता उसकी प्रकृति तो विकर्षण है। यह "अपने से विकर्षित करना" तत्त्वत "किसी मे बहिष्कृत" करना है तिरोभावी समग्रता-में-जो-है मे चेतन क्रमिक परित्याग। तथा तिरोभावी समग्रता-मे-जो-है मे यह पूर्ण परित्याग—यह वह स्थित है जिसमें

'कुछ-नही' आग्स्ट मे हमारे चहुँ ओर घिरा रहता है—'कुछ-नही' अर्थात् शून्यीकरण, का तत्त्व है। शून्यीकरण न तो जो-है का नाश [Vernichtung] है, और न वह निषेध [Verneinung] से उत्पन्न होता है। शून्यीकरण नाश अथवा निषेध के शब्दो मे विल्कुल नही आका जा सकता। 'कुछ-नही' स्वत से "शून्यीकरण" [nichlet] करता है। शून्यीकरण कोई आकस्मिक घटना नही है, किन्तु जब उसे तिरोभावी समग्रता–मे–जो– है मे परित्याग के रूप मे ग्रहण किया जाता है वह अनुवर्ती को, उसके अभी तक अनुद्घाटित पूर्ण अपरिचय मे—'कुछ-नही' की तुलना मे—केवल "अन्य" के रूप मे प्रकट करता है।

केवल आग्स्ट की 'कुछ-नही' की निरभ्र रात्रि मे, जो-है यथावत् अपने पूर्ण मौलिक खुलेपन मे प्रकट होता है कि वह "है" और 'कुछ-नहीं' नही है। किन्तु यह शाब्दिक परिशिष्ट "और 'कुछ-नही' नही" कोई अनुभवानुवर्ती व्याख्या नही है, अपितु वह अनुभव-पूर्व जो स्वय जो-है, का कोई भी प्रकाशन सम्भव करती है। मौलिक शून्यीकरण के रूप मे 'कुछ नही' का तत्त्व इस मे है कि केवल वही अस्तित्व को जो है यथावत् के समक्ष लाती है।

'कुछ नहीं' की मौलिक अभिव्यक्ति के आधार पर ही हमारा मानवीय अस्तित्व जो-है की ओर अग्रसर होता है तथा उस मे प्रविष्ट होता है। किन्तु जिस सीमा तक, अस्तित्व स्वभावत जो-है से सम्बन्धित है, उस रूप मे जो यह नही है, तथा जो यह स्वय है, अस्तित्व अस्तित्व के रूप में, व्यक्त रूप में [स्थित] 'कुछ-नही' से सदैव नि सृत होता है।

अस्तित्व का अर्थ है 'कुछ-नहीं' मे प्रक्षिप्त होना। [Hineingehaltenheit in das Nichts]

कुछ नहीं में प्रक्षिप्त होते हुए, अस्तित्व पहले ही समग्रता–मे–जो–है से परे है। जो–है से इस "परे होने" [Hinausein] को हम सर्वातिरिक्तता कहते हैं। यदि अस्तित्व अपने तात्त्विक आधार में सर्वातिरिक्त नही होता अर्थात् यदि वह आरम्भ से ही 'कुछ नहीं' मे प्रक्षिप्त नही होता, वह कभी भी जो–है से सम्बद्ध नही हो सकता, अत उसका कोई स्व-सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता।

'कुछ–नहीं' की मौलिक व्यक्त विशेषता के बिना, कोई आत्मत्व तथा कोई स्वतन्त्रता नहीं।

यहाँ हमे, 'कुछ–नहीं' के विषय में जो हमारा प्रश्न है, उसका उत्तर प्राप्त होता है। 'कुछ–नही' न ही कोई विषय है और न ही कोई ऐसी वस्तु है जो जरा भी "है"। 'कुछ-नही' न तो अपने, और न ही जो–है से "हटकर" किसी अनुलग्न के रूप में घटता है। 'कुछ-नही' वह है जो जो–है यथावत् का प्रकाशन हमारे मानवीय अस्तित्व के लिए सम्भव बनाता है। 'कुछ–नहीं' केवल जो–है का प्रत्ययात्मक विरोधी ही नहीं है अपितु वह तत्त्व [wesen] का मौलिक अश भी है।

जो–है के सत् [Sein] मे ही 'कुछ–नहीं' का शून्यीकरण होता है [das Nichten des Nichts]।

किन्तु अब हमे उस शका को व्यक्त करना पडेगा जिसे बहुत पहले से ही रोके रखा गया ।

यदि हमारे अस्तित्व को जो–है से सम्बन्धित होना, अथवा उसका होना मात्र, केवल "कुछ–नही मे प्रक्षिप्त" होने के द्वारा ही सम्भव है, और कुछ नही मूलत केवल आग्स्ट मे व्यक्त होता है, तो क्या हमे अस्तित्व बनाये रखने मात्र के लिए, आग्स्ट के नैरन्तरिक अनिश्चय मे नही रहना होगा ? किन्तु, क्या हमने स्वय इस बात को स्वीकार नही किया है, कि यह मौलिक आग्स्ट दुलभ वस्तु है ? किन्तु इस सब पर भी बिना इस आग्स्ट के हम सभी का अस्तित्व है तथा हम उन वास्तविकताओ से सम्बन्धित हैं जो हम स्वय नहीं हैं तथा जो हम स्वय हैं–अत क्या यह आग्स्ट याहच्छिक आविष्कार नही है और वह 'कुछ–नही जो उस से सम्बन्धित समझा जाता है, अतिशयोक्ति नही है ?

तथापि इस बात का क्या अर्थ लेते हैं जब हम यह कहते हैं कि यह मौलिक आग्स्ट दुलभ क्षणो मे ही होनी है ? इसके अतिरिक्त कुछ नही कि जिस सीमा तक हमारा सम्बन्ध है और, वास्तव मे यदि सामान्य रूप मे कहे तो, 'कुछ–नही' को सदैव अपनी मौलिक स्थिति से विकृत कर दिया जाता है । किस के द्वारा ? इस तथ्य के द्वारा कि किसी न किसी प्रकार, हम अपने को पूर्णतया जो–है मे खो देते हैं ? हम अपने व्यवहार मे जो–है और जितने अधिक आकर्षित होते हैं, हम उसे उतना ही कम लुप्त होने देते हैं, तथा उतने ही अधिक हम 'कुछ-नही' से विमुख होते हैं । किन्तु और भी निश्चित रूप मे हम स्वय को अस्तित्व के खुले धरातल पर ठेल देते हैं

और तब भी 'कुछ–नही' से यह सतत परन्तु द्वयर्थक विमुखता किन्हीं सीमाओ मे, 'कुछ–नहीं' के तात्त्विक अर्थ से अनुकूलता रखती है । यह–शून्यीकरण के अथ मे 'कुछ–नहीं'–हमें जो–है मे छोड देता है । हमारे वास्तव मे यह जाने बिना-कम से कम हमारे दैनिक ज्ञान के बिना कि क्या हो रहा है, 'कुछ–नही' अविरल रूप मे "शून्यीकरण करता है ।"

हमारे अस्तित्व मे 'कुछ–नही' के सतत, दूर तक प्रभाव डालने वाले तथा फिर भी सदैव आच्छन्न खुलेपन का इससे प्रभावशाली प्रमाण निषेध के अतिरिक्त और क्या हो सकता है । मानवीय चिन्तन की प्रकृति मात्र से यह सम्बन्धित है, ऐसा समझा जाता है । किन्तु निषेध, कल्पना की किसी भी उडान के द्वारा 'नही' को अपने से उत्पन्न नही कर सकता, उस साधन के रूप में जो दी हुई वस्तुओ मे, मानो इस 'नहीं' को उनके मध्य ठूसते हुए, भेद दिखाता है, तथा एक दूसरे की तुलना करता है । वास्तव मे निषेध किस प्रकार स्वय से नहीं को उत्पन्न कर सकता है, यह जानते हुए कि यह तभी निषेध कर सकता है जब निषिद्ध किए जाने के लिए कुछ हो ? परन्तु किस प्रकार किसी वस्तु को, जो या तो निषिद्ध है या जिसका निषेध होना चाहिए, किसी निषेधात्मक [nichthalf] वस्तु के रूप में देखा जा सकता है, जब तक कि समस्त चिन्तन केवल नहीं की खोज मे न हो ? किन्तु नहीं तभी स्वय को व्यक्त [illegible] 'कुछ–नही' [illegible] शून्यीकरण तथा इसलिए 'कुछ–नही' स्वय–

गोपनीयता से निकाल लिया जाय। नहीं निषेध के द्वारा सत्तामान नहीं होता, अपितु निषेध नहीं पर आधारित है, जो 'कुछ–नहीं' के शून्यीकरण से प्राप्त होता है। न ही निषेध, शून्यी–करण करने वाले व्यवहार अर्थात् उस व्यवहार जो ,कुछ–नही' के शून्यीकरण पर अनुभव पूर्व आधारित है, की अवस्था मात्र है।

इसके साथ हमने उपयु क्त प्रस्थापना को उसके अगो के साथ प्रमाणित कर दिया है 'कुछ–नही' निषेध का स्रोत है न कि इसके विपरीत। यदि 'कुछ–नही' तथा सत् के अन्वीक्षण के क्षेत्र बुद्धि की सम्प्रभुता का इससे हनन होता है, तब दर्शन मे "तर्कशास्त्र" के नियम की नियति भी निश्चित हो गई । 'तर्कशास्त्र' का प्रत्यय मात्र अधिक मौलिक जिज्ञासा के भवर विघटित हो जाता है।

कितनी ही बार तथा कितने ही रूप मे निषेध—चाहे व्यक्त रूप मे अथवा अन्यथा–समस्त चिन्तन में परिव्याप्त रहता है, वह स्वयं अपने से अस्तित्व के तात्विक अंश के रूप मे, 'कुछ–नही' की अभिव्यक्ति का पूर्णतया वैध साक्षी नही हो सकता। कारण कि निषेध को शून्यीकरण, जिस से 'कुछ–नही' के शून्यीकरण के कारण अस्तित्व सिक्त है, के एक मात्र अथवा प्रमुख प्रकार के रूप मे उध्दृत नही किया जा सकता। विरोध की क्रूरता तथा जुगुप्सा-जन्य हिंसा, बौद्धिक निषेध की मात्र उपयुक्तता से अधिक अथाह हैं। अस्वीकृति की पीडा तथा निरसन की निर्दयता उतनी ही दायित्वपूर्ण, त्याग की कटुता उतनी ही दबावपूर्ण।

हमारे सत् के, ससार मे परित्यक्त होने की स्थिति पर कोई वश न रख पाने पर भी हमारा यह अस्तित्व शून्यीकरण करने वाले व्यवहार के इन सम्भव रूपो के द्वारा बना रहता है, जो केवल निषेध के प्रकार नही हैं। इस से निषेध मे तथा उसके द्वारा उनकी अपनी अभि-व्यक्ति में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। वस्तुत तभी निषेध का रिक्त विस्तार वास्तव मे प्रकट होता है। व्यवहार के शून्यीकरण करने वाले प्रकारो के द्वारा अस्तित्व की परिव्याप्ति 'कुछ–नहीं', जिसे केवल आग्स्ट ही अपनी पूर्ण मौलिकता मे प्रकट करती है, की शाश्वत, सदैव आच्छन्न अभिव्यक्ति का संकेत देती है। स्पष्ट है कि यहाँ हमे यह कारण मिल जाता है कि मूल आग्स्ट अस्तित्व में क्यो दब जाती है । आग्स्ट वहाँ है, परन्तु सुपुप्त अवस्था में। समस्त अस्तित्व उसके प्रश्वसन से कम्पित रहता है जो लोग भीरु हैं उनमे हृद्गति न्यूनतम होती है, तथा जो व्यस्त लोग हैं उनकी "हा, हा" तथा "नही, नहीं" मे अगोचर, जो एकान्त-प्रिय हैं उनमे सर्वाधिक तत्पर तथा साहसी [लोगों] मे वह सर्वाधिक निश्चित रूप में होती है। किन्तु यह अन्तिम हृद्गति केवल उन्ही के लिए होती है जिसके लिए वह अपना व्यय करती है, जिन से अस्तित्व के परम महत्व की रक्षा हो सके।

साहसी के द्वारा अनुभूत आग्स्ट की तुलना शान्तिमय जीवन के आनन्द, यहाँ तक कि सुखकर भोग से भी नहीं की जा सकती।

ऐसी सभी तुलनाओं के समीपतर, वह सृजनात्मक अभिलाषा की कोमलता और प्रशान्ति के साथ गुप्त एकता रखती है।

मूल आग्स्ट में कभी भी जागृत की जा सकती है । उसे जागृत करने के लिए किसी

असाधारण घटना की अपेक्षा नही है । उसका कार्य गहनता में, उसके सम्भव कारण के उथलेपन के अनुरूप होता है । यह सदैव ही किनारे पर होती है, परन्तु शायद ही कभी वह कोई छलाग लगाती है तथा हमें अपने साथ अनिश्चय की स्थिति मे घसीट लेती है ।

क्योंकि हमारा अस्तित्त्व प्रच्छन्न आग्स्ट के इस आधार पर कुछ नही मे प्रक्षेपित होता है, मनुष्य 'कुछ–नहीं' का अधिकरण [Plat zhalter] बन जाता है । हम इतने में सीमित है कि हम स्वत अपने ही सकल्प तथा अपनी इच्छा से, स्वय को 'कुछ–नहीं' के समक्ष नही ला सकते ।

अन्तियता [verendlıchung] अस्तित्व मे इतने अगाध रूप मे प्रविष्ट है कि हमारी स्वतन्त्रता की विशिष्ट तथा गहनतम आत्यन्तिकता असफल हो जाती है ।

प्रच्छन्न आग्स्ट के आधार पर कुछ–नहीं' मे यह प्रक्षेपण समग्रता–मे–जो है पर सर्वातिरिक्तता प्राप्त करना है ।

हम ने यह कहा था कि कुछ नही मे हमारी खोज हमें सीधे तत्त्वमीमासा के क्षेत्र मे ले आयेगी । तत्त्वमीमासा सज्ञा यूनानी टा मैटा टा फिजिका [Ta Meta Ta' PUOIKa'] से आयी है । बाद मे इस विचित्र शीर्षक व्याख्या उस प्रकार के अन्वीक्षण की विशेषता के रूप मे दी गई जो मैटा]METa']–परे चली जाती है, अर्थात् जो–है यथावत् के परे ।

तत्त्वमीमासा जो–है के अतिरिक्त की खोज है जिसका लक्ष्य उसको निज तथा समग्र रूप मे हमारी बुद्धि के लिए पुन प्राप्त करना है ।

'कुछ–नहीं' के लिए हमारे अन्वीक्षण मे, ठीक इसी प्रकार से जो–है, जिसे समग्रता-मे–जो–है के रूप में ग्रहण किया जाता है, के परे जाने की बात अन्तर्हित है । अत यह एक 'तत्त्वमीमासात्मक" प्रश्न बन जाता है । हमने यह आरम्भ मे कहा था कि इस जिज्ञासा की दोहरी विशेषताएँ हैं । प्रत्येक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न समस्त तत्त्वमीमासा को अगीकार करता है, तथा प्रत्येक प्रश्न मे जो सत् [Da seın] प्रश्न करता है वह स्वय उस प्रश्न में ग्रस्त होता है ।

किस सीमा तक 'कुछ–नही' के विषय मे किया गया प्रश्न, समस्त तत्त्वमीमासा मे विस्तृत तथा व्याप्त है ?

प्राचीन काल से तत्त्वमीमासा ने 'कुछ–नही' के विषय पर स्वय को अत्यन्त श्लिष्ट उक्ति में व्यक्त किया है *exnıhılo nıhıl fit*– कुछ नही से कुछ नही की उत्पत्ति होती है । यद्यपि इस उक्ति ने अपने यौक्तिक रूप में भी स्वय 'कुछ–नही' को कभी भी वास्तविक समस्या नही बनाया तथापि इस ने बडे स्पष्ट रूप में, 'कुछ–नहीं' के विषय मे प्रचलित धारणाओ से, जो–है की प्रभावपूर्ण आधारभूत धारणा को व्यक्त किया ।

क्लासीकी तत्त्वमींमासा मे कुछ नही को असत् [Nıchtseıendes] के अर्थ मे ग्रहण किया गया है, अर्थात् उस अरुप जड पदार्थ के रुप मे जो स्वय अपने को "सत्" मे परिणित करने मे अशक्त है तथा इसलिए वह प्रतीति [Eıso8] के रुप मे उपस्थित नहीं हो सकता ।

जिसका "सत्" है वह स्वत सजक सृष्टि [Gebilde] है जो स्वय के निजत्व को एक प्रतिमा [Bild] के रूप में प्रस्तुत करता है, अर्थात् ऐसी वस्तु जिसे देखा गया हो [Anblick] इस सत् मीमासात्मक धारणा का मूल उसका विधान तथा उसकी सीमाए उतनी ही कम विचाराधीन रही हैं जितना 'कुछ–नहीं' ।

दूसरी ओर ईसाई सिद्धान्त ex nihilo nihil fit उक्ति के सत्य को अस्वीकार करता है, तथा कुछ नही के अर्थ को ऐसे वक्र रूप मे परिवर्तित कर देता है कि अब उसका अर्थ हो जाता है, ईश्वर के अतिरिक्त समस्त "सत्" का नितान्त अभाव ex nihilo fit ens creatum सृष्ट सत् 'कुछ–नहीं' से निर्मित है। 'कुछ–नहीं' अब उसका प्रत्ययात्मक विरोधी है जो सत्यत तथा वास्तव मे [eigentlich] है', वह अब summum ens [सर्वोत्कृष्ट सत्], ens increatum [रचियता] के रूप मे ईश्वर हो जाता है। यहाँ भी, 'कुछ–नहीं' की व्याख्या जो–है की आधारभूत धारणा का सकेत देती है। फिर भी जो–है का तत्वमीमासात्मक विवेचन उसी स्तर पर चलता है जिस पर 'कुछ–नहीं' के विषय मे खोज। दोनो ही दशाओं मे सत् [sein[तथा 'कुछ–नहीं' मात्र से सम्बन्धित प्रश्न अनपूछे रह जाते हैं। अत हमे इस कठिनाई से चिन्तित होने की आवश्यकता नही है कि यदि ईश्वर ' कुछ नही से" सृष्टि करता तो सब प्रथम उसमें तथा 'कुछ–नहीं' में कोई सम्बन्ध होना चाहिए। किन्तु यदि ईश्वर ईश्वर है तो ऐसा मानने पर कि 'परम" में किसी भी प्रकार शून्यत्व [Nichtigkeit] के लिए स्थान नही है वह 'कुछ–नहीं' को नही जान सकता।

यह स्थूल ऐतिहासिक अनुस्मारक 'कुछ–नही' को जो सत्यत तथा वास्तविक रूप मे "है", के प्रत्ययात्मक विरोधी के रूप मे, अर्थात् उसके निषेध के रूप मे प्रकट करता है। किन्तु एक बार 'कुछ–नहीं' के समस्या का रूप धारण कर लेने पर, यह वैषम्य न केवल अधिक स्पष्टतया परिभाषित होता जाता है, अपितु उस सत्य तथा वास्तविक तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न का भी उठाता है जो जो–है के सत् से सम्बन्धित है। 'कुछ–नहीं' अब जो–है का अस्पष्ट विरोधी नही रहता वह अब स्वय को जो–है के सत् से अविकल रूप में प्रकट करता है।

"शुद्ध सत् तथा शुद्ध असत् इस प्रकार एक तथा वही हैं।" हेगेल की यह उक्ति ('द सायस ऑव लॉजिक", १ वक्स ३, पृ० ७४) सही है। सत् तथा असत् साथ साथ रहते ह किन्तु इसलिए नही कि ये दोनो हेगेल के विचार की धारणा की दृष्टि से—अपनी अनिश्चितता तथा अपरोक्षता मे एक हैं, अपितु इसलिए कि सत् स्वय तत्त्व में सीमित है तथा वह केवल अस्तित्व की सर्वातिरिक्तता मे 'कुछ–नहीं' में प्रक्षेपित रूप मे प्रकट होता है।

यदि सत् यथावत् मात्र का प्रश्न वास्तव मे ऐसा प्रश्न है जो समस्त तत्त्वमीमासा को अगीकार करता है, तो 'कुछ–नहीं' का प्रश्न तत्त्वमीमासा के समस्त क्षेत्र मे विस्तृत सिद्ध होता है। किन्तु साथ ही, कुछ–नहीं' का प्रश्न समस्त तत्त्वमीमासा मे केवल इसलिए व्याप्त है कि वह हमे निषेध के मूल की समस्या का सामना करने के लिए बाध्य करता है अर्थात् वह हम तत्त्वमीमासा मे 'तर्कशास्त्र" के नियम की वैधता के विषय में निर्णय लेने के लिए बाध्य करता है।

तब उस स्थिति मे यह पुरानी उक्ति ex nihilo nihil fit एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेती है, तथा ऐसा अर्थ जो सत् स्वय की समस्या के अधिक उपयुक्त है तथा जो इस प्रकार है ex nihilo omne ens qud ens fit प्रत्येक सत्, जिस सीमा तक वह सत् है, कुछ नही से उत्पन्न है। केवल अस्तित्व की शून्यता मे, अपनी विशिष्ट सम्भावनाओ के अनुकूल अर्थात् एक सीमित रूप मे समग्रता–मे–जो–है, अपने को प्राप्त कर पाता है। तब किस सीमा तक, 'कुछ–नहीं' में अन्वीक्षण, यदि यह वास्तव मे तत्त्वमीमासात्मक हो, हमारे अपने अन्वेषक अस्तित्व को अन्तर्भूत करता है।

हमारे अस्तित्व का ऐहिक अनुभूत रूप, जैसा हम कह चुके हैं, विज्ञान से शासित है। यदि हमारा अस्तित्व, जो इस प्रकार नियमित है, 'कुछ–नहीं' से सम्बन्धित इस प्रश्न मे रखा जाय, तो यह परिणाम निकलता है कि यह इस प्रश्न के द्वारा स्वय प्रश्न का विषय बनाया गया है।

वैज्ञानिक अस्तित्व की सरलता तथा तीव्रता इस बात मे है कि वह जो–है से एक विशिष्ट रूप मे तथा केवल उसी से सम्बन्धित है। विज्ञान बड़प्पन की मुद्रा मे 'कुछ–नहीं' को छोडना चाहेगा। किन्तु अब इस 'कुछ–नहीं' के प्रश्न में यह स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक अस्तित्व तभी सम्भव है जब उसे आरम्भ मे ही 'कुछ–नही' मे प्रक्षेपित किया जाय। विज्ञान अपने साथ तभी समझौता कर सकता है जब वह 'कुछ–नही' को नही छोडे। विज्ञान की तथाकथित गम्भीरता तथा उच्चता हास्यास्पद हो जाती है, यदि यह 'कुछ–नहीं' को गम्भीर रूप मे नही ले पाता। केवल इसलिए कि 'कुछ–नहीं' स्पष्ट है विज्ञान जो–है को अन्वीक्षण के विषय के रूप मे ग्रहण कर सकता है। केवल तभी, जब विज्ञान तत्त्वमीमासा से अग्रसर होता है, वह अपने तात्त्विक कार्य को सदैव ही जीत सकता है, जो ज्ञान को एकत्रित करने तथा उसके वर्गीकरण करने का नही है, अपितु सत्य के समस्त क्षेत्र के सतत् उद्घाटन का है, चाहे प्रकृति मे, चाहे इतिहास मे।

केवल इसलिए कि 'कुछ–नहीं' हमारे अस्तित्व के आधार मे ही प्रकट होता है, जो–है के नितान्त अपरिचय का हम पर प्रकट होना सभव है। जब जो–है का अपरिचय स्वय हम पर प्रकट होता है, केवल तभी यह हमारे आश्चर्य को जागृत तथा निमन्त्रित करता है। केवल आश्चर्य अर्थात् 'कुछ–नहीं' के प्रकाश के कारण हमारे ओष्ठों पर "क्यो ?" उपस्थित होता है। केवल इसलिए कि यह "क्यो ?" इस प्रकार सभव है, हम एक निश्चित रूप मे युक्तियो तथा प्रमाणो को खोज सकते हैं। केवल इसी कारण कि हम प्रश्न कर सकते हैं तथा प्रमाणित कर सकते हैं, हमारी नियति इस जीवन मे अन्वीक्षक की हो जाती है।

कुछ-नहीं का अन्वीक्षण हमे अर्थात् अन्वीक्षकों को ही प्रश्न का विषय बना देता है। यह तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न है।

मनुष्य का अस्तित्व जो-है से केवल कुछ-नहीं में प्रक्षेपण के द्वारा ही सम्बन्धित हो सकता है। जो-है के परे जाना अस्तित्व का तत्त्व है। किन्तु यह "परे जाना" स्वय तत्त्वमीमासा है। इसीलिए तत्त्वमीमासा मनुष्य की प्रकृति का अग है। वह न ही स्कूलवादियो के दर्शन का

विभाग है और न ही आकस्मिक प्रत्ययों का क्षेत्र। तत्त्वमीमासा अस्तित्व की आधार-प्रतीति है। वह स्वय अस्तित्व है। क्योंकि तत्त्वमीमासा का सत्य इतना अगाध है, गहनतम भूल का प्रच्छन्न भय सदैव बना रहता है। अत कोई भी वैज्ञानिक अध्ययन, तत्त्वमीमासा की गम्भीरता की समानता करने की आशा नही कर सकता। दर्शन कभी भी विज्ञान की धारणा के प्रतिमान से नही आंका जा सकता।

कुछ-नहीं की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे द्वारा विकसित यह प्रश्न यदि एक बार हमारे ही द्वारा तथा हमारे ही मध्य मे वस्तुत पूछा जाय तो हम तत्त्वमीमासा को कही बाहर से नही लाते हैं। न ही हम स्वय को उसमे ले जाते" हैं। यह हमारी शक्ति के नितान्त परे है कि हम स्वय को तत्त्वमीमासा में ले जायें क्योंकि जिस सीमा तक हमारा अस्तित्व है हम पहले ही उसमे हैं। ΦvoEl γap, ω ΦιλE, EVEOT'L TIS Φιλοσοφin Tn TOU avδPos διavoια (प्लेटो फीड्रस २७९१)। जब तक मनुष्य का अस्तित्व है, किसी न किसी प्रकार की दार्शनिक प्रक्रिया भी चलेगी। दर्शन, जैसा हम मानते है, तत्त्वमीमासा को गति देना है, तथा तत्त्वमीमासा मे दर्शन अपनी वास्तविक स्थिति ग्रहण करता है तथा अपने व्यक्त कार्यो को करना आरम्भ करता है। पूर्ण के रूप मे सत् की आधार-सम्भावनाओं में पूर्ण एकाग्रता से दर्शन का उत्प्लवन ही, जो केवल उसी के लिए समव है, उसकी गति का एक मात्र कारण है। इस उत्प्लवन के लिए निम्न बातें निर्णायक महत्त्व की है प्रथम, समग्रता-मे-जो-है के लिए स्थान छोडना, द्वितीय, अपने को कुछ-नहीं में जाने देना, अर्थात् उन मूर्तियों से मुक्त करना जो हम सभी की है तथा जिनसे दबे रहने की हमारी प्रवृत्ति है, अन्तत इस 'अनिश्चय" को स्वेच्छित दिशा लेने देना जिससे वह निरन्तर, तत्त्वमीमासा के आधार प्रश्न की ओर पुन लौटे, जिसे स्वय कुछ-नहीं से निस्सृत किया गया है

सत् ही क्यो है—केवल कुछ-नहीं ही क्यों नहीं ?

अनुलेख

तत्त्वमीमांसा ऐसा शब्द है जिससे, चाहे वह कितना ही अमूर्त तथा चिन्तन के निकट क्यो न हो, हम में से अधिकाश इस प्रकार भागते हैं जिस प्रकार किसी ताडन पीडित से। हेगेल (१७७०-१८३१) वर्क्स सग्रह, पृ ४००।

यह प्रश्न "तत्त्वमीमासा क्या है ?" प्रश्न ही रह जाता है। जो इस प्रश्न में लगे रहते हैं, उनके लिए निम्न अनुलेख एक प्राक्कथन की भाति है। यह प्रश्न कि 'तत्त्वमीमासा क्या है ?" एक ऐसे प्रश्न को उठाता है जो तत्त्वमीमांसा के परे की बात है। यह चिन्तन के उस ढग का परिणाम है जो पहले ही तत्त्वमीमासा को अकुश में लाने के प्रयास में प्रविष्ट हुआ है। यह इस प्रकार की सक्रान्तियों का तत्त्व है कि किन्हीं निश्चित सीमाओं में, वे उसकी भाषा को बोलने के लिए बाध्य हैं जिसे वह जीतना चाहती हैं। हमें उन विशिष्ट परिस्थितियो के द्वारा जिनमे तत्त्वमीमांसा की प्रकृति से सम्बन्धित हमारी खोज हुई है, इस भ्रांत मत की ओर नहीं जाना चाहिए कि यह प्रश्न विज्ञानो को आरम्भिक बिन्दु बनायेगा। आधुनिक विज्ञान, जो-है को स्थापित करने तथा उसकी धारणा बनाने के नितान्त भिन्न रास्तों के साथ, सत्य की उस

तब उस स्थिति मे यह पुरानी उक्ति ex nihilo nihil fit एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेती है, तथा ऐसा अर्थ जो सत स्वय की समस्या के अधिक उपयुक्त है तथा जो इस प्रकार है ex nihilo omne ens qud ens fit प्रत्येक सत्, जिस सीमा तक वह सत् है, कुछ नही से उत्पन्न है। केवल अस्तित्व की शून्यता मे, अपनी विशिष्ट सम्भावनाओ के अनुकूल अर्थात् एक सीमित रूप मे समग्रता–मे–जो–है, अपने को प्राप्त कर पाता है। तब किस सीमा तक, 'कुछ–नहीं' मे अन्वीक्षण, यदि यह वास्तव मे तत्त्वमीमासात्मक हो, हमारे अपने अन्वेपक अस्तित्व को अन्तर्भूत करता है।

हमारे अस्तित्व का ऐहिक अनुभूत रूप, जैसा हम कह चुके हैं, विज्ञान से शासित है। यदि हमारा अस्तित्व, जो इस प्रकार नियमित है, 'कुछ–नहीं' से सम्बन्धित इस प्रश्न मे रखा जाय, तो यह परिणाम निकलता है कि यह इस प्रश्न के द्वारा स्वय प्रश्न का विषय बनाया गया है।

वैज्ञानिक अस्तित्व की सरलता तथा तीव्रता इस बात मे है कि वह जो–है से एक विशिष्ट रूप मे तथा केवल उसी से सम्बन्धित है। विज्ञान बडप्पन की मुद्रा मे 'कुछ–नहीं' को छोडना चाहेगा। किन्तु अब इस 'कुछ–नहीं' के प्रश्न में यह स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक अस्तित्व तभी सम्भव है जब उसे आरम्भ मे ही 'कुछ–नही' में प्रक्षेपित किया जाय। विज्ञान अपने साथ तभी समझौता कर सकता है जब वह 'कुछ–नही' को नही छोडे। विज्ञान की तथाकथित गम्भीरता तथा उच्चता हास्यास्पद हो जाती है, यदि यह 'कुछ–नहीं' को गम्भीर रूप मे नही ले पाता। केवल इसलिए कि 'कुछ–नहीं' स्पष्ट है विज्ञान जो–है को अन्वीक्षण के विपय के रूप मे ग्रहण कर सकता है। केवल तभी, जब विज्ञान तत्त्वमीमासा से अग्रसर होता है, वह अपने तात्त्विक कार्य को सदैव ही जीत सकता है, जो ज्ञान को एकत्रित करने तथा उसके वर्गीकरण करने का नही है, अपितु सत्य के समस्त क्षेत्र के सतत् उद्घाटन का है, चाहे प्रकृति में, चाहे इतिहास में।

केवल इसलिए कि 'कुछ–नही' हमारे अस्तित्व के आधार मे ही प्रकट होता है, जो–है के नितान्त अपरिचय का हम पर प्रकट होना सभव है। जब जो–है का अपरिचय स्वय हम पर प्रकट होता है, केवल तभी यह हमारे आश्चर्य को जागृत तथा निमन्त्रित करता है। केवल आश्चर्य अर्थात् 'कुछ–नहीं' के प्रकाश के कारण हमारे ओष्ठो पर "क्यो ?" उपस्थित होता है। केवल इसलिए कि यह "क्यो ?" इस प्रकार सभव है, हम एक निश्चित रूप में युक्तियो तथा प्रमाणो को खोज सकते हैं। केवल इसी कारण कि हम प्रश्न कर सकते हैं तथा प्रमाणित कर सकते हैं, हमारी नियति इस जीवन में अन्वीक्षक की हो जाती है।

कुछ–नहीं का अन्वीक्षण हमे अर्थात् अन्वीक्षको को ही प्रश्न का विषय बना देता है। यह तत्त्वमीमासात्मक प्रश्न है।

मनुष्य का अस्तित्व जो-है से केवल कुछ-नहीं में प्रक्षेपण के द्वारा ही सम्बन्धित हो सकता है। जो-है के परे जाना अस्तित्व का तत्त्व है। किन्तु यह "परे जाना" स्वय तत्त्वमीमासा है। इसीलिए तत्त्वमीमासा मनुष्य की प्रकृति का अग है। वह न ही स्कूलवादियो के दर्शन का

विभाग है और न ही आकस्मिक प्रत्ययों का क्षेत्र। तत्त्वमीमांसा अस्तित्व की आधार प्रतीति है। वह स्वय अस्तित्व है। क्योंकि तत्त्वमीमांसा का सत्य इतना अगाध है, गहनतम भूल का प्रच्छन्न भय सदैव बना रहता है। अत कोई भी वैज्ञानिक अध्ययन तत्त्वमीमांसा की गम्भीरता की समानता करने की आशा नहीं कर सकता। दर्शन कभी भी विज्ञान की धारणा के प्रतिमान से नहीं आंका जा सकता।

कुछ नहीं की प्रकृति के सम्बन्ध मे हमारे द्वारा विकसित यह प्रश्न यदि एक बार हमारे ही द्वारा तथा हमारे ही मध्य मे वस्तुत पूछा जाय तो हम तत्त्वमीमांसा को कहीं बाहर से नहीं लाते हैं। न ही हम स्वय को उसमे ले जाते हैं। यह हमारी शक्ति से नितान्त परे है कि हम स्वय को तत्त्वमीमांसा मे ले जायें क्योंकि जिस सीमा तक हमारा अस्तित्व है हम पहले ही उसमे हैं। ΦvoEl γap, ω ΦιλE, EΝ EOTL TIS Φιλοσοφια Tα TOU ανδΡos διανoια (प्लेटो फीडरस २७९१)। जब तक मनुष्य का अस्तित्व है, किसी न किसी प्रकार की दार्शनिक प्रक्रिया भी चलेगी। दर्शन, जैसा हम मानते हैं, तत्त्वमीमांसा को गति देना है, तथा तत्त्वमीमांसा मे दर्शन अपनी वास्तविक स्थिति ग्रहण करता है तथा अपने व्यक्त कार्यों को करना आरम्भ करता है। पूर्ण के रूप मे सत् की आधार-सम्भावनाओं मे पूर्ण एकाग्रता से दर्शन का उत्प्लवन ही, जो केवल उसी के लिए सभव है, उसकी गति का एक मात्र कारण है। इस उत्प्लवन के लिए निम्न बातें निर्णायक महत्त्व की है प्रथम, समग्रता मे-जो है के लिए स्थान छोडना, द्वितीय, अपने को कुछ-नहीं में जाने देना, अर्थात् उन मूर्तियो से मुक्त करना जो हम सभी की हैं तथा जिनसे दबे रहने की हमारी प्रवृत्ति है, अन्तत इस 'अनिश्चय'' को स्वेच्छित दिशा लेने देना जिससे वह निरन्तर, तत्त्वमीमांसा के आधार प्रश्न की ओर पुन लौट, जिसे स्वय कुछ-नहीं से निस्सृत किया गया है

सत् ही क्यो है—केवल कुछ नहीं ही क्यों नहीं ?

अनुलेख

तत्त्वमीमांसा ऐसा शब्द है जिससे, चाहे वह कितना ही अमूर्त तथा चिन्तन के निकट क्यों न हो, हम मे से अधिकांश इस प्रकार भागते हैं जिस प्रकार किसी ताडन पीडित से। हेगेल (१७७० १८३१) वर्क्स सग्रह, पृ ४००।

यह प्रश्न "तत्त्वमीमांसा क्या है ?" प्रश्न ही रह जाता है। जो इस प्रश्न मे लगे रहते हैं, उनके लिए निम्न अनुलेख एक प्राक्कथन की भाति है। यह प्रश्न कि 'तत्त्वमीमासा क्या है ?" एक ऐसे प्रश्न को उठाता है जो तत्त्वमीमासा के परे की बात है। यह चिन्तन के उस ढग का परिणाम है जो पहले ही तत्त्वमीमासा को अकुश में लाने के प्रयास मे प्रविष्ट हुआ है। यह इस प्रकार की सक्रान्तियों का तत्त्व है कि किन्हीं निश्चित सीमाओं में, वे उसकी भाषा को बोलने के लिए बाध्य हैं जिसे वह जीतना चाहती हैं। हमें उन विशिष्ट परिस्थितियो के द्वारा जिनमे तत्त्वमीमांसा की प्रकृति से सम्बन्धित हमारी खोज हुई है, इस भ्रात मत की ओर नहीं जाना चाहिए कि यह प्रश्न विज्ञानो को आरम्भिक विन्दु बनायेगा। आधुनिक विज्ञान, जो ६ को स्थापित करने तथा उसकी धारणा बनाने के नितान्त भिन्न रास्तों के साथ, सत्य की उस

आधारभूत विशेषता मे प्रविष्ट हो गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक वह वस्तु जो "है" सकल्प के प्रति सकल्प की विशेषता से युक्त है, जिस-"शक्ति के सकल्प"-के प्रारूप मे समस्त गोचर आरम्भ हुआ। जो है की "अस्ति ता" [Seiendheit] की आधारभूत विशेषता के रूप मे गृहीत, 'सकल्प", यथार्थ तथा जो-है का समीकरण है, इस रूप मे कि यथार्थ की यथार्थता ऐसी सम्प्रभुत्व शक्ति से विभूषित हो जाती है जिससे सामान्य वस्तुकरण किया जा सकता है। आधुनिक विज्ञान न ही उस उद्देश्य की पूर्ति करता है जो उसे मूल रूप मे सौंपा गया, न ही वह सत्य के निजत्व को खोजता है। जो-है के वस्तुकरण की विधि के रूप मे, परिकलन के द्वारा, यह एक ऐसी अवस्था है, जो सकल्प के द्वारा सकल्प के प्रति लागू की जाती है, जिसके द्वारा सकल्प के प्रति सकल्प अपनी सम्प्रभुता प्राप्त करता है। किन्तु क्योंकि जो-है का समस्त वस्तुकरण, जो है की स्थापना तथा सुरक्षा मे समाप्त होता है, तथा इस प्रकार अपने लिए आगे बढने की सभावना की व्यवस्था करता है, यह वस्तुकरण जो-है मे अटक कर रह जाता है तथा इसे ही सत् से कम नही मानता। जो-है के प्रति प्रत्येक सम्बन्ध, इस प्रकार सत् के ज्ञान का साक्षी है, किन्तु साथ ही इस ज्ञान के सत्य को प्रामाणिकता देने मे स्वय अपनी असमर्थता का भी। यह सत्य केवल जो-है के विषय मे सत्य है। तत्त्वमीमासा इस सत्य का इतिहास है। यह हमें, जो-है की "अस्ति ता" के प्रत्ययीकरण के द्वारा, यह बताती है कि जो है क्या है। जो-है की "अस्ति-ता" मे तत्त्वमीमासा सत् की धारणा के विषय मे विचार करती है किन्तु विचार की अपनी विशिष्ट पद्धति से युक्त सत् के सत्य पर विचार की सामर्थ्य के बिना। तत्त्वमीमासा सत् के सत्य के क्षेत्र मे सर्वत्र विचरण करती है, वह सत्य जो अज्ञात तथा अगाध भूमि बना रहता है। किन्तु यह मानते हुए कि न केवल जो है सत् से निष्पन्न होता है, किन्तु उस रूप मे, जो और भी मौलिक है सत् स्वय अपने सत्य मे सुस्थिर है, तथा सत का सत्य, सत्य के सत् का कार्य है, हमे यह अनिवार्यतया पूछना चाहिए कि तत्त्वमीमासा स्वय अपने आधार में क्या है। इस प्रश्न को तत्त्वमीमासात्मक रूप में विचार करना चाहिए तथा साथ ही, तत्त्वमीमासा के आधार के रूप मे सोचना चाहिए, अर्थात् अब तत्त्वमीमासात्मक रूप मे नही। ये सारे प्रश्न एक तात्त्विक अर्थ में सन्दिग्ध रहते हैं।

अत पूर्वोक्त व्याख्यान के विचार प्रवाह को ग्रहण करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न अनिवार्यतया बाधाओ से पूर्ण होगा। यह अच्छा ही है। इससे हमारी जिज्ञासा अधिक वास्तविक होगी। वे सभी प्रश्न जो विषय के साथ न्याय करते हैं, स्वय अपने उत्तरो के लिए सेतु हैं। तात्त्विक उत्तर सदैव हमारी जिज्ञासा मे केवल अन्तिम चरण हैं। किन्तु अन्तिम चरण, प्रथम तथा बाद के चरणों की लम्बी शृखला के बिना उठाना सभव नहीं है। तात्त्विक उत्तर अपनी प्रेरक शक्ति को, प्रश्न करने की प्रत्युत्पन्नता से प्राप्त करता है, तथा उस दायित्व का केवल आरम्भ है जहा प्रश्न करने की बात नवीकृत मौलिकता से उठती है। अत अत्यन्त वास्तविक प्रश्न भी प्राप्त उत्तर से शान्त नहीं होता।

व्याख्यान के विचार को समझने मे दो प्रकार की बाधाए हैं। प्रथम तो, उन पहेलियो से उत्पन्न होती हैं जो विचार के इस क्षेत्र मे छिपी हैं। दूसरी बाधाए विचारने की असमर्थता तथा बहुधा अनिच्छा से उत्पन्न होती हैं। दिमागी खोज के क्षेत्र में क्षणिक सकेत भी कभी कभी

सहायक हो सकते हैं। यद्यपि वास्तविक सहायता उन्ही से प्राप्त होती है जिन्हें ध्यानपूर्वक माना गया हो। भारी भूलें भी, जो अध वादविवाद की उग्रता में लिप्त होती हैं, फलदायी हो सकती हैं। केवल, चिन्तन को प्रत्येक वस्तु को, धैर्यपूर्ण मनन की शान्त अवस्था में, वापस न लेना चाहिए।

जो प्रमुख भ्रान्त धारणाएं अथवा शंकाएं इस व्याख्यान में उत्पन्न हुई हैं, तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं

१ व्याख्यान में 'कुछ-नहीं' को तत्त्वमीमांसा का एक मात्र विषय मान लिया गया है। क्योंकि कुछ नहीं केवल शून्यात्मक है [Das Nichtige]। इस प्रकार का चिन्तन इस परिणाम को उत्पन्न करता है कि प्रत्येक वस्तु निस्सार है, जिससे न तो जीने का ही कोई मूल्य है और न ही मरने का। "कुछ नहीं का दर्शन" 'शून्यवाद" पर अन्तिम शब्द है।

(२) व्याख्यान में एकांगी तथा इससे भी अधिक एक रुग्ण अवस्था अर्थात् आग्स्ट को केन्द्रीय मनोवृत्ति के स्तर पर रख दिया गया है। क्योंकि आग्स्ट सम्भ्रान्त तथा कायर लोगों की मन स्थिति है, इस प्रकार का चिन्तन, साहसी लोगों की दृढ दृष्टि का अवमूल्यन करता है। 'आग्स्ट का दर्शन" कर्म के संकल्प को बेकार कर देता है।

(३) व्याख्यान "तर्कशास्त्र" का विरोध करता है। किन्तु क्योंकि बुद्धि में समस्त परि-कलन तथा वर्गीकरण के प्रतिमान हैं, इस प्रकार का चिन्तन सत्य से सम्बन्धित सभी निर्णयों को, क्षणिक मनोवृत्ति पर छोड देता है। "मात्र अनुभूति का दर्शन" कार्य की निश्चयात्मकता को तथा "सुनिश्चित" चिन्तन को खतरे में डालता है।

इन उक्तियों के प्रति सही दृष्टि व्याख्यान पर पुन विचार करने से उभरेगी। उससे यह स्पष्ट हो सकता है कि कुछ-नहीं, जो आग्स्ट की समस्त प्रकृति को निश्चित करता है, जो है के रिक्त निषेध द्वारा परिशेष किया जा सकता है, अथवा क्या वह जो कभी भी तथा कहीं भी नहीं 'है" अपने को उस रूप में प्रकट करता है जो, जो भी कुछ "है" अर्थात् जिसे हम 'सत्" कहते हैं, से भिन्न है। विज्ञान चाहे कहीं भी तथा कितनी ही गहनता से जो-है का अन्वी-क्षण करे वह सत् को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। सदा, जो उसके सम्मुख आता है, वह केवल जो है है, क्योंकि उसका व्याख्यात्मक उद्देश्य उसे जो है पर आरम्भ से ही बल देने के लिए बाध्य करता है। किन्तु सत् जो-है का विद्यमान गुण नहीं, न ही, जो है से अंश रूप में सत् को वस्तुनिष्ठ रूप में सोचा एवं स्थापित किया जा सकता है। यह प्रत्येक वस्तु जो "है" से शुद्ध "अन्य", वह जो-नहीं-है [Das Nicht Seiende] है। फिर भी यह "कुछ नहीं" सत् के रूप में कार्यशील है। इस बिन्दु पर चिन्तन बन्द कर देना तथा, यह सरल व्याख्या मान लेना कि कुछ-नहीं केवल नाशमान है तथा उसे तत्त्वहीन [Das Wesenlose] से समीकृत करना, अपरि-पक्व होगा। इस प्रकार की खतरनाक तथा रिक्त चतुराई के वश में आने, तथा अपने अर्थों की समस्त रहस्यात्मक विविधता से युक्त कुछ-नहीं को छोडने के स्थान पर, हमें केवल एक बात के लिए स्वयं को तत्पर बनाना तथा तैयार करना चाहिए कुछ नहीं में उसकी अपारता का अनुभव करने के लिए जो प्रत्येक वस्तु को अस्तित्व का अधिकार देती है। वह स्वयं सत् है।

सत् के बिना, जिसका अथाह तथा अव्यक्त तत्त्व तात्त्विक आग्स्ट मे कुछ नही के द्वारा हमारे लिए स्वीकृत है, प्रत्येक वस्तु जो "है" सत्हीनता [Sein Losigkeit] मे रह जायगी। किन्तु यह भी अपनी बारी मे निस्सार कुछ नहीं नही है, यह मानते हुए कि यह सत् का सत्य है, कि सत् जो-है के बिना भी, हो सकता है, परन्तु जो-है बिना सत के कभी नही हो सकता

प्रत्येक वस्तु जो 'है" उससे "अन्य" के रूप मे सत् का अनुभव हमे आग्स्ट मे होता है, यदि हम आग्स्ट के आतक से अर्थात् भीरुता मात्र में उस ध्वनिहीन आवाज़ के प्रति अपने कान बद न कर लें जो हमे अतल के आतक से समस्वर बनाती है । स्वाभाविक है कि यदि, तात्त्विक आग्स्ट के इस मामले मे हम व्याख्यान के विचार-प्रवाह से इच्छानुसार अलग हट जाय, यदि हम उस आवाज़ से उत्पन्न मनोदशा के रूप मे विचारित आग्स्ट को कुछ नहीं के सम्बन्ध से पृथक कर लें तब आग्स्ट एक एकान्तिक "अनुभूति" रह जाती है जिसका हम विश्लेषण करते हैं तथा जिसकी हम दूसरी उन अनुभूतियो से, जो भली भाति ज्ञात मनोवैज्ञानिक प्रकारो की सूची मे आती हैं वैषम्य दिखा सकते हैं। "उच्च" तथा "निम्न" के साधारण भेद से सकेत लेकर हम विभिन्न मनोवृत्तियो को वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं वे जो उत्थानकारी हैं, तथा वे जो पतनकारी हैं। किन्तु 'अनुभूतियो" के "प्रकारो", तथा "प्रति-प्रकारो", इन प्रकारो के 'भेदो तथा उपभेदो का यह सोत्साह अन्वेषण हमें कभी किसी परिणाम पर नही पहुचाएगा। मनुष्य के नृशास्त्रीय अध्ययन के लिए व्याख्यान की विचार दिशा को समझना सदैव असभव होगा, क्योकि व्याख्यान यद्यपि वह सत् की आवाज़ पर ध्यान देता है, तथापि उसके परे इस आवाज़ के द्वारा उत्पन्न समस्वरता मे विचार करता है, उस समस्वरता मे जो तात्त्विक मनुष्य पर इस प्रकार छा जाती है कि वह कुछ-नहीं मे सत् का अनुभव करे।

आग्स्ट के लिए तत्परता, वस्तुओ की आन्तरिकता के प्रति "हा !" कहना है उस सर्वोच्च माग को पूरा करना है, केवल जो ही मनुष्य के मर्म का स्पर्श करती है। सभी प्राणियो मे केवल मनुष्य ही, जब वह सत् की आवाज के द्वारा सम्बोधित होता है, समस्त आश्चर्यो के आश्चर्य कि जो-है है, का अनुभव करता है । अत वह सत् जो अपने तत्त्व मात्र मे सत के सत्य के प्रति आहूत होता है, एक तात्त्विक अर्थ में सदैव समस्वर होता है । तात्त्विक आग्स्ट के लिए निर्भीक साहस, सभी सभावनाओं में से सर्वाधिक रहस्यात्मक अर्थात् सत् के अनुभव को सुनिश्चित बना देता है। कारण कि, तात्त्विक आग्स्ट के निकट, अतल के त्रास मे, आश्चर्यान्वितभय [Sheu] का निवास है। आश्चर्यान्वितभय मानवीय सत्व के उस क्षेत्र को जिसके मध्य मनुष्य, घर के समान सहते रहने मे सहता है, अगीकार करता है तथा उसे स्पष्ट बनाता है।

दूसरी ओर आग्स्ट की आग्स्ट, उतनी दूर जा सकती है कि आग्स्ट के तत्त्व में उपलब्ध होने वाले उन साधारण सम्बन्धो को ग्रहण करने में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। समग्र साहस को भी क्या मिलेगा यदि यह तात्त्विक आग्स्ट के अनुभव का नैरन्तरिक आश्रय न ले ? जिस सीमा तक हम इस तात्त्विक आग्स्ट को तथा उसमे सत् के प्रति मनुष्य के लिए स्पष्ट किये गये सम्बन्ध को अविकृत करते हैं, हम साहस के तत्त्व को हल्का बनाते हैं। साहस कुछ नहीं को सह सकता है अतल के त्रास मे, सत् के समस्त किंतु अपरिचित क्षेत्र मे यह उस "स्पष्टी-

करण" से परिचित है, जहाँ से प्रत्येक वस्तु जो "है" जो वह है, में लौटती है तथा सत्तावान् होने में समर्थ होती है। हमारे व्याख्यान में न ही कोई "प्रारम्भ या दर्शन" प्रस्तुत किया गया है, और न ही वह एक 'वौद्धिक' दर्शन होने का भ्रम उत्पन्न करता है। उसका एकमात्र विचार वह वस्तु है, जो पाश्चात्य चिन्तन में एक चिन्तनीय वस्तु अर्थात् सत के रूप में प्रारम्भ में उदित हुई है। किन्तु सत चिन्तन से उत्पन्न नहीं है। अधिक सम्भव यह है कि तात्त्विक चिन्तन सत के घटने का एक रूप है।

इस कारणवश अब हम पर मुश्किल से सविनयम्त यह प्रश्न प्रकट होता है कि क्या इस प्रकार का चिन्तन अपने सत्य के विधान के अनुरूप है जबकि यह केवल उस चिन्तन का अनुसरण करता है जिसके रूप तथा नियम "तर्कशास्त्र" का निर्माण करते हैं ? हम इस शब्द को इनवर्टेड कोमो [" "] में क्यों रखते हैं ? यह संकेत देने के निमित्त कि "तर्कशास्त्र" केवल चिन्तन की प्रकृति की एक अभिव्यक्ति है तथा एक ऐसी अभिव्यक्ति, जैसा कि इसके नाम से व्यक्त है जो यूनानी विचार में प्राप्त सत के अनुभव पर आधारित है। "तर्कशास्त्र" जिसकी तार्किक अधोगति "तर्कशास्त्रीय अध्ययन" [Logistics] में देखी जा सकती है, के विरुद्ध प्रेरक प्रवृत्ति उस चिन्तन के ज्ञान से उत्पन्न होती है जिसका स्रोत जो-है की वस्तुनिष्ठता के निरीक्षण में न होकर सत् के सत्य के अनुभव में है। "सुनिश्चित" चिन्तन कभी भी सर्वाधिक सनियमित चिन्तन नहीं होता, यदि सनियमितता का तत्त्व उस उद्योगशीलता में है जिससे ज्ञान जो-है की तात्त्विक विशेषताओं से सम्पर्क रखता है। 'सुनिश्चित" चिन्तन स्वयं को केवल जो-है के परिकलन से आबद्ध रखता है तथा केवल उसी के विषय में सक्रिय होता है।

समग्र परिकलन परिकलनीय को योग में "निष्पन्न करता है" जिससे इस योग का अगली गणना के लिए उपयोग किया जा सके। जिसका परिकलन सम्भव है उसके अतिरिक्त परिकलन के लिए किसी की भी महत्ता नहीं है। कोई भी विशिष्ट वस्तु क्या है इसका बोध केवल इस बात से होता है कि "योग में" उसका स्थान क्या है तथा कोई भी योग गणना में आगे की प्रगति को सुनिश्चित बनाता है। इस प्रक्रिया में संख्याओं का निरन्तर उपयोग होता है तथा यह प्रक्रिया स्वयं एक सतत आत्म उपभोग है। जो है की सहायता से परिकलन की "निष्पत्ति" जो-है के सत् की व्याख्या का स्थान रखती है। प्रत्येक वस्तु जो "है" उसे परिकलन पहले से ही संगणन की इकाइयों के रूप में प्रयुक्त करता है, तथा संगणन में, अपनी इकाइयों के भंडार का उपयोग करता है। जो है का यह उपभोग परिकलन की उपभोगात्मक प्रकृति को प्रकट करता है। संख्या का अपरिमित रूप में गुणन किया जा सकता है-बिना इस बात का ध्यान किये हुए कि यह अधिक की दिशा में जा रहा है या न्यून की—केवल इसीलिए परिकलन की उपभोगात्मक प्रकृति के लिए अपने गुणन 'फलों" के पीछे छिपना, तथा परिकलनात्मक चिन्तन को 'फलोत्पादकता" का आभास देना सम्भव है—जब कि केवल अपने परिणाम में ही नहीं अपितु ऐसी वस्तुमात्र के रूप में जिसका उपभोग अथवा जिसकी व्यवस्था की जा सके, जो-है को स्वीकृत करने की बात परिकलन के प्रमुख तत्त्व की है। परिकलनात्मक चिन्तन अपनी प्रक्रिया के तार्किक पदों में प्रत्येक वस्तु पर काबू करने के लिए स्वयं को बाध्य करता है। उसे इस तथ्य का कोई ज्ञान

नही है कि उसके योगो एव गुणनफलो को निकालना आरम्भ करने के पूर्व ही परिगणन मे जो कुछ भी परिकलनीय है वह पहले ही एक पूर्ण है, एक ऐसा पूर्ण जिसका एकत्व स्वभावतया अपरिकलनीय से सम्बन्धित है, जो अपने रहस्य के द्वारा सदैव परिकलन की पकड से बचता रहा है, किन्तु वह जो सदैव तथा सर्वत्र आरम्भ से ही परिकलन की मागों के लिए अनुपलब्ध है तथा उसके बावजूद भी किसी भी वस्तु जो 'है", किसी भी वस्तु जिसको वह नियोजित तथा व्यवस्थित कर सकता है, की अपेक्षा रहस्यात्मक अज्ञेयता मे मनुष्य के सदैव निकटतर है। यह कभी कभी तात्त्विक मनुष्य को उस चिन्तन के सम्पर्क मे ले आता है, जिसके सत्य को कोई "तर्कशास्त्र" ग्रहण नही कर सकता। वह चिन्तन जिसके विचार न केवल परिकलन ही नही करते, अपितु पूर्णतया जो-है से जो "अन्य" है के द्वारा निर्धारित होते हैं, तात्त्विक चिन्तन कहा जा सकता है। जो-है के साथ जो-है को जोडने के स्थान पर सत् के सत्य के लिए यह सत मे अपना व्यय करता है। यह चिन्तन सत् की मागो की पूर्ति इस प्रकार करता है, कि मनुष्य अपनी ऐतिहासिक सत्ता उस सरल तथा एकमात्र अनिवार्यता को समर्पित कर देते हैं जिसके दबाव उस आवश्यकता को उतना उत्पन्न नही करते जितना कि अभाव [Not] को जो उत्सर्ग की स्वतन्त्रता मे पूर्णता को प्राप्त होता है। आवश्यकता यह है सत् के सत्य की रक्षा हो, चाहे मनुष्य तथा प्रत्येक वस्तु जो 'है" को कुछ भी क्यो न हो। स्वतन्त्रता के अतल से उत्पन्न होने के कारण सभी दबावो से स्वतन्त्र यह उत्सर्ग जो-है के सम्बन्ध मे-सत् के सत्य के संरक्षण के लिए हमारी मानवीय सत्ता का व्यय है। उत्सर्ग मे वह प्रच्छन्न कृतज्ञता अभिव्यक्त होती है, केवल जो उस श्री को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती है जिससे सत् ने मनुष्य की प्रकृति को विभूषित किया है इसलिए कि सत् के प्रति अपने सम्बन्ध में वह सत् की अभिभावकता को ग्रहण कर सके। मौलिक कृतज्ञता सत् के उपकार की गूज है जिसमे वह अपने लिए स्थान बनाती है तथा एक विलक्षण घटना को घटाती है कि जो-है है। सत् की ध्वनिहीन आवाज़ के प्रति, यह गूञ्ज मनुष्य का उत्तर है। उत्सर्ग के द्वारा उसका कृतज्ञतापूर्ण निर्वाक उत्तर मानवीय शब्द का स्रोत है, जो शब्दो मे शब्द की अभिव्यक्ति के रूप मे भाषा का प्रथम कारण है। यदि ऐतिहासिक मनुष्य के हृदय में कभी कभी कृतज्ञता न हो, वह कभी भी उस चिन्तन-यह मानते हुए कि समस्त संशय [Bedenken] तथा स्मृति [Andenken] में चिन्तन [Denken] सन्निहित है-को प्राप्त नहीं कर पाता, मूलत सत् का विचार जिसका चिन्त्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त मानवता किस प्रकार मौलिक कृतज्ञता को प्राप्त करती, यदि मनुष्य के लिए सत् का उपकार, उस भव्य दारिद्र्य के रूप मे जिसमे उत्सर्ग की स्वतन्त्रता अपनी निधि को छिपाती है, इस उपकार के साथ मनुष्य के खुले सम्बन्ध के द्वारा सरक्षित नही होता। सत् के उपकार को सरक्षित करने की दिशा में, उत्सर्ग प्रत्येक वस्तु जो "है" के प्रति एक विदावचन है। जो-है के मध्य कार्य करके, उत्सर्ग की तैयारी तथा उसका क्रियान्वीकरण किया जा सकता है, परन्तु वहाँ उसका पूर्ण उत्कर्ष कभी भी नही होता। उसका पूर्णोत्किप आन्तरिकता से निष्पन्न होता है, जहाँ से ऐतिहासिक मनुष्य अपने कार्यों—तात्त्विक चिन्तन भी एक कर्म है—के द्वारा उस अस्तित्व को जिसे उसे अपने लिए जीना है, सत् की गरिमा की रक्षा के लिए समर्पित करता है। यह आन्तरिकता एक ऐसी प्रशान्ति है जो मनुष्य के, समस्त उत्सर्ग की विदा सम्बन्धी प्रकृति के

लिए प्रच्छन्न तत्परता को किसी के द्वारा आघात पहुँचने नहीं देती। उत्सर्ग का मूल उस घटना की प्रकृति मे है, जिसके द्वारा सत्, सत् के सत्य के लिए मनुष्य पर अपना अधिकार घोषित करता है। अत स्थिति यह है कि उत्सर्ग किसी परिकलन को सहन नहीं करता, क्योंकि परिकलन उत्सर्ग को सदैव उपादेय तथा अनुपादेय के शब्दों मे गलत आंकता है, इससे कोई अन्तर नही पडता कि लक्ष्य ऊँचे अथवा नीचे रखे गय हैं। इस प्रकार का परिकलन उत्सर्ग की प्रकृति को विकृत करता है। लक्ष्य की खोज अनश्वर के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने वाले आंग्स्ट के लिए तत्पर उत्सर्ग की भावना रूपी आश्चर्यान्वितभय की स्पष्टता को निस्तेज बना देती है।

सत् का विचार जो है मे किसी आश्रय को नही खोजता। तात्त्विक चिन्तन परिवर्तनीय के मन्द चिह्नों को देखता है तथा इसमे अपरिहार्य के अकल्पनीय आगमन को देखता है। इस प्रकार का चिन्तन सत् के सत्य का ध्यान रखता है तथा इस प्रकार सत्य के सत् को मनुष्य के इतिहास मे अपना स्थान बनाने मे योग देता है। यह योग किसी प्रभाव को उत्पन्न नही करता, क्योंकि उसे किसी प्रभाव की आवश्यकता नहीं है। तात्त्विक चिन्तन अस्तित्व की सरल आन्तरिकता के रूप मे योग देता है, उस सीमा तक जिस सीमा तक यह आन्तरिकता यद्यपि उसमे इस प्रकार के चिन्तन की, या उसका सैद्धान्तिक ज्ञान रखने की सामर्थ्य नही होती, अपने ही प्रकार को प्रज्वलित करती है।

सत् की आवाज के प्रति आज्ञाकारी विचार उस शब्द को खोजता है जिसके द्वारा सत् के सत्य की अभिव्यक्ति हो सके। जब ऐतिहासिक मनुष्य की भाषा शब्द से उत्पन्न होती है केवल तभी यह सत्य प्रतीत होता है। किन्तु यदि वह सत्य प्रतीत होता है, तो गुप्त स्रोतों की ध्वनिहीन आवाज का साक्ष्य, उसे सदैव लुभाता है। सत् का विचार शब्द की सुरक्षा करता है और इस प्रकार के संरक्षण मे अर्थात् भाषा के उपयोग की सावधानी मे, अपने कार्य की पूर्ति करता है। सुरक्षित निर्वाकता तथा इस प्रकार से स्पष्ट किये गये क्षेत्र के सावधान स्पष्टीकरण से, विचारक का कथन निष्पन्न होता है। कविकृत नामकरण का मूल भी इसी के सदृश है। किन्तु, क्योंकि सदृश केवल उसी सीमा तक सदृश है जिस सीमा तक यह वैसादृश्य के कारण सम्भव होता है, क्योंकि कविता तथा चिन्तन, अपनी शब्द की सावधानी मे अत्यन्त शुद्ध रूप मे सदृश हैं अपने तत्त्व मे वे दोनो वस्तुएँ एक दूसरे की नितान्त विरोधी है। विचारक सत् का कथन करता है। कवि, जो पवित्र है, उसे अभिहित करता है।

हम दर्शन तथा कविता के मध्य सम्बन्धों के विषय में कुछ जान सकते हैं, किन्तु हम उस कथोपकथन के विषय में कुछ नहीं जानते जो कवि तथा विचारक के बीच होता है, जो "सुदूरतम दो पर्वतों पर एक दूसरे के निकट निवास करते हैं।"

आंग्स्ट[1] आतंक के अर्थ में निर्वाकता के तात्त्विक रंगमंचों में से एक है, जिसमें कुछ

---

१ जर्मन 'आंग्स्ट' के कई अर्थ हैं 'पीड़ा', 'चिन्ता' तथा 'भय'। हाईडेगर के प्रयोग में, किसी न किसी रूप मे इनमें से प्रत्येक का पुट है। इसके अतिरिक्त हाईडेगर जर्मन मे भी आंग्स्ट का विशिष्ट प्रयोग करता है जो इस व्याख्यान में उसके स्पष्टीकरण से स्पष्ट है। हिन्दी मे 'संताप' 'सत्रास' आदि शब्दों का प्रयोग 'आंग्स्ट' के लिए किया जाता है, पर उससे अर्थ का अनर्थ होने की अधिक संभावना है, अत यहाँ 'आंग्स्ट' को मूल रूप में ही रहने दिया गया है।—अनु०।

नही का अतल हमें धकेल देता है । जो-है से नितान्त "अन्य" के रूप में विचारित कुछ नहीं सत् का आवरण है । जो है में जो भी कुछ घटता है, वह सत् में चिरन्तन से पूर्णता ग्रहण करता है ।

यूनान के उष काल के अन्तिम कवि की अन्तिम कविता-सोफोक्लीज़ की "कोलोनोस में ईडिपस"-उन शब्दों से समाप्त होती है जो हमें हमारी समझ से कहीं परे, इन लोगों के गुप्त इतिहास की ओर वापिस बुलाते हैं, तथा जो सत् के अज्ञात सत्य में उनके प्रवेश का परिचय देते हैं ।

a'λλ anonaVETE Mn' δ' E'nι nλEιw
θPnvov 'ErEιPETE
n'aVTVW r'aP "EXEL Ta'δE kUPOS

किन्तु अब बन्द करो, और कभी भी
विषाद को प्रकट मत होने दो
कारण कि यह सब नियत है ।

सत्य का तत्त्व

मार्टिन हाइडैगर

अनुवादक राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

हमारा विषय सत्य का तत्त्व है । सत्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उठाया गया यह प्रश्न, व्यावहारिक अनुभव अथवा आर्थिक परिकलन के सत्य का, प्राविधिक विचारणाओं अथवा राजनैतिक कौशल के सत्य का या अधिक विशिष्टतया, वैज्ञानिक शोध अथवा काल के सत्य का, यहा तक कि मननात्मक चिन्तन अथवा धार्मिक विश्वास के सत्य का प्रश्न नही है । तात्त्विक प्रश्न इन सबकी उपेक्षा करता है, तथा केवल एक ही विषय पर, अर्थात् जो प्रत्येक प्रकार के सत्य का सकेत है, ध्यान केन्द्रित करता है ।

तथापि सत्य की प्रकृति के विषय में, इस प्रकार प्रश्न करते हुए, क्या हम समस्त चिन्तन को रुद्ध करने वाले साधारण के शून्य मे खो जाने के सकट मे नही है ? क्या इस प्रकार के प्रश्न की प्रगल्भता समस्त दर्शन की आधारहीनता का उद्घाटन नही ? समस्त मौलिक चिन्तन अथवा यथार्थ की ओर उन्मुख समस्त चिन्तन का प्रथम लक्ष्य, बिना किसी उत्क्रम के उस वास्तविक सत्य का स्थापन होना चाहिए जिससे हमें, प्रचलित मत तथा अनुमान की भ्रान्ति के विरुद्ध कोई प्रतिमान अथवा मानदण्ड प्राप्त हो । इस वास्तविक आवश्यकता के समक्ष होने पर, सत्य की प्रकृति में उस अमूर्त अन्वीक्षण से क्या लाभ है, जो समग्र यथार्थ से अनिवार्यतया विमुख हो जाता है ? सत्य की तात्त्विक प्रकृति के विषय में किया गया प्रश्न, क्या अत्यन्त अतात्त्विक नही है ? क्या सभी सभव प्रश्नो मे यह सब से कम अनिवार्य प्रश्न नही है ?

इन तथ्यों की स्पष्ट अकाट्यता से बचना कठिन है । उनकी अत्यावश्यक गम्भीरता की सरलता से उपेक्षा नही की जा सकती । किन्तु इन विचारणाओ से क्या ध्वनित होता है ? "स्वस्थ" साधारण दृष्टि । यह प्रत्यक्षत उपयोगी के महत्व का आवश्यक प्रतिपादन करती है, तथा जो-है, उसकी प्रकृति के समस्त ज्ञान-वह तात्त्विक ज्ञान जिसे बहुत पहले से ही "दर्शन" की सज्ञा दी गई है के विरुद्ध आलोचना करती है ।

साधारण दृष्टि को अपनी अनिवार्यता होती है, यह अपने विशिष्ट तथा उपयुक्त साधनो द्वारा अपने अधिकार अर्थात् अपने दावो तथा "स्वत सिद्ध" प्रकृति की स्थापना करती है । दर्शन साधारण दृष्टि का कभी भी खण्डन नहीं कर सकता, कारण कि साधारण दृष्टि दर्शन की भाषा के प्रति उदासीन है । न ही उसे यह अभिप्रेत हो सकता है, कारण कि, साधारण

दृष्टि उन विषयो के प्रति नितान्त अबोध है जिन्हे दर्शन अपने तत्वान्वेषी चक्षुओ के सम्मुख रखता है।

इसके अतिरिक्त, जिस सीमा तक हम यह कल्पना करते हैं कि हम, अनुभव तथा कर्म, अन्वीक्षण, कला तथा श्रद्धा के विविध सत्यो" मे सुरक्षित है, उस सीमा तक हम स्वय को साधारण दृष्टि के व्यवहार कौशल तक सीमित रखते हैं। हम स्वय किसी भी सशयप्रद विषय के द्वारा प्रस्तुत दावो क साधारण दृष्टि द्वारा खण्डन का पोषण करते हैं।

अत यदि हमें सत्य के विषय मे प्रश्न उठाना पडे, तब इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा है "आज हम कहा खडे है ?" हम यह जानना चाहते हैं कि हमारी क्या स्थिति है ? हम उस लक्ष्य के विषय मे प्रश्न करते हैं जो मानव के इतिहास मे तथा उसके इतिहास के निमित्त निश्चित किया जायगा। हम वास्तविक सत्य चाहते हैं। अच्छा, तो फिर सत्य।

परन्तु वास्तविक सत्य की माग करने मे हमे यह ज्ञान पहले मे ही होना चाहिए, कि वास्तव मे सत्य का अर्थ क्या है। अथवा, क्या हम उसे केवल "अनुभूति" अथवा "सामान्य" रूप मे ही जानते हैं ? किन्तु क्या यह अस्पष्ट "जानना" तथा उसकी अस्पष्टता के प्रति यह उदासीनता, सत्य की प्रकृति के अज्ञान मात्र से अधिक दयनीय नहीं है।

१ सत्य की पारम्परिक धारणा

साधारणतया हम सत्य से क्या अर्थ ग्रहण करते हैं ? इस शीर्षस्थ परन्तु पिष्टपेषित एव निश्शेषित प्राय 'सत्य" शब्द का अर्थ है वह जो किसी सत्य वस्तु को सत्य निर्धारित करता है। यह "सत्य वस्तु" क्या है ? उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं "इस कार्य के सम्पादन मे सच्चा सुख है।" तो हम विशुद्ध वास्तविक आनन्द का अर्थ लेते हैं। सत्य वास्तविक है। इसी प्रकार हम सच्चे सिक्के को झूठे सिक्के से अलग करते हैं। झूठा सिक्का वस्तुत वह नही है जो वह प्रतीत होता है। वह केवल प्रतीयमान अत अवास्तविक है। अवास्तविक वास्तविक का विपर्याय है। किन्तु खोटा सिक्का भी तो वास्तविक है। अत अधिक उपयुक्त रूप मे हम कहते हैं "वास्तविक सिक्का प्रामाणिक सिक्का है।" किन्तु दोनो ही यथार्थ हैं। चलन मे आया हुआ खोटा सिक्का किसी भी प्रकार खरे सिक्के से कम यथार्थ नहीं है। अत प्रामाणिक सिक्के का सत्य उसकी वास्तविकता से ही सिद्ध नहीं होता। पुन यह प्रश्न उठता है कि "प्रामाणिक" तथा "सत्य" का यहाँ क्या अर्थ है ? प्रामाणिक सिक्का वह यथार्थ वस्तु है, जिसकी यथार्थता हमारे उस अर्थ से अनुकूलता रखती है (In der Ubereinstimmung steht mit) जो हम सदा ही तथा पहले से ही "यथार्थत" "सिक्के' से लेते हैं। इसके विपरीत जब हमे खोटे सिक्के का सशय होता है, तब हम कहते हैं "कुछ ठीक नहीं जान पडता" (Hier stimmt etwas nicht) दूसरी ओर, उस वस्तु के विषय मे, जो वैसी ही है, जैसा उसे होना चाहिए, हम कहते हैं कि "वह ठीक है" (Es stimmt)। वस्तु (Sache) ठीक है।

हम केवल वास्तविक आनन्द, खरे सिक्के तथा इसी प्रकार की अन्य वास्तविकताओं को ही सत्य नहीं कहते, अपितु इस प्रकार की वास्तविकताओ से सम्बन्धित अपने कथनो को भी,

जो निजी रूप मे सत्य अथवा मिथ्या हैं तथा अपने यथार्थ मे प्रमुख प्रमुख प्रकार ..., जिन्हें "सत्य" अथवा "मिथ्या" कहते हैं। कोई कथन, उसी समय सत्य हो सकता है, जब उसका अर्थ उस वस्तु के अनुरूप होता है जो उसका कथ्य है। यहाँ भी हम कहते हैं "यह ठीक है।" यद्यपि यहाँ वस्तु के विषय मे नही अपितु वाक्य (Satz) के विषय मे ठीक शब्द का प्रयोग होता है।

इस प्रकार सत्य वह है जो ठीक है अथवा जो अनुकूल (das stimmende) है चाहे वह कोई वास्तविक वस्तु हो या सत्य वाक्य। सत्य, तथा सत्य होना यहाँ दोहरे रूप मे अनुकूलता का अर्थ रखते हैं प्रथमत वस्तु की उस धारणा से अनुकूलता जो उसके विषय मे पहले ही बन गई हो (dem uber sie Vorgemeinten) तथा द्वितीय, वाक्य के कथ्य तथा वस्तु के मध्य अनुकूलता।

अनुकूलता के इस दोहरे पक्ष को सत्य की पारम्परिक परिभाषा मे भली भाँति लक्षित किया जा सकता है Veritas est adequatio rei et intellectus जिसका यह अर्थ किया जा सकता है कि, वस्तु की प्रत्यक्षीकरण से अनुकूलता ही सत्य है। किन्तु इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि प्रत्यक्षीकरण की वस्तु से अनुकूलता, सत्य है। स्पष्टत उपर्युक्त परिभाषा सामान्यत केवल निम्न सूत्र मे ही प्रयुक्त हुई है Vesitas est adequatio intellectus ad sem उपयुक्त रूप मे गृहीत, सत्य अथवा वाक्यात्मक सत्य केवल वस्तुनिष्ठ सत्य the adequatio sei ad intelleotum के आधार पर ही सभव है। Vesitar (सत्य) की प्रकृति से सम्बन्धित इन दोनों ही धाराओ मे किसी के "द्वारा सही किया जाना" (Sich sichten nach) सन्निहित है। दोनो में ही सत्य को ठीक होने (Richigkeit) के अर्थ मे ग्रहण किया गया है।

फिर भी एक, दूसरे के ठीक विपरीत नही है। वस्तुत स्थिति यह है कि intellectus तथा res के विषय मे प्रत्येक अवसर पर भिन्न रूप मे विचार किया जाता है। इसे समझने के लिए हमें सत्य की पारम्परिक धारणा के सम्बन्ध मे मान्य सिद्धान्त के अपरोक्ष (अर्थात् मध्ययुगीन) मूल तक जाना होगा। Adequatio rei ad intellectum के रूप मे Varitas मे काण्ट द्वारा प्रस्तुत वाद की परा धारणा—जो मनुष्य की आत्मनिष्ठता के आधार पर ही सभव है—कि "विषय हमारे प्रत्ययो के अनुकूल होते हैं (rich richten nach)" अन्तर्भूत नही है। अपितु उसमें यह ईसाई धार्मिक विश्वास अन्तर्निहित है कि वस्तुएँ, यदि वे हैं, तो केवल वही हैं जो वे हैं, उसी सीमा तक जिस सीमा तक वे सृष्ट वस्तुओ (ens creatum) के रूप में, intellectus divins अर्थात् ईश्वर के मन मे पूवनिर्धारित प्रत्यय के अनुरूप हैं, तथा इस प्रकार धारणा के अनुकूल है (ठीक है) तथा इस अर्थ मे "सत्य" है। इसी प्रकार intellectus humnns भी एक ens creatum है। ईश्वर द्वारा मनुष्य को प्रदत्त शक्ति के रूप मे, यह भी ईश्वर के प्रत्यय के अनुकूल होनी चाहिए। किन्तु बुद्धि के प्रत्यय का प्रत्यय के अनुरूप होना इस बात मे निहित है कि यह अपनी उन शक्तियो के विचार को वस्तु के अनुकूल उत्पन्न करती है, जो स्वय प्रत्यय के अनुरूप होनी चाहिए। मानवीय ज्ञान के सत्य होने की सभावना (यह स्वीकार करने पर कि जो "है" वह "सृष्ट" है) इस तथ्य पर आधारित

है कि वस्तु तथा वाक्य समान रूप मे प्रत्यय के अनुरूप हैं तथा इस प्रकार वे दैवी सृजनात्मक योजना के एकत्व मे परस्पर अनुरूपता रखते हैं। Adequtis rei (creandar) ad intellec tum (divinum) के रूप मे Veritus adequates intellectus (humani) ad rem (crea tum के रूप मे स्थित Veritas की सुरक्षा करता है। तत्व के रूप मे Veritas का अर्थ है Conventia "जो–है" उसका, सृष्ट के रूप मे, स्रष्टा के अनुकूल होना अथवा सृजनात्मक व्यवस्था की नियति से अनुकूलता।

किन्तु सृष्टि की धारणा से असम्बद्ध, यह व्यवस्था सामान्य तथा अनिश्चित रूप में, विश्वव्यवस्था के रूप मे भी ग्रहण की जा सकती है। धर्मशास्त्र द्वारा कल्पित सृजनात्मक व्यवस्था, उस सासारिक बुद्धि (lvetverninfl) के योग द्वारा प्रत्येक वस्तु के नियोजन की सम्भावना से विस्थापित की जा सकती है, जो स्वय अपने लिए विधान है तथा जो यह दावा कर सकता है कि उसकी प्रक्रियाए अपरोक्षत बुद्धिगम्य (जिसे हम "तर्कसगत" कहते हैं) हैं। अत इस बात के लिए और अधिक प्रमाण की आवश्यकता नही समझी जाती कि वाक्यात्मक सत्य का तत्व वाक्य के ठीक होने पर निर्भर है। यहाँ तक कि जहा स्पष्टतया सफलता के अभाव मे, हम यह समझाने का प्रयास करते हैं कि ठीक होने की स्थिति को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, हम ठीक होने की स्थिति को, किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, हम ठीक होने की स्थिति को अव्यक्त रूप मे पहले से ही सत्य का तत्व मान लेते हैं। इसी प्रकार, वस्तुनिष्ठ सत्य मे सदा विषय विशेष की, उसके तात्विक अथवा "बौद्धिक" प्रत्यय से अनुरूपता अ तभू त होती है। एक मत यह है—जो भ्रान्त है—कि सत्य के तत्व की यह परिभाषा उस सब की तात्विक प्रकृति की व्याख्या से स्वतन्त्र है जो "है" तथा जो उस सबका सत् मात्र है (Sem alles Seinder)—इस प्रकार की व्याख्या मे intellectus को पूर्णता देने वाले, तथा उसके वाहक के रूप मे मनुष्य की तात्विक प्रकृति की तदनुरूप व्याख्या अन्तभू त होती है। इस प्रकार सत्य के तत्व का सूत्र (Varitas est adequctio intellectus et rei) ऐसी सार्वभौमिक प्रामाणिकता प्राप्त कर लेता है जो प्रत्येक को तुरन्त ही स्पष्ट हो जाती है। सत्य की इस धारणा की स्वत स्पष्ट प्रकृति से जिसके तत्व अधिकाशत अप्रत्यक्ष ही रहते हैं, प्रभावित हम यह भी उतनी ही स्वत सिद्ध मान लेते कि सत्य का एक विलोम भी है, अथवा असत्य जैसा भी कुछ है। वाक्यात्मक असत्य (ठीक न होना) वाक्य की वस्तु से अनुरूपता है। वास्तविक असत्य (अवास्तविकता uneehtheit) जो–है उससे उसके तत्व की अननुरूपता है। दोनो ही स्थितियो मे असत्य का अर्थ अनुकूलता का अभाव माना जा सकता है। यह अभाव सत्य की प्रकृति से बहिर्गत है। इस कारण, सत्य के शुद्ध तत्व को ग्रहण करने के प्रयास के समय, सत्य के विलोमभूत असत्य की चर्चा की उपेक्षा की जा सकती है।

किन्तु क्या वस्तुत सत्य की प्रकृति के विशिष्ट उद्घाटन की कोई आवश्यकता है ? क्या सत्य की साधारणतया स्वीकृत धारणा द्वारा, जो किसी सिद्धात से दूषित नहीं है तथा अपनी स्वत सिद्ध प्रकृति द्वारा सुरक्षित है, सत्य के शुद्ध तत्व को उचित रूप मे पर्याप्तत सिद्धि

नहीं हो जाती ? यदि इस सब पर, हम वाक्यात्मक सत्य को वस्तुनिष्ठ सत्य के रूप में ग्रहण कर लें, जैसा कि वह प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है, यथा धार्मिक व्याख्या के रूप में, तथा यदि, इसके अतिरिक्त, दार्शनिक परिभाषा को धर्मशास्त्र से समस्त मिश्रण से पूर्णतया मुक्त रखें, तथा सत्य की धारणा को वाक्यात्मक सत्य तक सीमित करें तब हम तुरन्त उस प्राचीन यदि सब प्राचीन नहीं—विचार परम्परा के सम्मुख पहुँच जाते हैं जिसके अनुसार सत्य किसी वाक्य का वस्तु (pragma) से सादृश्य अथवा उसकी किसी वस्तु से अनुकूलता (Uebereinstimmung omoiosis) है। यदि हम इस बात को समझते हैं कि 'किसी वाक्य की किसी वस्तु से सादृश्य अथवा अनुकूलता" का क्या अर्थ है, तब भी क्या कोई प्रश्न रह जाता है ? क्या हम इस बात को जानते हैं ?

२ अनुकूलता की आंतरिक सभावना

"अनुकूलता" का प्रयोग हम भिन्न अर्थों मे करते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम मेज पर दो अधकाउन पड़े देखते हैं, तब हम कहते हैं कि वे परस्पर अनुकूल (अनुरूप)✻ हैं अर्थात् परस्पर सदृश हैं। दोनो देखने मे एक से लगते हैं यह प्रतीयमान रूप दोनों मे समान है अत वे इस दिशा मे सदृश है। इसके अतिरिक्त, जब हम इन अधकाउनो मे से किसी एक के विषय मे यह कहते हैं, यह सिक्का गोल है, तब हम अनुकूलता की बात करते हैं। यहा, कथन, वस्तु अथवा विषय से अनुकूल है। अब सम्बद्धता वस्तु तथा वस्तु में न होकर, वस्तु तथा कथन मे है। किन्तु कथन तथा वस्तु मे किस प्रकार की अनुकूलता है, जबकि दोनो मे निर्दिष्ट तत्व प्रतीयमान रूप में स्पष्टतया भिन्न है। सिक्का धातु का है। कथन किसी भी अर्थ मे भौतिक नही है। सिक्का गोल है। कथन में देशीयता का नितान्त अभाव है। सिक्के से आप कुछ क्रय कर सकते हैं। उसके विषय मे किया गया कथन कभी भी वैध सिक्का नही हो सकता। किन्तु दोनो मे अन्तर होने पर भी, उपर्युक्त कथन सिक्के के अनुकूल तथा उसके विषय में सत्य है। तथा, सत्य के स्वीकृत प्रत्यय के अनुसार यह अनुकूलता साम्य (Angleichung) समझी जाती है। किस प्रकार, कथन, जो एक पूर्णतया भिन्न वस्तु है, सिक्के से साम्य रख सकता हैं ? कथन को सिक्का बनना पड़ेगा तथा स्वय को पूर्णतया उसी रूप में प्रस्तुत करना पड़ेगा। किसी भी कथन के लिए यह सभव नही। जैसे ही वह ऐसा करने मे सफल हुआ वह कथन के रूप मे वस्तु के अनुकूल नहीं रहेगा। साम्य की किसी भी स्थिति में वाक्य को वही रहना पड़ेगा, यही नही, प्रथमत उसे उसी रूप में प्रकट होना पड़ेगा, जो वह है। किसी भी अन्य वस्तु से नितान्त भिन्न कथन की प्रकृति क्या है ? किस प्रकार कोई कथन, अपनी विशिष्ट प्रकृति में रहते हुए भी, किसी अन्य से अथवा वस्तु से साम्य रख सकता है।

इस स्थिति मे, "साम्य", दो ऐसी वस्तुओं मे जो प्रकृतित भिन्न हैं, भौतिक सादृश्य का अर्थ नहीं रख सकता। वस्तुत साम्य की प्रकृति कथन एव वस्तु के मध्य विद्यमान सम्बन्ध

✻ इस वाक्य में 'अनुरूप' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। परन्तु सन्दर्भ की दृष्टि से 'अनुकूल' का ही प्रयोग किया गया है—अनु०

के प्रकार द्वारा निर्धारित होती है। जब तक यह "सम्बन्ध" अनिर्धारित तथा अपनी प्रकृति मे अगम्य रहता है तब तक साम्य की सम्भावना अथवा असम्भावना, उसके प्रकार तथा उसकी मात्रा से कोई परिणाम नही निकलता।

सिक्के के विषय मे किया गया यह कथन वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हुए तथा प्रतिनिधित वस्तु के सम्बन्ध में यह बताते हुए कि "यह कैसी है", "किसके सदृश है", एव उस विशिष्ट क्षण मे किस दृष्टि से महत्वपूर्ण है-इस वस्तु मे 'स्वय को" सम्बद्ध कर लेता है। प्रतिनिधि कथन प्रतिनिधित वस्तु के विषय मे वही कहता है जो वह है। यह 'यथावत्" (so wie) प्रतिनिधित्व तथा जिसका प्रतिनिधित्व होता है, दोनो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है। यदि हम समस्त 'मनोवैज्ञानिक" तथा 'चेतना के सिद्धान्त" सम्बन्धी पूर्वधारणाओ की उपेक्षा करें, तो यहा "प्रतिनिधित्व" का अर्थ होगा, किसी वस्तु को अपने सम्मुख किसी विषय के रूप मे स्थिति ग्रहण करने देना। इस प्रकार, सम्मुखित वस्तु, अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण, हमारे सम्मुख प्रत्यक्षत उपस्थित होती है, साथ ही वस्तु के रूप में अपने निजत्व को भी बनाये रखती है तथा स्वय को स्थिर रूप मे व्यक्त करती है। हमारी ओर उन्मुख होने में वस्तु की यह अभिव्यक्ति उन्मुक्त (Das offene) के क्षेत्र मे, होती है। जिसकी यह उन्मुक्तता (Offenheit) मूलत प्रतिनिधित्व द्वारा उत्पन्न नही होती, अपितु वह प्रत्येक अवसर पर, सम्बन्धो के क्षेत्र (Bezugsbereich), मे प्रविष्ट होती है तथा उसी रूप मे ग्रहण की जाती है। प्रतिनिधि-वाक्य तथा वस्तु का पारस्परिक सम्बन्ध उस अवस्था (Verhaeltnis) को उत्पन्न करने में योग देता है, जो आरम्भ मे व्यवहार (Verhalter) के रूप मे आन्दोलित हुई, तथा अब भी उसी प्रकार आन्दोलित है। उन्मुक्त मे प्राप्त होने वाले समस्त व्यवहार की यह विशेषता है, कि उसका सम्बन्ध किसी स्वत व्यक्त (Ein offenheit also ein solches) से होना आवश्यक है। इस प्रकार तथा, केवल इस सकुचित अर्थ मे, जो व्यक्त किया जाता है, वह पाश्चात्य चिन्तन की आरम्भिक अवस्थाओ मे "जो वर्तमान है" के रूप मे अनुभूत हुआ है, तथा उसे बहुत पहले ही "वह जो है" (Das Seiende) की सज्ञा दी गई है।

"जो है" के प्रति समस्त व्यवहार 'उन्मुक्त" (शब्दश –"खुला रहता है" (Offenstandig) होता है, तथा समस्त "उन्मुक्त" सम्बद्धता ही व्यवहार है। मानव की "उन्मुक्तता" "जो-है" की प्रकृति तथा व्यवहार की अवस्थाओ के अनुसार बदलती रहती है। समस्त कर्म, तथा कार्य साधन, समस्त व्यापार तथा हिसाब किताब उस उन्मुक्त क्षेत्र मे होता है जिस में जो है व्यक्त रूप में अपनी स्थिति इस प्रकार ग्रहण करता है, जिस प्रकार तथा जिस रूप मे वह जो है, वह है, तथा इस प्रकार अभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। यह तभी सभव है जब जो-है स्वय को प्रतिनिधि कथन से प्रस्तुत करता है (Selbst vorstellig wird) जिसके परिणाम स्वरूप यह कथन उस निर्देश के अनुकूल होता है, जो उसे जो-है के "यथा-रूप" को अथवा जैसा कि वह है, को अभिव्यक्त करने का आदेश देता है। इस निर्देश का पालन करते हुए, कथन जो-है के द्वारा अपने को सही करता है (Rich richlet nach) इस प्रकार स्वय को निर्धारित करते हुए कथन ठीक (सत्य) होता है। तथा जो इस प्रकार कथित है वही ठीक होना (सत्य) है।

कथन का ठीक होना व्यवहार के व्यक्त होने पर निर्भर है, क्योंकि केवल इसी प्रकार कोई व्यक्त वस्तु उस साम्य का प्रतिमान हो सकती है जो प्रतिनिधि कथन में निहित है। उन्मुक्त व्यवहार को यह प्रतिमान स्वयं पर प्रयुक्त करना पड़ता है। इसका अर्थ है इसे प्रारम्भिक स्थिति में समस्त प्रतिनिधित्व के लिए प्रतिमान स्वरूप होना चाहिए। यह व्यवहार की उन्मुक्तता में निहित है। किन्तु यदि कथन का ठीक होना (सत्य) केवल व्यवहार की उन्मुक्त विशेषता के कारण ही सम्भव है तब यह परिणाम निकलता है कि उस वस्तु का, जो प्रथमत सही होने की स्थिति को सम्भव बनाती है, सत्य का तत्त्व होने का दावा अधिक मौलिक होना चाहिए। इस प्रकार कथन को अनन्य रूप में, सत्य का एकमात्र तथा उसके मूल की आवश्यक स्थिति मानने की पारम्परिक रीति धराशायी हो जाती है। सत्य की मौलिक स्थिति उक्ति में नहीं होती। साथ ही यह प्रश्न उठता है किस आधार पर उन्मुक्त व्यवहार के लिए किसी प्रतिमान को निश्चित करना आन्तरिक रूप में सम्भव होता है—जबकि केवल यही सम्भावना उक्त्यात्मक संगति को, किसी मात्रा में, सत्य का तत्व उपलब्ध करने का पर्याप्त अधिकार देती है ?

३ संगति (सही होने) की आन्तरिक संभावना का आधार

प्रतिनिधि कथन, विषय के द्वारा स्वयं को सही करने तथा इस प्रकार संगति के अनुकूल होने का आदेश कहां से प्राप्त करता है ? साथ ही यह अनुकूलन (Stimmen) सत्य की प्रकृति को क्यों निर्धारित (bestimmen) करता है ? वास्तव में, पूर्व निश्चित प्रतिमान से अनुरूपता की अथवा इस प्रकार की अनुरूपता को निर्दिष्ट करने वाले आदेश की बात ही किस प्रकार सम्भव हो सकती है ? केवल इसीलिए कि इस मान्यता (Vorgeben) ने पहले ही अपने को मुक्त कर लिया है (Rich Sreigegeben) तथा वह, उन्मुक्तता में सक्रिय उस अभिव्यक्ति-जो सभी प्रकार के प्रतिनिधित्व के लिए मान्य है—के प्रति उद्घाटित हो गई है। किसी मान्य प्रतिमान की अनुकूलता के लिए इस प्रकार "मुक्त होना", केवल किसी पूर्व उन्मुक्त वस्तु को उद्घाटित (Sum Offenbaren eines Offenen) करने की स्वतन्त्रता के रूप में ही सम्भव है। इस प्रकार मुक्त होना, स्वतन्त्रता की अभी तक अगम्य प्रकृति का संकेत देता है। संगति को सम्भव बनाने के अर्थ में व्यवहार की उन्मुक्त विशेषता स्वतन्त्रता में स्थित है। सत्य का तत्त्व स्वतन्त्रता है।

किन्तु, क्या उक्ति सही होने की प्रकृति के सम्बन्ध में यह उक्ति, केवल एक स्वयं सिद्ध तथ्य के स्थान पर दूसरे स्वयं-सिद्ध तथ्य को नहीं रखती ? किसी कार्य को, तथा इस प्रकार प्रतिनिधि कथन के कार्य को तथा वास्तव में अनुकूलता रखने अथवा न रखने को, "सत्य" में परिवर्तित करने की क्षमता के लिए कर्ता को, स्पष्टतया स्वतन्त्र होना चाहिए। तो भी हमारी उक्ति किसी प्रकार यह संकेत नहीं देती कि किस वाक्य की पूर्ति में अथवा उसके सम्प्रेषण एवं उसे स्वीकार करने में, ऐच्छिक कर्म का कोई योग होता है। उक्ति का तात्पर्य यह है स्वतन्त्रता स्वयं सत्य का तत्त्व है। जो प्रथम अवसर में ही स्वीकार किया जाता है, तथा जिसे सामान्यतया "ज्ञेय" के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसकी आन्तरिक सम्भावना के आधार के रूप में ही यहां 'तत्त्व" के अर्थ को ग्रहण किया गया है। स्वतन्त्रता की अपनी साधारण

धारणा मे, हम सत्य के विषय मे विचार नही करते, उसके तत्त्व का तो प्रश्न ही नही उठता। अत यह उक्ति कि सत्य का तत्व (कथन का सही होना) स्वतन्त्रता है, अपरिचित प्रतीत होगी ही।

किन्तु सत्य को स्वतन्त्रता मे परिवर्तित करना, क्या यह सत्य को मनुष्य को सनक पर छोड देना नहीं है ? इस दोलायमान बेंत की तरग पर छोड देने से भी अधिक क्या सत्य को आधारभूत रूप में उन्मूलित नही कर दिया जाता ? अभी तक की व्याख्या में जो बात हमारे सुविवेक पर बराबर प्रभाव डालती रही है, अब और भी स्पष्ट हो उठती है, अर्थात् सत्य को मनुष्य के मनोगत स्तर पर उतार लिया गया है। यदि मनुष्य किसी प्रकार वस्तुगत धरातल पर पहुच भी जाता है तब भी वह अपनी मनोगत अवस्था मे मनुष्य ही रहता है तथा मानवीय नियन्त्रण का पात्र रहता है।

नि सन्देह कपट एव छद्म, झूठ तथा धोखा, छल तथा पाखड, सक्षेप में असत्य के सभी रूप मनुष्य पर आरोपित किए जाते हैं। किन्तु असत्य सत्य का विलोम है, जिसके कारण सत्य के ठीक निषेध के रूप मे, उसके अ-तत्त्व (Unwesen) को ठीक ही, सत्य के शुद्ध तत्त्व की खोज के क्षेत्र से दूर रखा जाता है। असत्य का यह मानवीय मूल विरोध के द्वारा सत्य "यथावत्" की उस तात्त्विक प्रकृति को, पुष्ट करता है जो मनुष्य पर शासन करती है तथा जिसे तत्वमीमांसा अनश्वर तथा शाश्वत मानती है। जो कभी भी मानव जाति के अस्थायित्व तथा भगुरता पर आधारित नही हो सकती। तब, किस प्रकार सत्य का तत्त्व सभवतया मानवीय स्वतन्त्रता मे दृढ आधार प्राप्त कर सकता है ?

इस उक्ति का विरोध, कि सत्य का तत्त्व स्वतन्त्रता है, उन पूर्वाग्रहो में स्थित है जिन मे सर्व प्रबल आग्रह यह दावा करता है कि स्वतन्त्रता मनुष्य का धर्म है तथा स्वतन्त्रता की प्रकृति न तो अधिक जिज्ञासा की अपेक्षा रखती है और न ही उसे स्वीकार करती है। जहां तक मनुष्य का प्रश्न है, हम सब जानते हैं कि वह क्या है।

४ स्वतन्त्रता की तात्त्विक प्रकृति

किन्तु सही होने के रूप में सत्य तथा स्वतन्त्रता के मध्य तात्त्विक सम्बन्ध का सकेत इन पूर्वाग्रहों को छिन्नभिन्न कर देता है, यदि, स्पष्टतया, हम अपने चिन्तन के रूप को परिवर्तित करने के लिए तत्पर हों। सत्य तथा स्वतन्त्रता के मध्य प्राकृतिक साम्य का विचार हमें मनुष्य के स्वभाव के उस पक्ष में, जो उसकी प्रकृति तथा सत्ता के प्रच्छन्न आधार के हमारे अनुभव द्वारा निश्चित है, हल को ढूढने की प्रेरणा देता है, जिससे हम पहले ही सत्य के मौलिक जीवित क्षेत्र में पहुच जाते हैं। किन्तु इस अवसर पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता सही होने की आन्तरिक सम्भावना का आधार केवल इसलिए है कि उसे उसका तत्त्व अधिक मौलिक वस्तु अर्थात् विलक्षणतया तात्त्विक सत्य, से प्राप्त होता है।

आरम्भ मे स्वतन्त्रता की परिभाषा, किसी पूर्वत उन्मुक्त तत्त्व के उद्घाटन की स्वतन्त्रता के रूप में दी गई थी। सत्य के तत्त्व की इस धारणा को किस रूप मे ग्रहण किया जा सकता

है ? उन्मुक्त (Das Offenbare), सही रूप में कोई प्रतिनिधि कथन जिसके अनुरूप होता है, वह है जो स्पष्टतया सदैव "है" तथा जिसके व्यवहार का कोई व्यक्त रूप है। किसी उन्मुक्त विषय के उद्घाटन की स्वतन्त्रता जो "है" उसे उसी क्षण, जो वह है होने देती है। स्वतन्त्रता स्वयं को जो है के "होने देने" में उद्घाटित करती है।

"होने-देने" की बात सामान्यतया हम उस समय करते हैं जब, उदाहरणार्थ, हम उस कार्य से स्वयं को अलग कर लेते हैं जिसकी हमने योजना बनाई हो। "हम उसे होने देते हैं" का अर्थ है उसमें फिर हाथ न लगाना, उससे कोई सम्बन्ध न रखना। "होने देने" का यहाँ, किसी विषय की अवहेलना, त्याग, उसके प्रति उदासीनता यहाँ तक की उपेक्षा का निषेधात्मक अर्थ है।

किन्तु यह वाक्यांश जिसका प्रयोग हम अब कर रहे हैं, अर्थात् जो-है उसे "होने देना", उदासीनता अथवा उपेक्षा का संकेत नहीं देता अपितु उसका अर्थ इनके नितान्त विपरीत है। किसी वस्तु को होने-देना (Seinlasen) वस्तुतः उस वस्तु से कुछ सम्बन्ध रखना है (Rich einlassen anv)। यह किसी आकस्मिक रूप में प्राप्त अथवा प्राप्य वस्तु का अन्वेषण करना, सुरक्षित रखना, उसे विकसित करना अथवा नियोजित करना नहीं है। जो है को वह जो है, होने देने का अर्थ है, किसी उन्मुक्त विषय अथवा उसकी उन्मुक्तता में सक्रिय होना, जिसमें प्रत्येक वह वस्तु जो "है" अपनी स्थिति ग्रहण करती है तथा जिसमें इस प्रकार की उन्मुक्तता अन्तर्भूत है। पाश्चात्य चिन्तन ने इस उन्मुक्तता को आरम्भ में ही Ta alelhea Ta αλnθεa, अप्रच्छन्न के रूप में ग्रहण किया। यदि हम ale wein aγnθeia को सत्य के स्थान पर "अप्रच्छन्नता" अथवा "उन्मीलन" से अनुदित करें, तो अनुवाद केवल अधिक "शब्दशः" ही नहीं होगा, अपितु यह हम से यह अपेक्षा भी रखता है, कि हम सत्य की अपनी इस धारणा को Pa वह उक्त्यात्मक अनुकूलता है, बदलें, तथा उसे अभी भी बोधगम्य न होने वाले उस गुण तक ले जाय जो जो है की उद्घाट्यता (Ent borqerheit) तथा उसका उद्घाटन (Ent begung) है। जो है की उद्घाटित प्रकृति में सक्रिय होना, यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसके सम्मुख यह एक शान्त स्थिति को प्राप्त होता है, जिससे जो है, स्वयं को वह जैसा कि वह है तथा जिस प्रकार वह है, उस रूप में प्रकट करे, तथा वह अनुकूलता जो वाक्य में इसका प्रतिनिधित्व करती है, इसे प्रतिमान के रूप में ग्रहण करे। इस प्रकार "होने-देना" "जो-यथावत् है" के प्रति स्वयं को अभिव्यक्त करता है (Setz rich ans) तथा समस्त व्यवहार को उन्मुक्त में ले आता है (Versetzt imo Offene)। "होने-देना" अर्थात स्वतन्त्रता स्वयं अपने में "अभिव्यंजक" (ans setzend) तथा "बहिः स्थित" (Ek Sistent) है।

सत्य की प्रकृति की दृष्टि से दृष्ट, स्वतन्त्रता की प्रकृति, अब स्वयं को, जो-है की उद्घाटित प्रकृति में "अभिव्यक्ति" के रूप में प्रदर्शित करती है।

स्वतन्त्रता वह नहीं है, जो साधारण दृष्टि उसे मान बैठती है स्वेच्छानुरूप कार्य करने की तात्कालिक क्षमता तथा वरण में स्वेच्छानुरूप किसी मार्ग का स्वीकार करना। हम क्या

करें, क्या न करें, इसकी छूट को स्वतन्त्रता नही कहते । दूसरी ओर, न ही किसी अपेक्षित अथवा आवश्यक [तथा इस प्रकार एक अर्थ मे "वास्तविक" (Seiendes)] कार्य को करने की तत्परता मात्र स्वतन्त्रता है । इस सब ('निषेधात्मक' तथा 'विधायक' स्वतन्त्रता) के अतिरिक्त स्वतन्त्रता जो-यथावत्-है (Das Seiende als ein solches) के उन्मीलन मे सक्रियता है। इसका उद्घाटन स्वय उस वहि स्थित सक्रियता मे निश्चित है जिसके द्वारा उन्मुक्त की उन्मुक्तता (Die Offenheit des Offenen) अर्थात्, उसका "वहा" (Da) होना, वही है, जो वह है ।

इस अस्तित्व (Da sein) मे, मनुष्य जाति के लिए, वह दीर्घ अगाध तथा तात्विक आधार सुरक्षित है जिसके कारण मनुष्य की वहि स्थिति सभव है । इस प्रसग मे "अस्तित्व" "घटना" (Vorkommen) तथा "सत्" (Dasein) अर्थात् किसी "अस्तित्वमान" (Eines Seienden) की उपस्थिति (Vorhandensein) के अर्थ मे (Existentia) का सकेत नही देता, न ही "अस्तित्व" का अर्थ, "अस्तित्ववादी" दृष्टि से, मनुष्य का स्वय के प्रति नैतिक रूप में व्यस्त होना है जो उसकी मनो-भौतिक रचना का परिणाम है । वहि स्थिति, जो कि सत्य में स्वतन्त्रता के रूप मे अधिष्ठित है, जो-यथावत्-है की उद्घाटित प्रकृति मे अभिव्यक्ति से कम कुछ नही है । अभी भी अथाह तथा अपने तत्व की ओर अधिक गहन थाह पाने की आवश्यकता से अबोध, ऐतिहासिक मनुष्य की वहि स्थिति उस क्षण आरम्भ होती है जब प्रथम विचारक ने जो-है की उद्घाटित प्रकृति के विषय में यह प्रश्न किया जो-है क्या है ? इस प्रश्न के साथ अप्रच्छन्नता तथा उद्घाटयता, सर्व प्रथम अनुभूत होते हैं। समग्र रूप मे सत् (Das Seiende im Ganzen) स्वय को Physis Φυσις "प्रकृति" के रूप में प्रकट करता है, जो अभी तक, जो-है के विशिष्ट क्षेत्र का सकेत नही देती, अपितु उससे समग्रता-मे-जो-यथावत्-है (Das Seiende als Solches im Ganzen) तथा उसके अतिरिक्त, उद्भेदनशील उपस्थिति (aufgehenden Anwesen) का पता चलता है । केवल जहां जो-है व्यक्त रूप मे निजी उद्घाटन की शक्ति प्राप्त करता है । तथा वहा सुरक्षित रहता है, केवल जहा इस सुरक्षण को जो-यथावत् है की खोज के रूप मे समझा जाता है, केवल वही इतिहास का आरम्भ होता है । समग्रता-मे-जो है का आरम्भिक उद्घाटन, जो-यथावत्-है की खोज, तथा पश्चिम के इतिहास का प्रारम्भ, समान तथा एक ही बात को व्यक्त करते हैं, तथा उस 'काल" मे समसामयिक हैं, जो स्वय अपरिमेय है, तथा जो केवल स्वय ही उन्मुक्त को सभी प्रकार के माप के लिए लभ्य बनाता है ।

किन्तु जो-है के होने देने के अर्थ में गृहीत वहि स्थित अस्तित्व (Da sein) यदि मनुष्य को उसकी "स्वतन्त्रता" के लिए मुक्त करता है, केवल तभी, स्वतन्त्रता वास्तविक सभावनाओं में वरण का अवसर उसके सम्मुख उपस्थित करती है तथा वास्तविक आवश्यकताओं को उस पर आरोपित करती है । इस स्थिति मे स्वतन्त्रता मानवीय प्रवृत्ति द्वारा सचालित नही होती । मनुष्य का स्वतन्त्रता पर सम्पत्ति की भाति अधिकार नही होता । इसकी जो विपरीत स्थिति है वही सही है । स्वतन्त्रता अथवा वहि स्थित उद्घाटनशील अस्तित्व (Da sein), मनुष्य पर अधिकार रखता है, तथा वह इतने मौलिक ढग से कि केवल वही उसको समग्रता-मे-जो-है से

इस प्रकार सम्बद्ध करना है जो उसके इतिहास का आधार तथा उसकी विशिष्ट विशेषता है। केवल वहि स्थित मनुष्य ही ऐतिहासिक है। 'प्रकृति' का कोई इतिहास नहीं होता।

स्वतन्त्रता, जो इस प्रकार जो है के होने देने के अर्थ में ग्रहण की जाती है, सत्य की प्रकृति की पूर्ति करती है तथा उसे पूर्णता प्रदान करती है, इस अर्थ में कि सत्य, जो-है का अगोपन तथा उन्मीलन है। सत्य किसी ऐसी सही उक्ति का चिह्न नहीं है जो किसी विषय के सम्बन्ध में किसी मानवीय 'ज्ञाता' ने प्रस्तुत की हो तथा जो तभी निश्चित रूप में किस क्षेत्र में, यह हम नहीं जानते सत्य समझी जाती हो सत्य वास्तव में जो-है का उद्घाटन है, ऐसा उद्घाटन जिसके द्वारा जो "उन्मुक्त" है, महत्त्व ग्रहण करता है। समस्त मानवीय व्यवहार उसी उन्मुक्तता में एक अभिव्यक्ति है। अतः मनुष्य अपनी वहि स्थिति के कारण ही है।

क्योंकि मानवीय व्यवहार (Verhalten) के सभी रूप, अपने २ विशिष्ट ढंग से, उन्मुक्त हैं, तथा वे सदैव उससे सम्बन्धित होते हैं, जिससे उन्हें सम्बन्धित होना चाहिए (Wozu es sich Verhaelt), अतः यह परिणाम निकलता है कि "वस्तुओं को होने देने" के नियमन (Verhaltenheit) अर्थात् स्वतन्त्रता ने मनुष्य को अनिवार्यतः अपने विचारों (Vorstellen) को किसी भी क्षण जो-है के अनुरूप बनाने का आन्तरिक निर्देश दिया होगा। मनुष्य वहि-स्थित है तथा अब उसका अर्थ यह है कि ऐतिहासिक मनुष्य का इतिहास है तथा उसकी सारी सम्भावनाओं ने उसे समग्रता में-जो-है के उद्घाटन में निश्चितता प्रदान की है। सत्य की मौलिक प्रकृति जिस रूप में क्रियान्वित होती है, वह रूप इतिहास के अमूल्य तथा सरल निश्चयों को जन्म देता है।

किन्तु, क्योंकि सत्य तत्वतः स्वतन्त्र है, अतः ऐतिहासिक मनुष्य, यद्यपि वह वस्तुओं को होने-देता है, वास्तव में जो है को केवल जो-वह-है अथवा जैसे वह है के रूप में ही रहने नहीं दे पाता। तब जो-है को आवृत्त कर लिया जाता है तथा उसे विकृत कर डाला जाता है। भ्रान्तियाँ शासन करने लगती हैं। सत्य का तात्विक निषेध, उसका अ-तत्व (Unwesen) प्रकट होता है। किन्तु क्योंकि वहि स्थित स्वतन्त्रता जो सत्य का तत्व है, मनुष्य की सम्पत्ति नहीं है, (इसके विपरीत स्थिति यह है कि मनुष्य केवल स्वतन्त्रता की सम्पत्ति के रूप में ही वहि-स्थित है तथा इसी कारण उसका इतिहास सभव है)। इससे यह निःसृत-होता है, कि अपनी बारी में सत्य का अ तत्व, केवल मनुष्य की असमर्थता तथा उपेक्षा के कारण अनुभव के परिणाम रूप में (A fosteriosi) उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके विपरीत असत्य, सत्य के तत्व से ही निर्गमित होना चाहिए। केवल इसलिए, कि तत्वतः सत्य एवं असत्य परस्पर एक दूसरे के प्रति उदासीन नहीं हैं, कोई सत्य उक्ति अपनी समरूप असत्य उक्ति की नितान्त विरोधी हो सकती है। सत्य की प्रकृति के लिए हमारी खोज केवल, तभी जिज्ञासा के मौलिक क्षेत्र तक पहुंचती है जब सत्य के पूर्ण तत्व के उद्घाटन में प्रारम्भिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के पश्चात अब हम तत्व के उद्घाटन में असत्य सम्बन्धी विचारों को भी सम्मिलित कर लेते हैं। सत्य के अ तत्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा केवल बाद की खानापुरी नहीं है, वस्तुतः यह सत्य की प्रकृति के विषय में कोई भी प्रश्न उचित रूप में उठाने की ओर एक निर्णायक चरण है। किन्तु हम

किस प्रकार सत्य के अ तत्त्व को उसके तत्त्व के अंश के रूप में ग्रहण करें ? यदि सत्य का त किसी उक्ति के सही होने में पूर्णतया प्रदर्शित नही होता, तब असत्य को भी मत के ग़लत हो से समीकृत नही किया जा सकता ।

५ सत्य का तत्त्व

सत्य का तत्त्व स्वतन्त्रता के रूप मे उद्घाटित हुआ है। यह जो-है को वहि स्थित उ घाटनशील "होने देना" है । व्यवहार का प्रत्येक उन्मुक्त रूप इस "होने-देने" से आन्दोलित (Schwingt) तथा अपने को किसी भी यथार्थ से सम्बन्धित कर लेता है । इस अर्थ में, कि स्वतन्त्रता का अर्थ समग्रता-में-जो है के उद्घाटन मे सक्रियता है, स्वतन्त्रता ने समस्त व्यवहार को आरम्भ से ही इससे सुसवादित कर लिया है (abgestimmt) । किन्तु यह सुसवादिता Gesti mmheit) अथवा "अवस्था" (Stimmung), "अनुभव" तथा "अनुभूति" के रूप मे कभी-भी ग्रहण नहीं की जा सकती, कारण कि यदि ऐसा समझा जाय, तो यह तुरन्त अपने तत्त्व (Wesen) से वचित हो जायगी, तथा केवल "जीवन" तथा "आत्मा" के पदो द्वारा व्याख्येय होगी—जो निज रूप मे (Weoonheit) तभी तक अस्तित्वमान प्रतीत होंगी, जब तक वे उस सुसवादिता की कोई विकृत अथवा भ्रान्त व्याख्या प्रस्तुत करें । इस प्रकार की अवस्था, अर्थात् समग्रता-में-जो-है मे वहि स्थित की अभिव्यक्ति मानो केवल "अनुभव की" जा सकती है अथवा उसकी केवल अनुभूति सभव है, कारण कि "अनुभवकर्त्ता" अवस्था (Stimmung) की प्रकृति के सम्बन्ध मे किसी भी बोध के बिना ही समग्रता-में-जो-है का उद्घाटन करने वाली सुसवादिता मे, भाग लेता है । ऐतिहासिक मनुष्य का समस्त व्यवहार, चाहे उस पर बल दिया गया हो अथवा नहीं, चाहे उसे समझा गया हो अथवा नहीं, समस्वर होता है तथा इस समस्वरता के माध्यम से समग्रता-में-जो-है के स्तर तक उठ जाता है । समग्रता-मे-जो-है की व्यक्त विशेषता ज्ञात वास्तविकताओ के योग से तादात्म्य नही रखती । इसके विपरीत, जहाँ केवल कुछ वास्तविकताए ज्ञात हैं अथवा जहा वे विज्ञान द्वारा शायद ही ज्ञात होती हैं, अथवा अत्यन्त स्थूल रूप में ज्ञात हैं, वहा ही समग्रता-में-जो-है की उन्मुक्त विशेषता कही अधिक तात्त्विक रूप में सक्रिय हो सकती है, उस स्थिति की तुलना में जहा ज्ञात तथा सवदा ज्ञेय का सर्वेक्षण असभव हो गया हो तथा ज्ञान की प्रक्रिया का अधिक सामना न कर सकता हो, कारण कि वस्तुओं का प्राविधिक नियन्त्रण अपने क्षेत्र में असीम प्रतीत होता है । वस्तुत ज्ञान की यह आत्म-वृद्धि तथा स्तरीकरण, प्रत्येक वस्तु को जानने की यह इच्छा ही, जो है की उन्मुक्त विशेषता के, उदासीनता अथवा उससे भी अधिक गई गुजरी विस्मृति की प्रतीयमान रिक्तता मे, लुप्त होने का कारण है ।

होने-देने का निर्धारक सिद्धान्त समस्त उन्मुक्त व्यवहार का पूर्वाभास पा लेता है, तथा उसमें व्याप्त रहता है जिसे उसने स्वय से सुसवादित करते हुए आन्दोलित किया है । मनुष्य का व्यवहार समग्रता-में-जो-है की उन्मुक्त विशेषता से समस्वर है । किन्तु यह 'समग्रता-में" हमारे दैनिक परिकलन तथा क्रियाओं के दृष्टि क्षेत्र में अकलनीय तथा अगम्य विषय के रूप में प्रकट होता है । इसे केवल, जो व्यक्त "है"-के शब्दों में ग्रहण नही किया जा सकता, चाहे

यह प्रकृति का भाग हो, अथवा इतिहास का । यद्यपि स्वयं निरन्तर सभी वस्तुओं का निर्धारित करता है, तथापि यह "समग्रता में" अनिर्धारित तथा अनिर्धारणीय रहता है फलतः सामान्यतया भ्रान्त रूप मे इसे वह मान लिया जाता है, जो अत्यन्त निकट है तथा जिसके विषय मे अत्यन्त सरलता से विचार किया जा सकता है । साथ ही यह निर्धारक तत्त्व कथन शून्य (Nothing) नही है । यह समग्रता मे जो है का गोपन है । ठीक इसीलिए कि "होने-देना" प्रत्येक स्थिति मे प्रत्येक वस्तु को अपनी उचित स्थिति में होने देना है, तथा इस प्रकार यह उसका उद्घाटन करता है यह तुरन्त ही समग्रता मे जो है को छिपा भी लेता है (Verbigt es das seiende in Ganzen)" । वस्तुओं को होने देना साथ ही उनका गोपन (Verbergen) भी है । अस्तित्व (Da sein) की वहि स्थित स्वतन्त्रता मे समग्रता में जो-है आवृत हो जाता है, तथा गोपनीयता उसी मे रहती है ।

६ गोपन के रूप मे असत्य

गोपन (Aletheia αλΝΦΕΙα) के उद्घाटन का निषेध करता है, किन्तु अभी वह उसे Stereses ∂TEPΝΟΙS (अभाव, हानि) के रूप में भी ग्रहण नही करता । वस्तुत वह अपने विशिष्ट गुण को Aletheia αλΝΦΕΙα का गुण बना लेता है । तो, सत्य को उद्घाटन के रूप मे स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण से, गोपन अनुद्घाटन (Un entborgnheit) है, तथा इस प्रकार वह असत्य है जो सत्य की प्रकृति की विशिष्टता है तथा उसी से सम्बन्धित है । समग्रता में जो है का गोपन, हमारे जो-है के सदैव आंशिक ज्ञान का अनुवर्ती नही है । यह गोपनीयता, अथवा वास्तविक (Eigenteich) असत्य, किसी भी वास्तविकता के समग्र उद्घाटन का पूर्वगामी है । यहां तक कि यह जो है के उस होने देने का भी पूर्वगामी है जो उद्घाटन द्वारा गोपन करता है तथा इस प्रकार प्रच्छन्नता को स्थापित करता है । वह क्या है जो होने-देने को इस प्रकार गोपन से सह सम्बन्धित किए रहता है ? वस्तुत वह जो समग्रता में गुप्त गोपन (Die Verbergung das verborgenen) अथवा जो यथावत है के गोपन अर्थात् रहस्य से कम कुछ नही । यह केवल किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित एकाकी रहस्य नही है, अपितु यह एक मात्र तथ्य कि परम रहस्य, यथावत शुद्ध रहस्य (गुप्त का गोपन) मनुष्य के अस्तित्व (Da sein) में व्याप्त रहता है ।

समग्रता में वस्तुओं को होने देना-यह प्रक्रिया जो उद्घाटन तथा गोपन एक साथ सम्पन्न करती है—इस स्थिति को उत्पन्न करता है, कि गोपन मूल वस्तु के गुप्त होने के रूप मे प्रकट होता है । अस्तित्व (Da sein) जिस सीमा तक वह बहि स्थित है, समस्त अर्थात् वास्तविक असत्य के प्रथम तथा अत्यन्त चरम अनुद्घाटन को पुन पुष्ट करता है । सत्य का वास्तविक अतत्त्व-यही रहस्य है । यहां अतत्त्व को किसी ऐसे विषय के रूप में ग्रहण नही करना है जिसे "तत्त्व" में समान अथवा सामान्य (KOINON, GENOS KOLVOV, & EVOS) के अर्थ में, अतत्त्व की सम्भावना तथा इस सम्भावना के आधार के अर्थ में घटाया गया हो । अथवा जिसे इस विशिष्ट अर्थ मे "तत्त्व" के विरोध में ग्रहण किया गया हो । अतत्त्व का अर्थ यहां प्राक्-तत्त्व है, अर्थात् वह जो तत्त्व का पूर्वगामी है (Das vorwesende wesen) । किन्तु

इसका प्राथमिक एव मुख्य अर्थ है, उस पूर्व से ही निगमित तत्त्व को विरूपित करना। फिर भी, विशेष बात यह है कि इन सभी अर्थों में अतत्त्व, तत्त्व के लिए तात्विक बना रहता है तथा इस अर्थ मे कभी भी अतात्विक नही होता कि वह उसके प्रति उदासीन है। किन्तु अतत्व तथा असत्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहना साधारण दृष्टि (doxa δoεα) की अत्यन्त उपेक्षा करना है तथा यत्नकृत विरोधाभासों को घसीटना है। क्योकि इस स्थिति की उत्पत्ति से बचना कठिन है, हम इस प्रकार के कथनो से बचेंगे, जो केवल चिन्तन की मान्य प्रणालियो के लिए ही "विरोधाभासी" हैं, कारण कि, जो सत्य के अतत्त्व के प्रारम्भिक "अ" तथा असत्य "अ" को जानते हैं, सत (Sein) के सत्य के अभी तक अनन्वेषित क्षेत्र की ओर सकेत करते हैं, केवल जो-है (Das Seiende) की ओर नही।

जो-है के होने देने के रूप मे गृहीत, स्वतन्त्रता तत्त्वत एक मुक्त सकल्प का सम्बन्ध है और वह केवल अपने में बन्द नहीं है। समस्त व्यवहार इसी सम्बन्ध मे अधिष्ठित है तथा इससे जो-है की ओर उन्मुख होने का निर्देश तथा उसको उद्घाटित करने का आदेश प्राप्त करता है। किन्तु, उद्घाटन से यह साम्य, अपने को उस सीमा तक छिपाता है, जिस सीमा तक यह रहस्य की नैरन्तरिक विस्मृति को प्रधानता देता है, जिससे सम्बद्धता इस विस्मृति में लुप्त हो जाती है। यद्यपि मनुष्य सदा जो-है से सम्बन्धित रहता है, वह लगभग सदा ही उसकी किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति को स्वीकृति देता है। वह अब भी, यहा तक कि अन्तिम तत्त्वो के सदिग्ध रहने पर भी उसके क्षेत्र मे है, जिसका वह स्पर्श, तथा नियन्त्रण कर सकता है। तथा जब वह जो-है को परिवर्तित करने के लिए उसे पुन अपनाने एव प्राप्त करने के लिए, उसकी अभिव्यक्ति का अपनी सक्रियता के विविध क्षेत्रो मे विस्तार करने लगता है, तब भी वह अपने निर्देश, व्यावहारिक योजनाओ तथा आवश्यकताओं के क्षेत्र से ग्रहण करता है।

किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र मे यह स्थैर्य स्वय गुप्त के गोपन को अपना पूर्ण साम्राज्य देने की अनिच्छुकता है। व्यावहारिक जगत् मे भी उलझनें, अस्पष्ट समस्याए तथा अनिश्चित अथवा सशयग्रस्त विषय होते हैं। किन्तु यह प्रश्न जो अपने मे इतने निश्चित प्रतीत होते हैं, केवल हमारी व्यावहारिक क्षेत्र की यात्रा में आने वाले जनपथ अथवा विश्राम स्थल हैं, अत वे महत्त्वपूर्ण नही हैं। जहा कही समग्रता में जो है का गोपन, केवल आकस्मिक रूप में, यदा कदा अतिक्रमण करने वाली सीमा के रूप में स्वीकार किया जाता है वहा अस्तित्व (Da sein) की अधिष्ठान भूमि के रूप मे उपस्थित गोपन, विस्मृति मे लुप्त हो जाता है।

किन्तु अस्तित्व (Da Sein) का विस्मृत रहस्य, विस्मृत होने से दूर नहीं हो जाता, इसके विपरीत जो विस्मृत है उसके प्रतीयमान लोप को, विस्मृति एक विशिष्ट अस्तित्व प्रदान करती है जिस सीमा तक रहस्य विस्मृति मे तथा विस्मृति के लिए अपना निषेध करता है, वह ऐतिहासिक मनुष्य को व्यावहारिक क्षेत्र मे स्वय अपने साधनों पर भरोसा करने के लिए छोड देता है। इस प्रकार छोड जाने पर, मानवता अपना "ससार" उन उद्देश्यो तथा आवश्यकताओं से निर्मित करती है जो अत्यन्त तात्कालिक होती हैं तथा उसे वह योजनाओ तथा परियोजनाओं से परिपूर्ण करती है। इनसे मनुष्य, क्रमश समग्रता-मे-जो-है को विस्मृत कर अपने मान दण्ड

प्राप्त करता है। वह उन पर आग्रह करता है तथा मानदण्ड निर्धारित करने के कारण अथवा मानदण्ड की प्रकृति के विषय में सोचे बिना अपने लिए निरन्तर नित नई योजनाएँ बनाता रहता है। नवीन मानदण्डों तथा लक्ष्यों की ओर अग्रसर होने के बावजूद भी वह उनकी तात्त्विक वास्तविकता के विषय में भ्रान्त रहता है। जितना एकान्तिक रूप में वह स्वयं को सभी विषयों का मानदण्ड समझता है उतना ही अधिक वह भ्रान्त हो जाता है।

अपनी इस अपरिमित तथा प्रगल्भ (Vermessen) विस्मृति के साथ वह अपने निजत्व की निश्चितताओं से, तथा जो भी अपरोक्षत लभ्य होता है उससे चिपका रहता है। यह आग्रह (Beharren) जिससे वह अनभिज्ञ है-इस परिस्थिति से पुष्ट होता है कि उसका अस्तित्व (Da sein) बहिः स्थित नहीं है, अपितु साथ ही अन्तःस्थित भी है, अर्थात् वह दृढ रूप से उसमें आसक्त रहता है (Besteht auf), जिसे वास्तविकता (Das Seiende), जो मानो निज में स्थित तथा उन्मुक्त है, उसे प्रदान करती है।

बहिः स्थित के रूप में अस्तित्व (Da Sein) अन्तःस्थित है। किन्तु रहस्य अन्तःस्थित अस्तित्व में भी निवास करता है यद्यपि यहाँ रहस्य सत्य का वह विस्मृत तत्त्व है जो अब 'अतात्त्विक" हो जाता है।

७ भूल के रूप में असत्य

अन्तःस्थित होते हुए मनुष्य, जो है के अत्यन्त सुलभ अंश में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु वह, जो है को मानदण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए केवल पहले से बहिः स्थित होने के कारण अन्तःस्थित है। किन्तु उसके द्वारा गृहीत मानदण्डों के कारण, वह रहस्य से विमुख हो जाता है। व्यावहारिक तथा सुलभ के प्रति वह अन्तःस्थित उन्मुखता तथा रहस्य के प्रति यह बहिः स्थित विमुखता परस्पर सम्बद्ध हैं। वे एक ही वस्तु हैं। तथापि यह आगे पीछे की गति अस्तित्व (Da Sein) की विशिष्ट लय के अनुकूल है। मनुष्य का रहस्य को सदा छोड़ते हुए रहस्य से हटकर व्यावहारिकता की ओर जाना तथा एक व्यावहारिकता से दूसरी व्यावहारिकता की ओर बढ़ना ही भूल है।

मनुष्य भूल करता है। उससे केवल भूल ही नहीं होती अपितु वह सदा भूल में रहता है, कारण कि बहिः स्थित होने से वह अन्तःस्थित है तथा इस प्रकार पहले से ही भूल में है। जिस भूल में वह रहता है वह उसके समीप से गुजरने वाली खाई की भाँति उसके मार्ग में सदा स्थित नहीं रहती, जिसमें वह यदा कदा गिर पड़ता हो। नहीं, भूल अस्तित्व (Da Sein) की आन्तरिक रचना का अंग है, जिसमें ऐतिहासिक मनुष्य अन्तग्रस्त है। भूल, सत् की परिवर्तनशील अवस्थाओं (Wende) के लिए एक नाट्यशाला है जहाँ अन्तःस्थित बहिः स्थिति, वर्तन तथा आवर्तन में निरन्तर स्वयं को सदा विस्मृत करती रहती है तथा भ्रान्ति में रहती है। समग्रता में प्रच्छन्न जो-है का गोपन किसी भी क्षण जो है के उद्घाटन द्वारा सक्रिय हो जाता है, तथा यह उद्घाटन, गोपन का विस्मरण होने के कारण, भूल का कारण बनता है।

भूल सत्य के मौलिक तत्त्व का तात्त्विक प्रति-तत्त्व (Das Wesentlich Gegenwesen) है। यह तात्त्विक सत्य की समस्त प्रति क्रीड़ाओं के लिए एक अनावृत मंच के रूप में

उद्घाटित होता है। भूल अनौचित्य का आधार तथा उद्घाटित अधिष्ठान है। अनौचित्य केवल इक्की दुक्की अशुद्धि ही नही है, अपितु उसका पूरा साम्राज्य है, भूल करने के विषय तथा उलझे हुए रूपो का एक पूर्ण इतिहास है।

व्यवहार के समस्त रूपो मे से प्रत्येक का, समग्रता-मे-जो-है से उनके सह सम्बन्ध तथा उनकी उन्मुक्तता के अनुरूप, भूल करने का एक अपना ढग है। अत्यन्त सामान्य भूल, असावधानता, मिथ्यानुमान, से लेकर उस स्थिति मे जहा महत्वपूर्ण दृष्टि को अपनाने तथा तात्विक निर्णयो के लेने का प्रश्न उठता है, पथ भ्रष्ट होने तथा पूर्णतया खो जाने तक अनौचित्य का क्षेत्र है। हम साधारण रूप मे, तथा इसके अतिरिक्त, दर्शन की शिक्षा के अनुसार "अनौचित्य" के द्वारा जो अर्थ लेते हैं—जैसे किसी निर्णय का ठीक न होना (Unrichtigkeit) तथा किसी प्रत्यक्ष का मिथ्या होना यह भूल करने का केवल एक तथा वह भी अत्यन्त महत्वहीन रूप है। जिस भूल मे ऐतिहासिक मनुष्य को सदा रहना पडता है, जो उसके मार्ग को अनियमित (Irrig) बना देती है, वह तत्वत, जो-है की उन्मुक्त विशेषता से तादात्म्य रखती है। मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर भूल उस पर पूरी तरह हावी हो जाती है। किन्तु ठीक इसी दिग्भ्रान्ति (Beirrung) से, भूल मनुष्य की सम्भावना मे (जिसे वह सदा अपनी बहि स्थिति से नि सृत कर सकता है) योग देती है, जो उसे स्वय को पथभ्रष्ट न होने देने, भूल को स्वय अनुभव करने, तथा इस प्रकार अस्तित्व (Da Sein) के रहस्य की अवहेलना न करने की है।

क्योकि मनुष्य की अन्त स्थित बहि स्थिति भूल की ओर ले जाती है और क्योकि भूल किसी न किसी रूप में सदा दवाव डालती है तथा इसी दवाव के कारण रहस्य को—यद्यपि वह विस्मृत है—निर्दिष्ट करने में समर्थ हो जाती है, इसलिए मनुष्य अपने अस्तित्व (Da Sein) मे रहस्य के तथा स्वय अपनी पीडाओं के शासन के विशिष्टतया आधीन है। उनके मध्य वह विवशता की चरमावस्था मे रहता है। सत्य का समग्र तत्व जिसमें उसका "अ-तत्व" भी है, अस्तित्व (Da Sein) को सदा इधर उधर आवर्तित करते हुए किसी न किसी रूप मे सदैव मुसीवत में डाल देता है। अस्तित्व (Da Sein) वास्तव मे, मुसीवत में पडना अथवा किसी आवश्यकता मे होना है। मनुष्य के अस्तित्व (Da Sein) से तथा केवल इसी से, अनिवार्यता का उद्घाटन होता है तथा परिणामत इस अनिवार्यता को किसी अपेक्षित मे, किसी अपरिहार्य के रूप में परिवर्तित करने की सभावना भी उत्पन्न होती है।

जो-यथावत्-है का उद्घाटन, साथ ही समग्रता-मे जो-है का गोपन भी है। उद्घाटन तथा गोपन की इस समकालीनता में भूल का प्रभुत्व है। गुप्त का गोपन तथा भूल, सत्य के मौलिक तत्व से ही सम्बन्धित हैं। स्वतन्त्रता, जो अस्तित्व (Da Sein) की अन्त स्थित बहि-स्थिति मे है, सत्य का (उवत्यात्मक सगति के रूप में) तत्व केवल इसलिए है कि वह स्वय सत्य के मौलिक तत्व से अथवा भ्रान्ति मे रहस्य के साम्राज्य से, उत्पन्न होती है। जो है को होने देने की प्रक्रिया उन्मुक्त सम्बद्धता के क्षेत्र में सम्पन्न होती है। किन्तु समग्रता मे जो यथावत्-है का होने देना उसके तत्त्व की अनुरूपता मे तभी सम्पन्न होता है, जब परवर्ती (अर्थात् समग्रता मे जो-यथावद-है) अपने मौलिक तत्व के रूप मे पहले ही ग्रहण कर लिया जाता है (Iiber-

nommeh)। तब रहस्य के लिये "मुक्त निश्चय" भ्रान्ति मात्र के मार्ग पर आने लगता है। सब सत्य की तात्त्विक प्रकृति से सम्बन्धित प्रश्न अधिक मौलिक रूप में तथा अधिक गहराई से उठाया जाता है। और तभी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सत्य का तत्त्व, तत्त्व के सत्य के साथ क्यों सम्बन्धित है। भ्रान्ति में रहस्य में दृष्टिपात करना, केवल एकमात्र विद्यमान प्रश्न के अर्थ में, प्रश्न करना है वह क्या है जो समग्रता में यथावत् है? यह प्रश्न तत्त्वत भ्रान्ति-कारक के विषय में मनन करता है तथा अपने विविध पक्षों के कारण जो-है में सत् (Das Sein Des Scienden) के सम्बन्ध में अनुत्तरित प्रश्न बना हुआ है। सत् का विचार, जो इस प्रकार की समस्त जिज्ञासा का मौलिक स्रोत है, प्लेटो के समय से ही, "दर्शन" के रूप में ग्रहण किया गया तथा बाद में तत्त्वमीमांसा की संज्ञा से अभिहित हुआ।

८ सत्य तथा दर्शन की समस्या

सत् के इस विचार में, बहि स्थिति के लिए मनुष्य की स्वतन्त्रता (वह स्वतन्त्रता जो समस्त इतिहास का आधार है) शब्दों में प्रस्तुत की गई है। इसे किसी "मत" की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए, वस्तुत यह शब्द (सत्) समग्रता-में-जो-है के सत्य को सुरक्षित रखना है। यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कितने लोग इस शब्द को सुन पाते हैं। जो इसे सुनते हैं, वे मनुष्य के इतिहास में मनुष्य के स्थान को निर्धारित करते हैं। किन्तु उस क्षण, जब दर्शन की उत्पत्ति हुई, तभी उससे पहले नहीं, साधारण दृष्टि का व्यक्त प्रभुत्व भी आरम्भ हुआ।

साधारण दृष्टि, जो व्यक्त है, उसकी अ-समस्यात्मक विशेषता की ओर ही ध्यान आकृष्ट करती है तथा स्वस्थ साधारण दृष्टि एवं उसकी अप्रिय संवेदनशीलताओं पर आक्रमण के रूप में समस्त बौद्धिक जिज्ञासा की व्याख्या करती है।

किन्तु, स्वस्थ साधारण दृष्टि (जो अपने क्षेत्र में पूर्णतया न्यायोचित है), के मूल्यांकन में दर्शन क्या है, यह बात उसके उस तत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं डालती, जो पूर्णत समग्रता में जो-यथावत् है के मौलिक सत्य से अपने सम्बन्ध के द्वारा ही निर्धारित होता है। किन्तु, क्योंकि सत्य के पूर्ण तत्त्व में "अतत्त्व" भी अन्तर्भूत होता है, तथा क्योंकि यह प्रमुखतया गोपन के रूप में सक्रिय होता है, दर्शन, इस सत्य की खोज के रूप में द्वि-पक्षीय प्रकृति रखता है। वे मनन, समग्रता में जो-है के गोपन को अस्वीकार न करते हुए मृदुलता की शान्त गरिमा रखते हैं, साथ ही उनमें कठोरता का "उन्मुक्त निश्चय" भी होता है, जो गोपन को विच्छिन्न किये बिना अपने तत्त्व को पूर्ण एवं अक्षत रूप में, उन्मुक्त में, हमारी बुद्धि में प्रविष्ट कराता है और इस प्रकार अपने निजी सत्य का उद्घाटन करता है।

मृदुल कठोरता में तथा कठोर मृदुलता में, जिसके द्वारा यह जो-यथावत्-है को समग्रता होने देता है, दर्शन एक ऐसी जिज्ञासा बन जाता है, जो न केवल जो-है से संलग्न रहती है, अपितु जो किसी बाह्य प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करती है। काण्ट को इस प्रकार के चिन्तन के मर्मान्त का कुछ बोध था जब उसने दर्शन के लिये यह कहा "वास्तव में अब हम दर्शन को एक संशयात्मक स्थिति में देखते हैं, एक ऐसी स्थिति जो-इस बात की चिन्ता बिना कि यह

न तो स्वर्ग मे और न पृथ्वी पर ही किसी भी अन्य वस्तु से सलग्न है अथवा उस पर आश्रित है सुदृढ समझी जाती है, तब इस स्थिति मे दर्शन को, अपने नियमो के रक्षक के रूप मे-नियमो के सन्देशवाहक के रूप मे नही, जिन्हें आभ्यान्तरिक बोध अथवा किसी प्रकार की सरक्षक प्रकृति उसके कानो में फुसफुसा देती है—अपनी सच्चाई को सिद्ध करना पडता है ।"

दर्शन की प्रकृति की इस व्याख्या के साथ काण्ट, जिसका कार्य पाश्चात्य तत्त्वमीमासा के आधुनिकतम पक्ष की प्रस्तावना है उस क्षेत्र मे दृष्टिपात करता है, जिसे, क्योंकि उसकी तत्त्वमीमासा आत्मनिष्ठता मे स्थित थी, वह केवल आत्मनिष्ठ शब्दो मे ही समझ सकता था, तथा उसे अपने नियमो के रक्षक के रूप मे ग्रहण करने के लिये बाध्य था । फिर भी, उसे दर्शन के कार्य की जो झलक प्राप्त हुई, वह अभी भी इतने पर्याप्त रूप मे विशद है कि वह दार्शनिक चिन्तन के समस्त दासत्व को अस्वीकार करती है, जिसका अत्यन्त असहाय रूप तब उपलब्ध होता है जब दर्शन को केवल "सस्कृति" की "अभिव्यक्ति" (स्पेंगलर) एव सृजनात्मक मानवता के अलकरण के रूप मे अपनी स्थिति सिद्ध करने वाला मानकर छला जाता है।

क्या दर्शन अन्तत नियमो के रक्षक के रूप मे अपनी मौलिक तथा महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है अथवा क्या वह मुख्यत उसके सत्य के, जिसके द्वारा नियम शाश्वत नियम हैं, स्वय सरक्षण के लिये नियत नही हैं अथवा उसके द्वारा सरक्षित नही होता, यह एक ऐसी समस्या है, जिसका उसी मौलिक स्रोत द्वारा (Aus des Anfinglichfeeit) समाधान किया जा सकता है, जहाँ सत्य का मौलिक तत्त्व दार्शनिक जिज्ञासा के लिये तात्त्विक हो जाता है ।

प्रस्तुत निबन्ध सत्य से सम्बन्धित प्रश्न को, हमारे मूलभूत प्रत्ययो की पारम्परिक सीमा के परे ले जाता है, तथा हमें यह विचार करने मे योग देता है कि कही सत्य के तत्त्व का यह प्रश्न, साथ ही, अनिवार्यत तत्त्व के सत्य का प्रश्न तो नही है। किन्तु, दर्शन, "तत्त्व" को सत् के रूप मे ग्रहण करता है । किसी कथन के "ठीक होने" की आन्तरिक सभावना को, उस कथन के मूलाधार के रूप मे, "होने देने" की बहि स्थित स्वतन्त्रता से नि सृत कर, यह सुझाव देकर कि इस आधार का तात्त्विक मर्म, गोपन तथा भूल मे प्राप्य है, हमने यह सकेत दिया है कि सत्य की प्रकृति किसी "अमूर्त" साधारणोक्ति की, केवल थोथी "सामान्य" विशेषता नही है, अपितु कोई ऐसी वस्तु है जो इतिहास (जो स्वत अद्वितीय है) मे अद्वितीय है अर्थात् जिसे हम "सत्" कहते हैं तथा जिसे हम दीर्घकाल से केवल "समग्रता-में-जो-है" के रूप मे सोचने के अभ्यस्त हो गये हैं, उसके "अर्थ" के अनावरण का आत्म-गोपन ।

टिप्पणी

सत्य के तत्त्व के विषय मे उपर्युक्त अन्वीक्षण सर्वप्रथम एक सार्वजनिक व्याख्यान के रूप में १९३० में ब्रिमेन, मारबुर्ग एव फ्राइबुर्ग तथा पुन १९३२ मे ड्रेसडेन में दिया गया। इस व्याख्यान के वे उद्धरण जो सत्य के तत्त्व से सम्बन्धित थे, बारम्बार दोहराये गये, यद्यपि इसका क्रम, इसकी रचना तथा इसकी सामान्य दिशा को सुरक्षित रखा गया ।

"अर्थ" के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण प्रश्न (यथा मेरी पुस्तक-"ज़ाइन उण्ट त्साइत" १९२७) अर्थात् ("ज़ाइन उण्ट त्साइत" पृ १५१) प्रक्षेपण का क्षेत्र (Entwurjsbereich) अर्थात् उन्मु-

तता (Offenheit), अर्थात् केवल जो है या नहीं, अपितु सत् के सत्य का प्रश्न, जानबूझकर अविकसित छोड़ दिया गया है। सब प्रकार से चिन्तन की गति तत्त्वमीमांसा के मार्ग का अनुसरण करती है, किन्तु साथ ही, इसके महत्त्वपूर्ण चरणों के सम्बन्ध में जो दीर्घ ज्ञान के रूप में सत्य से बहिःस्थित स्वतन्त्रता तक तथा यहाँ से गोपन एवं भ्रान्ति के रूप में प्रगत्य हो ले जाते हैं—विचार करने पर, यह अन्वीक्षण की दिशा में एक परिवर्तन उपस्थित करती है-एक ऐसा परिवर्तन, जो वास्तव में, तत्त्वमीमांसा की विजय (Ueberwindung) में सन्निहित है।

इस व्याख्यान में जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह उस तात्त्विक अनुभव में पुष्पित होता है, जिसके द्वारा उस वस्तु के रूप में जिसमें हमारा प्रवेश सम्भव है केवल अस्तित्व (Da Sein) में तथा उससे ही, सत् के सत्य का कोई साम्य ऐतिहासिक मनुष्य के लिये विकसित हो सकता है। केवल प्रत्येक प्रकार की "मानविकी" तथा प्रत्येक प्रकार की (विषयी के रूप में मनुष्य की) आत्मनिष्ठता का परित्याग ही नहीं किया गया है, जैसी कि स्थिति "जाइन उण्ट त्साइत' में थी तथा इतिहास के प्रति मूलभूत नवीन दृष्टिकोण के "अधिष्ठान" के रूप में ही सत् के सत्य की खोज नहीं की गई, अपितु इस व्याख्यान के दौरान में, इस दूसरे अधिष्ठान अर्थात् अस्तित्व (Da-sein) के शब्दों में सोचने का प्रयत्न भी किया गया है। प्रश्नों की यह शृंखला स्वयं, चिन्तन का एक रूप है, जो, केवल प्रत्ययों को प्रदान करने के स्थान पर, सत् से सम्बद्धता के एक नवीन स्वरूप के रूप में, अपनी अनुभूति तथा परीक्षा करता है।

अन्य मनस्

जे० एल० आस्टिन

अनुवाद राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

मुझे लगता है कि श्री विसडम द्वारा 'अन्य मनस्' पर व्यक्त विचारों [जो Proceedings of the Aristotelian Society, Supp Vol XX तथा Mind 1940–३ में कई लेखों द्वारा स्पष्ट हुये, और जो अब 'Other Minds' नामक पुस्तक के रूप में उपलब्ध हैं] से मैं काफी-कुछ सहमत हूँ।

यह निःसंदेह ठीक ही है कि श्री विसडम 'अन्य मनस्' की 'उलझन' इन जैसे प्रश्नों में प्रत्युत्पन्न देखते हैं—'हम कैसे जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है ?' वे अन्य तरह के प्रश्नों का भी उल्लेख करते हैं अन्य प्राणियों के विचारों, अनुभूतियों, संवेदनाओं, बुद्धि, आदि को 'क्या हम (कभी भी) जान पाते हैं ?' 'क्या हम जान सकते हैं ?', 'हम कैसे जान सकते हैं ?' इत्यादि। किंतु ये बाद वाले प्रश्न मुझे प्रथम प्रश्न से भिन्न प्रतीत होते हैं। मैं प्रथम प्रश्न के संदर्भ में ही चर्चा करूंगा।

श्री विसडम इस प्रश्न को इस तरह आगे बढ़ाते हैं—क्या यह उसी तरह से जानना है जैसे यह जानना कि दोची बोल रही है, या पड़ोस में चाय-पार्टी है, या इस चीज का यह वजन है ? मुझे लगता है कि श्री विसडम, अपनी बात आगे बढ़ाने में, उस कथन की बिलकुल सही विवेचना नहीं कर पाते जो हम इन प्रसंगों में 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के प्रत्युत्तर में करें। उदाहरणतः, चाय पार्टी के प्रसंग में यह कहना कि हमने उसे 'सादृश्यानुमान द्वारा' जाना, बहुत हुआ तो एक अच्छा मंजा हुआ उत्तर होगा (जिसे संभवतः कोई तर्कवादी 'आगमन द्वारा' प्राप्त भी कहे)। फिर, यह उत्तर गलत भी प्रतीत होता है, क्योंकि, मेरी समझ में, हम सादृश्यानुमान द्वारा जानने का नहीं, केवल युक्ति का दावा करते हैं। अतः मेरे लिये यह विचार करना आवश्यक होगा कि साधारणतः पूछे गये इस प्रश्न से कि 'तुम कैसे जानते हो ?' वस्तुतः क्या अर्थ निकलता है।

स्पष्ट है कि उक्त प्रश्न के उत्तर में बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर करेगा कि किस वस्तु के विषय में प्रश्न है। स्वाभाविक ही है कि मैं कई वस्तुओं के विषय में इस प्रश्न पर विचार नहीं करूँगा, या विस्तार से विचार नहीं करूँगा। 'वह क्रोधित है' जैसे कथन की तुलना में 'यह कोयल है' ('दोची बोल रही है') जैसे कथन—जो एक विशिष्ट, उपस्थित, आनुभविक

तथ्य का कथन है—ऊपरी तौर पर अति सरल मालूम पड़ते हैं, और साथ ही कठिन भी। यह उस तरह का कथन है जिसके कहने पर पूछे जाने की संभावना है, 'कैसे जानते हो ?' जिसके उत्तर में हम, कभी न कभी, कहते हैं कि हम जानते तो नहीं, ऐसा कथन हमारा विश्वास है। ऐसा कहना एक ग्राह हो सकता है तथा कुछ और भी।

जब हम इस तरह का दावा करते हैं कि 'बाग में कोयल है' या 'वह क्रोधित है' तो एक अर्थ में इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि हम उस संबंध में संदेहरहित हैं या उसे जानते हैं—यद्यपि हमारा तात्पर्य, इसी तरह किंतु अधिक सही तौर पर, यह होगा कि ऐसा हमारा विश्वास है। अतः इस तरह दावा करने पर हमें सीधे यह पूछा जा सकता है (१) 'जानते हो कि (कोयल) वहाँ है ?' 'जानते हो कि (वह) क्रोधित है ?' और (२) 'कैसे जानते हो ?' यदि प्रथम प्रश्न के उत्तर में हम 'हाँ' कहें तो हमें दूसरा प्रश्न पूछा जा सकता है। वैसे साधारणतः प्रथम से ही क्यों के साथ साथ कैसे का भी आशय लिया जाता है। किंतु, दूसरी ओर, प्रथम प्रश्न के उत्तर में हम 'नहीं' भी कह सकते हैं: हम कह सकते हैं, 'नहीं, किंतु मेरे विचार में (कोयल) वहाँ है', 'नहीं, किंतु मुझे विश्वास है कि वह (क्रोधित) है'। यह इसलिये, क्योंकि कथन के दावे से निकलने वाला जानना या संदेहहीनता का तात्पर्य नियत नहीं है: हम सबों की (एकदम या पर्याप्ततः) नियत ढंग से शिक्षा-दीक्षा भी नहीं हुई। जब हम यह उत्तर देते हैं, हमें पूछा जा सकता है—'क्यों तुम्हें विश्वास है ?' (या 'तुम्हारा ऐसा विचार क्यों है ?', 'ऐसा मानने का तुम्हारा कारण क्या है ?', आदि)।

प्रश्न के दो प्रकारों-'कैसे जानते हो ?' और 'क्यों विश्वास करते हो ?'-के बीच एक मूलभूत अंतर है। ऐसा नहीं लगता कि कभी भी हम पूछते हों कि 'क्यों जानते हो ?' या 'कैसे विश्वास करते हो ?' इस दृष्टि से तथा अन्य दृष्टियों से भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, न केवल 'मानें', 'सोचें' जैसे शब्द वरन् 'संशयरहित होना' तथा 'निश्चित होना' भी 'विश्वास' का अनुकरण करते हैं, ''जानना' का नहीं।

'कैसे जानते हो ?' या 'क्यों विश्वास करते हो ?'—इनमें से कोई भी प्रश्न केवल जिज्ञासा-वश, सीखने के सहज उद्देश्य से, पूछा जा सकता है। परंतु ये ही प्रश्न सीधे प्रश्नों के रूप में भी पूछे जा सकते हैं, और इस रूप में उनके बीच एक और अंतर उभरता है। 'कैसे जानते हो ?' इसका संकेत देता है कि शायद तुम जानते ही नहीं हो, जबकि 'क्यों विश्वास करते हो ?' का संकेत है कि शायद तुम्हें विश्वास नहीं करना चाहिये। यहाँ संकेत यह नहीं कि तुम्हें जानना नहीं चाहिये या कि तुम विश्वास नहीं करते। यदि प्रश्नकर्ता 'कैसे जानते हो ?' या 'क्यों विश्वास करते हो ?' के उत्तर को असंतोषजनक समझे तो वह इन दो संदर्भों में अपनी बात अलग अलग ढंग से कहता है। जबकि एक संदर्भ में वह कुछ इस तरह कहेगा 'तब तो तुम ऐसा कुछ नहीं जानते' या 'पर उससे तो बात सिद्ध नहीं होती: वस्तुतः तब तुम उसे जानते ही नहीं', वहाँ, दूसरी ओर, दूसरे संदर्भ में, उसका कथन कुछ इस तरह होगा 'कथन के पक्ष में वह प्रमाण तो बड़ा ही कमजोर है: केवल उसी के भरोसे तुम्हें विश्वास नहीं कर लेना चाहिये'।

यहाँ कथित विश्वास की 'सत्ता' को नही, वरन् कथित ज्ञान की 'सत्ता' को चुनौती दी गई है। यदि हम कहना चाहे कि 'मैं विश्वास करता हूँ', और उसी तरह 'मैं संदेहरहित हूँ' तथा 'मैं निश्चित हूँ', आत्मनिष्ठ (Subjective), मानसिक (Mental) या प्रज्ञानात्मक (Cognitive) स्थितियों के विवरण (Description) हैं, तब 'मैं जानता हूँ' ऐसा विवरण नहीं है, या कम से कम ऐसा विवरण मात्र नही है बोल-चाल मे इसकी क्रिया-विधि भिन्न है।

अब कोई कह सकता है, 'ठीक' साफ है कि "मैं जानता हूँ' ऐसे विवरण से अधिक है, स्वय मेरी स्थिति के विवरण से कुछ अधिक है। यदि मैं जानता हूँ, तो गलत नहीं हो सकता। सदैव यह दिखा कर कि मैं गलत हूँ या हो सकता हूँ तुम कह सकते हो कि मैं नहीं जानता, अथवा, यह दिखा कर कि मैं गलत हो सकता था तुम कह सकते हो कि मैं नहीं जानता था। इस तरह से, जानना की भिन्नता पक्के से पक्के निश्चय से भी है।' इस पर विचार अवश्य यथा-समय करेंगे, किंतु पहले हम इन प्रत्युत्तरों के प्रकारो पर विचार करें जो 'कैसे जानते हो ?' के उत्तर मे दिये जा सकते हैं।

मान लें कि मैंने कहा 'बाग की दूसरी ओर एक मैना है' और तुमने पूछा 'कैसे जानते हो ?' तो मेरा उत्तर कई तरह से हो सकता है

[क] मैंने जगलो मे काफी-कुछ सीखा
[ख] मैंने सुना
[ग] माली ने बताया
[घ] उसकी कूक से
[ड] कूक के स्वर से
[च] क्योकि वह कूक रही है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्रथम तीन 'तुमने किस तरह जाना ?' 'कैसे तुम जानने की स्थिति में हो ?' 'कैसे तुम जानते हो ?' प्रश्नो की अलग-अलग समझ से उत्पन्न उत्तर हैं जबकि अन्य तीन उत्तर 'कैसे कह सकते हो ?' प्रश्न को विभिन्न विधाओं में समझने से उत्पन्न हैं। मतलब यह कि, तुम्हारे प्रश्न को निम्नलिखित ढगो से समझ सकता हूँ

(१) मैं किस तरह ऐसी स्थिति मे पहुँचा कि मैना पक्षियो के सबध मे जानूँ ?
(२) मैं किस तरह ऐसी स्थिति में पहुँचा कि कह सकूँ कि अभी यहाँ एक मैना है ?
(३) मैं किस तरह मैना का विवरण देता (दे सकता) हूँ ?
(४) मैं किस तरह अभी और यहाँ उपस्थित वस्तु को मैना के रूप मे निरूपित करता (कर सकता) हूँ ?

तात्पर्य यह कि यह जानने के लिये कि यह एक मैना है, मेरे लिये आवश्यक है कि मैंने

(१) ऐसे वातावरण में प्रशिक्षण प्राप्त किया जहाँ मैना की जानकारी हो सके
(२) प्रस्तुत स्थिति मे एक विशेष अवसर उपलब्ध किया
(३) मैना की पहिचान या उसका विवरण सीखा

(८) इसको एक मैना के रूप में पहिचानने या विवरण में सफलता प्राप्त की।
यहाँ (१) और (२) में आशय है कि अन्य मेरे अनुभव कुछ विशेष प्रकार के थे, कि अवश्य मुझे कुछ विशेष अवसर उपलब्ध थे (३) और (४) में आशय है कि अवश्य मैंने एक विशेष प्रकार व विशेष परिमाण के सूक्ष्म निरीक्षण से काम लिया।

उक्त (१) और (३) में उठाये गये सवाल पहिचानना सीखने में हमारे पूर्व अनुभव, अवसर व क्रिया कलापों से संबंधित हैं। हमारे द्वारा अर्जित भावागत प्रयोगों या औचित्य अथवा अनौचित्य भी उन्हीं से सम्बद्ध है। इन्हीं पूर्व अनुभवों पर यह निर्भर करता है कि हम वस्तुओं को कितनी अच्छी तरह जानते हैं—उसी तरह जैसे हमारे पूर्व अनुभव पर यह निर्भर करता है कि, 'जानना' की विभिन्न प्रज्ञानात्मक स्थितियों में, हम कितना विस्तार से या कितना पास से जानते हैं हम किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष द्वारा या पास से किसी शहर को अंदर बाहर से, उपपत्ति को विपरीत-क्रम से, काव्य को पूरे विस्तार में, किसी कविता को शब्दानुशब्द, किसी फ्रांसीसी को उसे देखकर जानते हैं। 'वह नहीं जानता कि प्लाग (फसल भुखमरी) क्या है' का अर्थ है कि उसे पर्याप्त अनुभव नहीं जिससे कि वह उसे पहिचान सके और उसी तरह की अन्य चीजों से उसका अंतर समझ सके। किसी वस्तु का मेरे द्वारा पहिचाना जा सकना, उसका विवरण, पुनः प्रस्तुतीकरण, चित्रण, पाठन, प्रयोग, आदि किया जा सकना, इस पर निर्भर करता है कि कितनी अच्छी तरह मैं वस्तु को जानता हूँ और किस प्रकार की वह वस्तु है। 'मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ कि वह क्रोधित नहीं है' या 'तुम बहुत अच्छी तरह जानते हो कि यह सूती वस्त्र नहीं है' जैसे कथन, वर्तमान वस्तु-स्थिति के संबंध में होने पर भी, ज्ञान की उत्तम योग्यता को पूर्व अनुभव पर आरोपित करते हैं। उसी तरह इस सामान्य अभिव्यक्ति में भी होता है— तुम जैसे अनुभवी को तो और भी अच्छी तरह जानना चाहिये'।

इसके विपरीत (२) और (४) में उठाये गये सवाल प्रस्तुत वस्तु-स्थिति की परिस्थितियों से सबद्ध हैं। यहाँ हम पूछ सकते हैं 'कितना निश्चयपूर्वक तुम जानते हो ?' तुम्हारा जानना सुनिश्चित, वस्तुनिष्ठ, अधिकारिक स्वाधिकारपूर्ण, अकाट्य साक्ष्य पर आधारित, केवल परोक्ष आदि हो सकता है।

यह कुछ अटपटा-सा है कि 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के कुछ उत्तर 'जानने के कारण' या 'जानने के लिये कारण' के रूप में, या कभी-कभी 'मैं क्यों जानता हूँ के कारण' के रूप में यद्यपि वस्तुतः हम नहीं पूछते कि 'क्यों जानते हो ?'—समझे जाते हैं। किंतु निश्चय ही, शब्दकोश के अनुसार, 'कारण' तभी देना चाहिये जब प्रश्न 'क्यों ?' हो, जैसा कि वास्तव में हम 'क्यों विश्वास करते हो ?' के उत्तर में विश्वास के कारण देते हैं। फिर भी, यहाँ एक अंतर करना चाहिये। 'कैसे जानते हो कि डॉ० तेजा ने जयंती शिपिंग कार्पोरेशन का पैसा खाया ?' 'मेरे पास जानने के सभी कारण हैं मैं तदर्थ जाँच करने वाले विशेष कर्मचारियों में से एक था' यहाँ जानने के लिये अपने कारण देने से मतलब यह बतलाना है कि कैसे मैं जानने की स्थिति में पहुँचा। इसी तरह हम इन अभिव्यक्तियों का भी प्रयोग करते हैं—'मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने उसे वैसा करते हुये देखा' या 'मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने उसे अभी दस

यहाँ कथित विश्वास की 'सत्ता' को नही, वरन् कथित ज्ञान की 'सत्ता' को चुनौती दी गई है। यदि हम कहना चाहे कि 'मैं विश्वास करता हूँ', और उसी तरह 'मैं सदेहरहित हूँ' तथा 'मैं निश्चित हूँ', आत्मनिष्ठ (Subjective), मानसिक (Mental) या प्रज्ञानात्मक (Cognitive) स्थितियो के विवरण (Description) हैं, तब 'मैं जानता हूँ' ऐसा विवरण नहीं है, या कम से कम ऐसा विवरण मात्र नही है बोल-चाल मे इसकी क्रिया-विधि भिन्न है।

अब कोई कह सकता है, 'ठीक' साफ है कि "मैं जानता हूँ' ऐसे विवरण से अधिक है, स्वय मेरी स्थिति के विवरण से कुछ अधिक है। यदि मैं जानता हूँ, तो गलत नहीं हो सकता। सदैव यह दिखा कर कि मैं गलत हूँ या हो सकता हूँ तुम कह सकते हो कि मैं नहीं जानता, अथवा, यह दिखा कर कि मैं गलत हो सकता था तुम कह सकते हो कि मैं नही जानता था। इस तरह से, जानना की भिन्नता पक्के से पक्के निश्चय से भी है।' इस पर विचार अवश्य यथा-समय करेंगे, किंतु पहले हम इन प्रत्युत्तरो के प्रकारो पर विचार करें जो 'कैसे जानते हो ?' के उत्तर मे दिये जा सकते हैं।

मान लें कि मैंने कहा 'बाग की दूसरी ओर एक मैना है' और तुमने पूछा 'कैसे जानते हो ?' तो मेरा उत्तर कई तरह से हो सकता है

[क] मैंने जगलो में काफी-कुछ सीखा
[ख] मैंने सुना
[ग] माली ने बताया
[घ] उसकी कूक से
[ङ] कूक के स्वर से
[च] क्योकि वह कूक रही है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्रथम तीन 'तुमने किस तरह जाना ?' 'कैसे तुम जानने की स्थिति मे हो ?' 'कैसे तुम जानते हो ?' प्रश्नों की अलग-अलग समझ से उत्पन्न उत्तर हैं जबकि अन्य तीन उत्तर 'कैसे कह सकते हो ?' प्रश्न को विभिन्न विधाओ में समझने से उत्पन्न हैं। मतलब यह कि, तुम्हारे प्रश्न को निम्नलिखित ढगों से समझ सकता हूँ

(१) मैं किस तरह ऐसी स्थिति मे पहुँचा कि मैना पक्षियो के सबध में जानूँ ?
(२) मैं किस तरह ऐसी स्थिति में पहुँचा कि कह सकूँ कि अभी यहाँ एक मैना है ?
(३) मैं किस तरह मैना का विवरण देता (दे सकता) हूँ ?
(४) मैं किस तरह अभी और यहाँ उपस्थित वस्तु को मैना के रूप में निरूपित करता (कर सकता) हूँ ?

तात्पर्य यह कि यह जानने के लिये कि यह एक मैना है, मेरे लिये आवश्यक है कि मैंने

(१) ऐसे वातावरण में प्रशिक्षण प्राप्त किया जहाँ मैना की जानकारी हो सके
(२) प्रस्तुत स्थिति में एक विशेष अवसर उपलब्ध किया
(३) मैना की पहिचान या उसका विवरण सीखा

(४) इसको एक मैना के रूप में पहिचानने या विवरण में सफलता प्राप्त की।
यहाँ (१) और (२) से आशय है कि अवश्य मेरे अनुभव कुछ विशेष प्रकार के थे, कि अवश्य मुझे कुछ विशेष अवसर उपलब्ध थे (३) और (४) से आशय है कि अवश्य मैंने एक विशेष प्रकार व विशेष परिमाण के सूक्ष्म निरीक्षण से काम लिया।

उक्त (१) और (३) में उठाये गये सवाल पहिचानना सीखने में हमारे पूर्व अनुभव, अवसर व क्रिया-कलापों से संबंधित हैं। हमारे द्वारा अर्जित भाषागत प्रयोगों का औचित्य अथवा अनौचित्य भी उन्हीं से संबद्ध है। इन्हीं पूर्व अनुभवों पर यह निर्भर करता है कि हम वस्तुओं को कितनी अच्छी तरह जानते हैं—उसी तरह जैसे हमारे पूर्व अनुभव पर यह निर्भर करता है कि, 'जानना' की विभिन्न प्रज्ञानात्मक स्थितियों में, हम कितना विस्तार से या कितना पास से जानते हैं हम किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष द्वारा या पास से किसी शहर को अंदर बाहर से, उपपत्ति को विपरीत-क्रम से, कार्य को पूरे विस्तार में, किसी कविता को शब्दानुशब्द, किसी फ्रांसीसी को उसे देखकर जानते हैं। 'वह नहीं जानता कि ब्लाग (फसल भुनगरी) क्या है' का अर्थ है कि उसे पर्याप्त अनुभव नहीं जिससे कि वह उसे पहिचान सके और उसी तरह की अन्य चीजों से उसका अंतर समझ सके। किसी वस्तु का मेरे द्वारा पहिचाना जा सकना, उसका विवरण, पुनः प्रस्तुतीकरण, चित्रण, पाठन, प्रयोग, आदि किया जा सकना, इस पर निर्भर करता है कि कितनी अच्छी तरह मैं वस्तु को जानता हूँ और किस प्रकार की वह वस्तु है। 'मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ कि वह क्रोधित नहीं है' या 'तुम बहुत अच्छी तरह जानते हो कि यह सूती वस्त्र नहीं है' जैसे कथन, वर्तमान वस्तु स्थिति के संबंध में होने पर भी, ज्ञान की उत्तम योग्यता को पूर्व अनुभव पर आरोपित करते हैं। उसी तरह इस सामान्य अभिव्यक्ति में भी होता है— तुम जैसे अनुभवी को तो और भी अच्छी तरह जानना चाहिये'।

इसके विपरीत (२) और (४) में उठाये गये सवाल प्रस्तुत वस्तु-स्थिति की परिस्थितियों से संबद्ध हैं। यहाँ हम पूछ सकते हैं 'कितना निश्चयपूर्वक तुम जानते हो ?' तुम्हारा जानना सुनिश्चित, वस्तुनिष्ठ, अधिकारिक स्वाधिकारपूर्ण, अकाट्य साक्ष्य पर आधारित, केवल परोक्ष आदि हो सकता है।

यह कुछ अटपटा-सा है कि 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के कुछ उत्तर 'जानने के कारण' या 'जानने के लिये कारण' के रूप में, या कभी-कभी 'मैं क्यों जानता हूँ के कारण' के रूप में-यद्यपि वस्तुतः हम नहीं पूछते कि 'क्यों जानते हो ?'—समझे जाते हैं। किंतु निश्चय ही, शब्दकोश के अनुसार, 'कारण' तभी देना चाहिये जब प्रश्न 'क्यों ?' हो, जैसा कि वास्तव में हम 'क्यों विश्वास करते हो ?' के उत्तर में विश्वास के कारण देते हैं। फिर भी, यहाँ एक अंतर करना चाहिये। 'कैसे जानते हो कि डॉ० तेजा ने जयंती शिपिंग कार्पोरेशन का पैसा खाया ?' 'मेरे पास जानने के सभी कारण हैं मैं तदर्थ जाँच करने वाले विशेष कर्मचारियों में से एक था' यहाँ जानने के लिये अपने कारण देने से मतलब यह बतलाना है कि कैसे मैं जानने की स्थिति में पहुँचा। इसी तरह हम इन अभिव्यक्तियों का भी प्रयोग करते हैं—'मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने उसे वैसा करते हुये देखा' या 'मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने उसे अभी दस

गिनट पहले ही देखा' इन्ही अभिव्यक्तियो के समान ये अभिव्यक्तियाँ भी हैं—'तो ये है यह प्लूटोनियम ही है । कैसे तमने जाना ?' 'भाषा-विज्ञान लेने के पहले स्कूल मे मैंने काफी-कुछ भौतिक-विज्ञान भी पढा', अथवा 'मुझे जानना ही चाहिये मैं केवल कुछ गज की दूरी पर ही खडा था' । दूसरी ओर, विश्वास करने के कारण देना साधारणत कुछ और ही बात है (लक्षण गिनना, पक्ष में युक्तियाँ देना, आदि), यद्यपि कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिनमे विश्वास के कारण के रूप मे हम अपनी उस परिस्थिति का उल्लेख करते हैं जिसमें हमे अच्छा साक्ष्य मिल सके 'क्यो तुम्हारा विश्वास है कि वह झूठ बोल रहा था ?' 'मैं उसे बडे ध्यान से देख रहा था' ।

उन स्थितियो का जिनमें हम चीजों को जानने के अपने कारण देते हैं एक विशेष और महत्वपूर्ण वर्ग उनका है जिनके कारण रूप मे हम अधिकारियों का उद्धरण देते हैं। यदि पूछें 'कैसे जानते हो कि आज चुनाव है ?', मेरा समुचित उत्तर होगा 'मैंने ऐसा नव-भारत मे पढ़ा' और यदि पूछें 'कैसे जानते हो कि चद्रगुप्त ने सेल्युकस को हराया ?' मेरा समुचित उत्तर हो सकता है—'मौर्यकाल के इतिहास-विशेषज्ञ स्पष्टत यही कहते हैं' । इन स्थितियो में 'जानना' का सही प्रयोग हुआ है हमारा जानना साक्ष्यापेक्ष (Second hand) होता है जब हम ऐसे अधिकारी का हवाला दे सकते हैं जो जानने की स्थिति मे था (शायद स्वय भी केवल साक्ष्यापेक्ष रूप से ही) ।‡1 किसी अधिकारी का कथन किसी वस्तु के प्रति मेरा ध्यान आकर्षित करता है, इस योग्य बनाता है कि मैं कुछ जानूँ जिसे अन्यथा मैं न जान पाता । यह एक ज्ञान-स्रोत है । कई स्थितियो मे जानने के ऐसे कारणों की तुलना उन्ही चीजो के प्रति विश्वास के अन्य कारणो से की जाती है यदि हम उसे हत्यारा न भी जान पाते, वह स्वीकारोक्ति भी न करता, तथापि उसके विरुद्ध साक्ष्य ही उसे फाँसी पर लटकाने में पर्याप्त होते ।'

निसदेह यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के 'ज्ञान' मे मानवीय साक्ष्य की अविश्वसनीयता (पक्षपात, भूल, झूठ, बढ़ा-चढाकर बोलना, आदि) के कारण 'गलती की सभावना' है । फिर भी, मानवीय साक्ष्य का अश आ जाने से स्थिति मे आधारभूत परिवर्तन हो जाता है । हम कहते हैं, 'हम कभी न जान पायेंगे कि हल्दीघाटी-युद्ध के मैदान मे राणा प्रताप के मन के भाव क्या थे', क्योकि उन्होने इसका विवरण नही लिखा यदि उन्होंने लिखा, तो कहना कि 'हम

टिप्पणी ‡1 साक्ष्यापेक्ष ढग से, या अधिकारी से जानने का अर्थ 'परोक्षत जानना' नहीं है, फिर चाहे इस कठिन और समवत बनावटी अभिव्यक्ति का जो भी अर्थ हो । यदि हत्यारे की 'स्वीकारोक्ति' हो, तो फिर 'स्वीकारोक्ति' के मूल्य के सबध में हमारा जो मत हो हम यह नहीं कह सकते कि 'हम (केवल) परोक्षत जानते हैं कि उसने हत्या की', और न ही तब हम ऐसा कह सकते हैं जब कोई साक्षी, विश्वसनीय या अविश्वसनीय, कहे कि उसने उस मनुष्य को वैसा करते देखा । परिणामत , यह भी कहना ठीक नहीं कि स्वय हत्यारा 'प्रत्यक्षत ' जानता है कि उसने हत्या की, फिर चाहे 'प्रत्यक्षत जानना' का जो भी निश्चित अर्थ हो ।

कभी न जान पायेंगे' ठीक न होगा, चाहे फिर भले हमारे पास यह कहने का कारण हो—'यह विवरण कुछ जंचता नहीं हम वस्तुतः कभी न जान पायेंगे कि सत्य क्या था', इत्यादि। हमारी सावधानी स्वाभाविक ही है हम नहीं कहते कि हम जानते हैं (साक्ष्यापेक्षा से), यदि साक्ष्य के प्रति संदेह का कोई विशेष कारण हो पर कोई कारण होना अवश्य चाहिये। बातचीत में (जैसे अन्य विषयों में भी) यह आधारभूत है कि हमें दूसरों पर विश्वास का हक है, बशर्ते कि उन पर अविश्वास का कोई ठोस कारण न हो। मनुष्यों पर विश्वास, साक्ष्य की मान्यता, बातचीत का सार, या एक प्रमुख सार तत्व, है। हम (मुकाबिले) के खेल तभी खेलते हैं जब कि हमें विश्वास हो कि हमारा प्रतिद्वंद्वी जीतने का यत्न कर रहा है यदि वह यत्न नहीं कर रहा, तो फिर वह खेल नहीं और कुछ हुआ। अतः हम दूसरों से (विवरणात्मक) वार्ता केवल इसी आशा से करते हैं कि वे कुछ सूचित करने का यत्न कर रहे हैं।

अब हमें 'कैसे कह सकते हो ?' प्रश्न की ओर रुख करना चाहिये—अर्थात् 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के (२) तथा (४) आशयों की ओर। यदि तुमने पूछा 'कैसे जानते हो कि यह मैना है ?' तो मेरा उत्तर हो सकता है 'उसके व्यवहार से', 'उसके रंग से', या अधिक विस्तारपूर्वक 'उसकी चोंच के नारंगी रंग से', 'उसके बेर खाने से'। मतलब यह कि मैं वस्तु-स्थिति की उन विशिष्टताओं की ओर संकेत करता हूँ, या किसी हद तक उनसे ठीक शुरुआत करता हूँ जो मुझे उसे विवरणात्मक रूप में मेरे विवरण के अनुरूप पहचानने-योग्य बनाते हैं। इस पर भी, तुम उसे मेरे द्वारा मैना कहे जाने पर आपत्ति कर सकते हो—यद्यपि तब तुम 'मेरे तथ्यों से इंकार' न करोगे। तुम्हारी आपत्ति हो सकती है

(१) मैना के नारंगी रंग की चोंच नहीं हुआ करती

(१ अ)—किंतु वह तो मैना नहीं। तुम्हारे ही विवरण द्वारा मैं उसे सलहई पक्षी के रूप में पहिचान सकता हूँ।

(२) किंतु इतना तो पर्याप्त नहीं अन्य कई पक्षियों की चोंच का रंग नारंगी होता है। तुम्हारे कथन से उसका मैना होना सिद्ध नहीं होता। तुम्हारी जानकारी के आधार पर तो शायद वह कोयल ही हो।

उक्त (१) और (१ अ) आपत्तियों से आशय है कि स्पष्ट ही मैं मैना को पहिचान सकने में असमर्थ हूँ। यह असमर्थता (१ अ) वाली हो सकती है—कि मैंने उस प्राणी पर प्रयुक्त होने वाली सही (पारंपरिक, सार्वजनीन, अधिकारिक) अभिधा नहीं सीखी[1] अथवा शायद

टिप्पणी १ गलत अभिधान कोई महत्वहीन या हास्यास्पद बात नहीं। यदि मैंने गलत अभिधा दी तो दूसरों को बहका दूंगा, और दूसरों द्वारा दी गई सूचना से गलत अर्थ भी निकालूंगा। 'निसंदेह मैं उसकी हालत अच्छी तरह जानता था किंतु मुझे कभी नहीं लगा कि वह (रोग) मधुमेह होगा। मैंने समझा था कि वह (रोग) कैंसर होगा, जिसे सभी पुस्तक एक मत से असाध्य बताते हैं यदि मैं जानता ही होता कि उसे मधुमेह है तो तुरत इन्सुलिन की बात सोचता।' यह जानना कि अमुक वस्तु (वस्तु-स्थिति) क्या है, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, यह जानना है कि उसके लिये नाम, सही नाम, क्या है।

पहिचान करने की, और फलस्वरूप वर्गीकरण की, मेरी क्षमता का इन विषयों के संदर्भ में कभी सूक्ष्मता से प्रयोग नहीं हुआ, जिससे कि मैं मध्यम आकार के भारतीय पक्षियों की कई नस्लों के बीच भेद के बारे में अस्पष्ट रहा। या हो सकता है मेरी असमर्थता कुछ-कुछ दोनों तरह की हो। इस तरह का आरोप लगाते हुऐ 'तुम नहीं जानते' या 'तुम्हें नहीं कहना चाहिये कि तुम जानते हो, जैसी अभिव्यक्तियों के प्रयोग की बात शायद तुम उतना अधिक न सोचो जितना इनका कि 'किंतु वह तो मैना नहीं है' ('मैना नहीं है'), 'तब तुम्हारा उसे मैना कहना गलत है'। फिर भी, यदि कोई पूछ बैठे, तो सहज ही तुम इस कथन को कि मैं जानता हूँ कि यह मैना है अस्वीकार कर दोगे।

आरोप (२) के संदर्भ में तुम सीधे कहना चाहोगे तब तुम नहीं जानते', क्योंकि यह सिद्ध नहीं होता, इसे सिद्ध करने में तुमने जो कहा वह पर्याप्त नहीं। यहाँ कई महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं

(अ) यदि तुमने कहा 'वह पर्याप्त नहीं', तो अवश्य तुम्हारे मन में किसी थोड़ी-अधिक निश्चित कमी का ध्यान होगा। 'मैना होने के लिये, नारंगी रंग की चोंच के अलावा यह भी आवश्यक है कि पूँछ विशेष ढंग से कटी हो' या 'तुम कैसे जानते हो कि वह सल्हई नहीं है ? सल्हई की चोंच भी नारंगी रंग की होती है'। यदि कोई निश्चित कमी नहीं, जिसे पूछे जाने पर तुम बताने को तैयार नहीं, तो केवल कहे चले जाना कि 'वह पर्याप्त नहीं' बेवकूफी (ढीठता) होगी।

(ब) पर्याप्त यानें पर्याप्त इसका अर्थ सभी कुछ नहीं होता। पर्याप्त का अर्थ है यह दिखाने में पर्याप्त कि (विवेकानुकूलता) में, तथा प्रस्तुत अभिप्रायों व उद्देश्यों के लिये) यह और कुछ 'नहीं हो सकता', किसी अन्य प्रतिद्वंद्वी विवरण के लिये कोई जगह नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि, उदाहरणत, यह दिखा सकने में पर्याप्त है कि यह मसाला लगी मैना नहीं है।

(स) 'कैसे जानते हो ?' के उत्तर में दिये गये 'उसकी चोंच के नारंगी रंग से' पर ध्यानपूर्वक विचार की आवश्यकता है विशेषकर यह उत्तर उक्त प्रश्न के जवाब में कभी-कभी दिये जाने वाले इस उत्तर 'क्योंकि इसकी चोंच का नारंगी रंग है' से काफी भिन्न है। यह बाद वाला उत्तर साधारणत 'क्यों विश्वास करते हो ?' के जवाब में होता है। यह इन प्रकटत 'अस्पष्ट' उत्तरों जैसे 'उसकी विशेष प्रकार से कटी पूँछ से' या 'उसके व्यवहार से' से अधिक निकट है, यद्यपि प्रारंभ में ऐसा नहीं लगता। यह कहने में कि हम जानते हैं हमारा दावा पहिचानने का है और पहिचानना, कम से कम इस प्रकार की स्थिति में, हमारे द्वारा उस विशिष्टता या विशिष्टताओं को देखना, या और किसी तरह से अनुभूत करना है, जिसके संबंध में हमारा दृढ विश्वास है कि उसी तरह हमने पहले भी किसी पूर्व अनुभव में अनुभूत (और प्राय अभिधान) किया। किंतु, यह जो हम देखते हैं, या और तरह से अनुभूत करते हैं, शब्दों में अनिवार्यत विवरणात्मक नहीं—विस्तारपूर्वक तथा भावहीन शब्दों में तो और भी नहीं, फिर चाहे जो ऐसा करने का यत्न करे। हमारे अनुभव में पहिचानी गयी, या पहिचानी जा

सकने वाली, अनंत विशिष्टताओं की तुलना में वर्गीकरण के लिये प्रयुक्त किसी भी भाषा के शब्दों की अल्पता और स्थूलता सुविदित है। इसलिये आश्चर्य नहीं कि हम 'से' तथा 'द्वारा' वाली अभिव्यक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है, इससे आगे हम नहीं कह सकते कैसे हमने पहचाना। [जब मैं कहता हूँ कि पक्षी को मैं 'उसकी नारंगी रंग की चोंच से' या किसी मित्र को 'उसकी नाक से', पहिचान सकता हूँ तो प्रायः मेरा अभिप्राय होता है कि नारंगी रंग या नाक में कोई विशेषता है, मैना या मित्र के संदर्भ में, जिसके आधार पर तुम उन्हें या उनको (सदैव) पहिचान सकते हो यह विशेषता है क्या, मैं कह नहीं सकता।] वस्तुओं को प्रायः हम अच्छी तरह जानते हैं, जबकि कदाचित् ही कह सकने में समर्थ होते हैं कि किस 'से' हम उन्हें जानते हैं—फिर यह कह सकना कि उनकी ऐसी क्या विशेषता है और भी दुरूह बात है। जो भी उत्तर 'से' तथा 'द्वारा' का उपयोग करते हैं वे जानबूझ कर यह रक्षक 'अस्पष्टता' लिये होते हैं। किंतु, दूसरी ओर, 'क्योंकि' का उपयोग करने वाले उत्तर खतरनाक ढंग से सुनिश्चित होते हैं। जब मैं कहता हूँ, मैं जानता हूँ कि यह मैना है क्योंकि इसकी चोंच का नारंगी रंग है', तो इसका तात्पर्य होता है कि तत्संदर्भ में मैंने जो कुछ देखा, या देखने की जरूरत रही, वह उसकी चोंच का नारंगी रंग है (उस रंग की विभिन्न बारीकियों, चोंच के आकार, आदि जैसी अन्य कोई विशिष्टता नहीं) इस तरह मेरा तात्पर्य है कि मैना को छोड़ अन्य किसी मध्यम आकार वाले भारतीय पक्षी की चोंच का हलका नारंगी रंग नहीं।

(स) जब भी मैं कहता हूँ कि मैं जानता हूँ, मुझे यह दावा करता हुआ समझा जा सकता है कि मैं इस प्रकार के कथन को (प्रस्तुत अभिप्राय व उद्देश्य के लिए) समुचित ढंग से सिद्ध कर सकता हूँ। यहाँ उपस्थित अतिसाधारण स्थिति के प्रसंग में 'सिद्ध करने' का अर्थ प्रस्तुत वस्तु स्थिति की उन विशिष्टताओं का कथन प्रतीत होता है जो उसे वह स्वरूप प्रदान करने में पर्याप्त हैं जिसका सही विवरण उसी तरह होता है जैसा कि हमने दिया, किंतु और किसी अन्य तरह से नहीं। मोटे तौर पर, 'सिद्ध करने' वाली स्थितियाँ वे हैं जहाँ हम 'क्योंकि' सूत्र का उपयोग करते हैं उन स्थितियों में जहाँ हम 'जानते हैं किंतु सिद्ध नहीं कर सकते' हमें 'से' या 'द्वारा' सूत्र का सहारा लेना होता है।

मुझे विश्वास है कि अभी तक जिन बातों की चर्चा की गई वे 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के संदर्भ में स्वाभाविक व सामान्य रूप में उठती हैं। किंतु कुछ और भी बातें हैं जो इसी तरह, विशेषकर दार्शनिकों द्वारा, उठाई जाती हैं और जिन्हें अधिक महत्वपूर्ण समझा जा सकता है। 'वास्तविकता' तथा 'संदेहहीनता व निश्चितता' के संबंध में हमारी चिंताओं से इन बातों का संबंध है।

अभी तक, 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के रूप में मुझे चुनौती देने में तुमने मेरे कथन की प्रामाणिकता पर संशय प्रकट नहीं किया, यद्यपि तुमने पूछा कि मेरे कथन के ऐसे होने का आधार क्या है न ही तुमने मेरे तथ्यों से इंकार किया (तथ्य जिनके भरोसे मैंने सिद्ध किया कि यह मैना है), यद्यपि तुमने उन्हें विस्तारपूर्वक जानना चाहा। कथित 'प्रामाणिकता' और 'तथ्यों' की विश्वसनीयता को ही चुनौती देने वाली ये आगे की बातें हैं।

I वास्तविकता

यदि तुम पूछो, 'कैसे जानते हो कि यह एक वास्तविक छडी है ?' 'कैसे जानते हो कि यह वस्तुत टेढ़ी है ?' (तुम्हे बिलकुल सदेह नहीं कि वह सचमुच क्रोधित है ?'), तो तुम मेरी प्रामाणिकता या तथ्यो के बारे में (यद्यपि यह प्राय अनिश्चित होता है कि इन दोनो मे से किस एक के बारे में) एक विशेष ढग से अपनी शका प्रकट कर रहे हो । ऐसी कई विशेष जानी-मानी स्थितियाँ हैं जिनमें या तो मेरा वर्तमान अनुभव या मेरे द्वारा अनुभूत पदार्थ असाधारण, वास्तविकता का भ्रम पैदा करने वाला हो सकता है । या तो मैं स्वय स्वप्न, वेहोशी, या उन्माद आदि की अवस्था मे हो सकता हूँ या फिर अनुभूत पदार्थ ही नकली, मुलम्मावाला, खिलौना, मसाला लगा, आदि हो सकता है या पुन, यह अनिश्चित हो सकता है कि दोषी मैं हूँ या पदार्थ —जलजला, आइनें मे प्रतिबिंब, प्रकाश-किरणों के विशिष्ट कोणो से केंद्रीभूत अनोखे दृश्य, आदि ।

ये सभी सदेह स्थितियो के अनुकूल (कम या अधिक) मान्य विधियो द्वारा दूर किये जा सकते हैं । स्वप्न और जागृत के बीच अतर करने की मान्य विधियाँ हैं (अन्यथा कैसे हम उन शब्दों के बीच अतर करते और उनका उपयोग करते ?) इसी तरह जीवित और मसाला लगा, आदि के बीच भी अतर करने की मान्य विधियाँ हैं । इस सदेह या प्रश्न का कि पर क्या यह वास्तविक है ?' अवश्य एक विशिष्ट, आधार होता है, वास्तविक न होने के 'सुझाव का कोई कारण' अवश्य होना चाहिये—इस अर्थ में कि प्रस्तुत अनुभव या पदार्थ किसी विशेष ढग या किन्ही विशेष (सीमित) ढगो से वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने वाला हो सकता है । कभी-कभी सदर्भ से ही स्पष्ट हो जाता है कि सुझाव क्या है कोयल का मसाला लगा होना सभव है किंतु उसके जलजला होने का सुझाव नही होता, मरुद्यान एक जलजला हो सकता है किंतु उसके मसाला लगा होने का कोई सुझाव नहीं होता । तत्ववादी की चालाकी यह है कि वह पूछता है 'क्या यह वास्तविक मेज है ?' (ऐसी वस्तु जो प्रकटत सदेहास्पद नही है) परतु बताता नही कि क्या-कुछ तत्सवध मे गलत है, जिससे कि आदमी चक्कर मे पड जाता है कि वह कैसे सिद्ध करे कि वह मेज यथार्थ ही है । 'वास्तविक' शब्द के इसी तरह के प्रयोग से हम मान बैठते हैं कि 'वास्तविक' का केवल एक ही अर्थ है ('वास्तविक जगत्' या 'भौतिक पदार्थ') जो बहुत ही गूढ और विस्मयजनक है । इसके विपरीत, हमें सदैव उसे विशेपित करने पर जोर देना चाहिये जिसको 'वास्तविक' से भिन्न बताया जा रहा है—अर्थात् जोर इस पर नही होना चाहिये कि यह दिखाने के लिये कि यह 'वास्तविक' है मुझे क्या करना होगा तब हमे प्राय ही, विशेष वस्तु-स्थिति के उपयुक्त, कोई ऐसा विशेष, सीधा-साधा शब्द मिल सकेगा जिसका उपयोग 'वास्तविक' के बदले हो सके ।

मेरा कहना कि मैं जानता हूँ कि यह कोयल (मैना) है साधारणत सदेहास्पद नहीं होता केवल उचित सावधानी वरतनी पडती है । किंतु जब विशेष स्थितियो मे उस पर सदेह किया जाता है, मैं उन विधियो से उसके कोयल होने की वास्तविकता पर उठने वाले सदेह को दूर करता हूँ जो मूलत उन्ही विधियो की तरह होती हैं जिनसे मैं निश्चय करता कि

वह कोयल ही थी, यद्यपि कई स्थितियों में अन्य व्यक्तियों द्वारा कथन की पुष्टि का भी बड़ा महत्त्व होता है। अत, प्रस्तुत उद्देश्यों व अभिप्रायों के ... सावधानी ... की माँग की जा सकती है। ऐसे विशेष स्थितियों में दो ... का भी ध्यान रखना चाहिए

(अ) निसंदेह मैं सर्वंच ही नहीं जानता हूँ कि वह वही है या और कुछ। इसके पहले कि मैं परीक्षण का मौका पाऊँ या उसका पर्याप्त निरीक्षण कर सकूँ, वह उड़ जाती है। इतना तो काफी सरल है किंतु कुछ लोग यह तर्क देने लगते हैं कि, चूँकि मैं कभी इसको नहीं जान पाता, मैं कभी भी नहीं जान सकता।

(ब) 'संदेहरहित होना कि वह वास्तविक है' चमत्कार या नैसर्गिक वैचित्र्य के विरुद्ध न कोई प्रमाण है और न हो सकता है। यदि हम संदेह रहित हैं कि यह कोयल है, वास्तविक कोयल है, किंतु भविष्य में वह कोई विचित्र व्यवहार करे (या धमाके से फूट पड़े), तो हम यह नहीं कहेंगे कि हम उसे कोयल कहने में गलत थे, वरन् यह कि हम नहीं जानते कि क्या कहें। हमें शब्द नहीं मिलते 'तुम क्या कहते ?' 'अब हम क्या कहें ?' 'तुम क्या कहोगे ?' जब यह जानने में कि यह कोयल है मैं संदेहरहित हो चुका हूँ, तब अपने इस कथन में कि यह वास्तव में एक कोयल है मैं कोई 'भविष्योक्ति' नहीं कर रहा, और इसलिये भविष्य में चाहे जो हो मुझे गलत नहीं ठहराया जा सकता। यह मानना एक बड़ी गलती मालूम होती है कि भाषा (या अधिकांश भाषा, वास्तविक पदार्थों वाली भाषा) इस तरह 'भविष्योक्ति परक' है कि भविष्य उसे सदैव गलत प्रमाणित कर सकता है। भविष्य जो-कुछ कर सकता है वह केवल यह है कि कोयल या वास्तविक कोयल, आदि के बारे में हमारे प्रत्ययों के संशोधन के लिये हमें बाध्य करे।

II संदेहहीनता व निश्चितता

मेरे कथन की प्रामाणिकता और तर्क-सिद्धता के बारे में जिज्ञासा एक दूसरे प्रकार से भी हो सकती है। इस संदर्भ में हम श्री विसडम के उन विचारों की चर्चा करेंगे जो 'मनुष्य के स्वयं अपने संवेद के बारे में उसके ज्ञान की विशिष्टता' से है।

श्री विसडम कहते हैं कि, 'प्यार करना' जैसी 'भविष्योक्तिक' अभिव्यक्तियों को छोड़, यदि हम 'मुझे पीड़ा है' जैसे कथन, जिसमें भविष्योक्ति-संदर्भ न हो, पर विचार करें तो पायेंगे कि इन कथनों में हमारा 'गलत होना' सम्भव नहीं—गलत होने के सर्वाधिक मान्य अर्थ में अर्थात्, यद्यपि यह सम्भव है कि व्यक्ति झूठ बोले (जिससे कि 'मुझे पीड़ा है' असत्य हो) और यह भी सम्भव है कि वह गलत अभिधा दे, जैसे 'पीड़ा' के बदले 'पक्षाघात' शब्द का उपयोग करे (क्योंकि शायद वह हमेशा से ऐसा करता आया है या हो सकता है कि यह उसकी क्षणिक भूल है) जिससे कि दूसरे तो भुलावे में आ जावें किंतु वह स्वयं नहीं—यद्यपि इन दो ढंगों से उसका 'गलत' होना सम्भव है, किंतु गलत होने के सर्वाधिक मान्य अर्थ में वह गलत नहीं हो सकता। श्री विसडम पुनः कहते हैं कि कथनों के इस वर्ग (जिसे अन्यत्र वे 'संवेद-कथन' कहते हैं) के संदर्भ में प्रत्यक्षतः जानना कि किसी को पीड़ा है का आशय है 'कहना कि उसे पीड़ा है, और यह पीड़ा होने के आधार पर कहना' और फिर यह भी कि, संवेद-कथनों की

विशिष्टता इस तथ्य मे है कि 'जब वे सही है और क द्वारा कहे गये हैं, तो क जानता है कि वे सही हैं'।

यह बात मुझे गलत लगती है यद्यपि कम-अधिक सूक्ष्म रूप मे यह अधिकांश दार्शनिक चिंतन का आधार रहा है। यह शायद वह मूल पाप है जिसके सहारे दार्शनिक अपने-आपको उस दुनियां से बहिष्कृत कर लेता है जिसमे हम रहते हैं।

अधिक स्पष्टता से कहे तो उक्त मत इस प्रकार है वस्तु स्थितियो का कम से-कम और केवल एक ही निश्चित मान्य वर्ग है जिसके अंतर्गत मैंने जो देखा (या और तरह से अनुभूत किया) उसका कथन' प्राय बिल्कुल शब्दश कर सकता हूं। तदनुसार यदि मैं कहूं 'यहां कुछ लाल है', तो मेरे कथन का यह तात्पर्य समझा जा सकेगा कि वहां कोई लाल वस्तु है, वस्तु जो साधारण प्रकाश मे, या अन्य लोगो को या कल भी (और शायद इसी तरह अन्य कई ढगो से), लाल दिखाई देगी इन सभी से 'भविष्योक्ति का आशय निकलता' है (संभवत तात्त्विक अधिष्ठान का भी आशय निकले)। यदि मैं यह भी कहूं कि 'यहां कुछ लाल दिखाई देता है', मेरे कथन से इस तरह के तात्पर्य तो लिये ही जा सकते हैं कि यह दूसरों को भी लाल दिखाई देता है, आदि। किंतु यदि मैं यह कह कर संतोष कर लूं कि 'यहां कुछ है जो मुझे अभी लाल दिखाई देता है' तब कम-से-कम मैं गलत (सर्वाधिक मान्य अर्थ मे) नही हो सकता।

फिर भी, 'कुछ जो मुझे अभी लाल दिखाई देता है' में कोई अस्पष्टता है। यह हमारे कथनो मे आत्मविश्वास और झिझक के शब्दो पर जोर देकर समझी जा सकती है। इन दो कथनो का परस्पर अंतर देखें 'यहां कुछ है जो (निश्चित रूप से) मुझे (चाहे जैसे भी) लाल दिखाई देता है' तथा 'यहां कुछ है जो मुझे (मेरी समझ से) लाल (जैसा) दिखाई देता है'। प्रथम स्थिति में मुझे पूरा विश्वास है कि उस समय वह निश्चय ही मुझे लाल दिखाई दिया, फिर चाहे दूसरे उसे जैसा भी देखें, या 'वस्तुत' वह जैसे भी हो, इत्यादि। दूसरी स्थिति में मुझे बिल्कुल विश्वास नहीं वह लाल-जैसा दिखाई देता है, किंतु ठीक उस-जैसा रंग मैंने पहले कभी नही देखा, मैं उसका ठीक-ठीक वर्णन नही कर सकता—या, रंग-भेद कर सकने में मैं कुशल नही, मुझे प्राय ही इसमे गलत पाया गया है। मेरी रुचि यहां यह कहने में नहीं है कि वह जैसा दूसरों को दिखाई देता है या वस्तुत' जैसा है उसे मैं स्वीकार नही करता मैं केवल अपनी संदेहहीनता या निश्चितता, जो मुझे दिखाई देने के संदर्भ मे हैं, को अस्वीकार कर रहा हूं।

इसमे संदेह नहीं कि ऐसे कई 'संवेद-कथन' हैं जिनके बारे में हमे पूर्ण संदेहहीनता होती है, या हो सकती है। साधारण स्थितियों में जब वस्तु लाल (या लालिमायुक्त, या किसी तरह लालिमायुक्त, किंतु हरित नही) दिखाई देती है तो साधारण मनुष्य प्राय ही तत्संबध में निश्चित होते हैं, इसी तरह जब उन्हें पीड़ा होती है वे निश्चित होते हैं (केवल उन स्थितियों को छोड जब यह कहना कुछ कठिन हो, जैसे जब उन्हें गुदगुदाया जा रहा हो) साधारणत

कोई विशेषज्ञ, रंगरेज या दर्जी किसी वस्तु के मुलायमी या सिल्की होने के बारे में बिल्कुल सदेहरहित होगा, यद्यपि जो विशेषज्ञ नहीं वे इस तरह सन्देहरहित नहीं होंगे। यदि हम वस्तु का पर्याप्त स्थूल विवरण दें तो प्राय ही हम काफी अच्छी तरह सदेहरहित हो सकते। विवरण की स्थूलता और सदेहहीनता के बीच की दूरी विपर्यय से है। किंतु कम या अधिक स्थूल विवरण 'सवेद कथन' ही हैं।

मेरे विचार मे (यदि मैं गलती नहीं कर रहा हूँ), दार्शनिकों में सदेहहीनता तथा निश्चितता के इन सवालों के प्रति अवहेलना की प्रवृत्ति रही है। इन सवालो पर वैज्ञानिकों ने काफी ध्यान दिया, जबकि दार्शनिकों के आकर्षण केंद्र 'वास्तविकता' के सवाल पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। माप और मान का समूचा संयत्र ही सदेहहीनता तथा अनिश्चितता से निबटने, और साथ ही भाषा की स्पष्टता बढाने (जो विज्ञान के लिये उपयोगी है) के लिये बनाया गया प्रतीत होता है। 'वास्तविक' और 'अवास्तविक' शब्दों के बदले उनके द्रव्यगत मूल्यों के उपयोग की प्रवृत्ति विज्ञान मे वैज्ञानिक बुद्धिमत्ता ही प्रकट करता है। निरतर बढने वाले कई प्रकारों की स्थितियों के अनुकूल वह ऐसे कई द्रव्यगत मूल्यों का आविष्कार कर उन्हें परिभाषित करता है। वह नहीं पूछता 'क्या यह वास्तविक है?' उसका प्रश्न होता है 'क्या यह अपनी मूल प्राकृतिक अवस्था में नहीं है?' या 'क्या यह अपने रासायनिक-परिवर्त्य रूप मे है?' इत्यादि

मुझे यह स्पष्ट नही कि सवेद कथनों का वर्ग क्या है, न ही यह कि उसकी 'विशिष्टता' क्या है। कुछ, जो सवेद-कथनों (या सवेद प्रदत्त) की चर्चा करते हैं, लाल या पीडा जैसी सरल चीजों के कथन और प्यार या मेज जैसी जटिल चीजों के कथन के बीच अंतर करते प्रतीत होते हैं। किंतु श्री विसडम ऐसा करते नहीं लगते, क्योंकि वे 'यह मुझे अब अफीम खाये व्यक्ति की तरह दिखाई देता है' को 'यह मुझे अब लाल दिखाई देता है' जैसा ही समझते हैं। इसमें निःसंदेह वे सही हैं। अफीम खाया व्यक्ति पहिचाने जाने में अधिक 'जटिल' हो सकता है, किंतु उल्लिखित अन्य स्थिति की तुलना में यह कोई अधिक कठिन नहीं। परन्तु पुनः, यदि हम कहें कि असवेद-कथन वे हैं जो 'भविष्योक्ति' के आशय वाले हैं, तो प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? यह ठीक है कि यदि मैं, बिना यह निश्चय किये ही कि यह मरूद्यान नहीं है, कहूँ कि 'यह एक (वास्तविक) मरूद्यान है', तो फिर भविष्य पर ही निर्भर रहूँगा। किंतु यदि मेरे पास उसके ऐसा न होने का निश्चित तथ्य है, और यदि मैं उसके वैसा न होने को निःसंदेह पहिचान सकता हूँ (जैसे जब मैं उसका पानी पीऊँ), तब फिर मैं भविष्य पर निर्भर नहीं रहा। निःसंदेह मेरा विश्वास है कि यह भविष्य में भी उसी तरह रहेगा जैसा कि साधारणतः (वास्तविक) मरूद्यान होते हैं। किंतु यदि कोई नैसर्गिक चमत्कार घटित हो और यह वैसा न रहे तो इसका मतलब यह नहीं हुआ कि पहले इसे वास्तविक मरूद्यान कहने मे मैंने कोई गलती की।

श्री विसडम के उनके अपने सूत्रों के सदर्भ मे, हम देख आये कि यह कहना ठीक नहीं कि सवेद-कथनों की विशिष्टता है कि 'जब वे सही हैं और क द्वारा कथित हैं तो क जानता है कि वे सही हैं' क्योंकि, बिना अधिक आत्मविश्वास के, क सोच सकता है कि उसका स्वाद मिट्टी के तेल की तरह लगता है, यद्यपि अभी इस सबध मे वह एकदम निश्चित नहीं, किंतु द

मे उसके ऐसा होने या न होने के सबध मे उसका निश्चित या अधिक निश्चित होना सभव है। उनके अन्य दो सूत्र थे 'यह जानना कि किसी को पीडा है यह कहना है कि उसे पीडा है, और यह पीडा होने के आधार पर कहना है' और मनेद-कथनो के बारे मे केवल एक प्रकार की भूल ही सभव है जो इस तरह की स्थितियों मे प्रकट होती है—'यह जानते हुये कि वह राम है मैं उसे "श्याम" कहता हूँ यह सोच कर कि उसका नाम श्याम है या बिना इसकी परवाह किये कि उसका नाम क्या है'। उक्त दोनो सूत्रो मे ये बातें द्रष्टव्य हैं 'पीडा होने के आधार पर' और 'जानते हुए कि वह राम है'। 'जानते हुये कि वह राम है' का अर्थ है कि मैंने उसे राम के रूप मे पहिचाना है, और इस तरह पहिचानने मे मुझे झिझक होने अथवा मुझमे भूल होने की काफी सभावना है यह ठीक है कि 'राम' नाम द्वारा पहिचाना जाना आवश्यक नहीं (और इसलिये मैं उसे 'श्याम' कह सकता हूँ), किंतु यह तो कम से कम अनिवार्य ही है मैं उसे इस तरह सही तौर से पहिचानूँ कि, उदाहरणत, मैंने इसे शान्तिनिकेतन में देखा था, अन्यथा मैं अपने आपको भरमा रहा होऊँगा। इसी तरह, यदि पीडा होने के आधार पर' का एकमात्र अर्थ हो जब मैं (जिसका सही विवरण दिया जा सके उस) पीडा की स्थिति मे हूँ', तो यह जानने के लिये कि मैं पीडा की स्थिति मे हूँ केवल इस कथन कि 'मुझे पीडा है' से कुछ अधिक की आवश्यकता है और यह जो कुछ अधिक रूप मे आवश्यक है, पहिचानना सपन्न कराने मे, झिझक अथवा भूल से समाविष्ट हो सकता है, यद्यपि यह ठीक है कि पीडा जैसी अपेक्षया स्पष्ट स्थिति मे ऐसा होने की सभावना बहुत कम है।

सभवत पहिचानना सबधी समस्याओ की उपेक्षा की प्रवृत्ति जानना शब्द के साथ प्रत्यक्ष वस्तु के उपयोग से पोषित है। उदाहरण के लिये, श्री विसडम 'किसी अन्य की भावनाओं (उसका मन, उसके सवेद, उसका क्रोध, उसकी पीडा) को इस तरह जानना जैसे वह उन्हें जानता है' जैसी अभिव्यक्तियो का प्रयोग आत्मविश्वासपूर्वक करते हैं। अब, यद्यपि हम 'मैं इस विषय पर तुम्हारी भावनायें जानता हूँ' या 'वह अपने मन की बात जानता है' या 'क्या मैं तुम्हारी मन स्थिति जान सकता हूँ' जैसी अभिव्यक्तियो का सही उपयोग करते हैं, किंतु ये विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ जैसी हैं जिनसे उनकी सामान्य प्रयुक्ति की युक्ति नहीं दी जा सकती। यहाँ 'भावना' का आशय किसी वस्तु के प्रति 'बहुत तीव्र अनुभूति' से है शायद इसका अर्थ है 'दृष्टिकोण' या 'मत' (सुनिश्चित मत), उसी तरह जैसे शब्दकोश मे, ऐसे प्रयोगो के सदर्भ में, 'मनस्' का समानार्थी शब्द है 'अभिप्राय' या 'इच्छा'। इन प्रयोगो को अतार्किक ढग से अधिक विस्तार देना कुछ इस तरह होगा जैसे एक बिल्कुल सामान्य अभिव्यक्ति 'किसी की रुचियाँ जानना' के आधार पर हम 'किसी की ध्वन्यानुभूति जानना' या 'किसी के आम का स्वाद जानना' की बातें करने लग जायें। वैसे भी, उदाहरणत थकावट जैसी भौतिक अनुभूति की स्थिति में 'मैं तुम्हारी अनुभूति जानता हूँ' अभिव्यक्ति का प्रयोग हम नहीं करते।

अत जब श्री विसडम सामान्य तौर पर 'उसकी सवेदनायें जानना' की बात करते हैं, तो सभवत वे इसे 'जानना कि वह क्या देखता है, सुनता है, इत्यादि' के समानार्थक रूप में लेते हैं, उसी तरह जैसे 'सुब्रतो कप जीतने वाले को जानना' का अर्थ है 'सुब्रतो कप कौन जीता

यह जानना'। किंतु, पुनः, यहाँ 'क्या (कौन)-यह जानना' में यह समझा जा सकता है कि अभि-प्रायपूर्वक या गलती से, कि इससे जानना के साथ प्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान की पुष्टि होती है क्योंकि 'क्या (कौन)' को प्रश्नवाचक रूप में — वह है जो, समझा जा सकता है। किंतु यह व्याकरण मे सबधित एक भूल है अवश्य 'कौन और क्या सापेक्षिक हो सकते हैं किंतु 'जानना कि तुम्हारी अनुभूति क्या है' और जानना कि कौन जीता' में ये प्रश्नवाचक हैं। इस सदभ मे, 'वह क्या (जो कुछ) सूँघ रहा है मैं भी सूँघ सकता हूँ' जो 'वह क्या सूँघ रहा है मैं जान सकता हूँ' से भिन्नता है। 'मैं जानता हूँ कि उसकी अनुभूति क्या है' से आशय यह नहीं कि 'एक अ उपस्थित है जो मुझे ज्ञात भी है और उसे अनुभूत भी', वरन् यह है कि 'मुझे "वह क्या अनुभूत कर रहा है?" प्रश्न का उत्तर ज्ञात है'। और इसी तरह मेरी अनुभूति क्या है मैं जानता हूँ' के सदर्भ में भी इसका आशय यह नहीं कि कुछ उपस्थित है जो मुझे ज्ञात भी है और अनुभूत भी।

'हम अन्य व्यक्ति का क्रोध उसी तरह नहीं जानते जैसा वह स्वय उसे जानता है' या उसकी पीडा जैसे उसे ज्ञात है वैसे हमें नहीं' जैसी अभिव्यक्तियाँ बर्बर लगती हैं। मनुष्य 'अपनी पीडा जानता' नहीं उसे अनुभूति होती है (ज्ञात नहीं होता) जिसे वह क्रोध (अपना क्रोध नहीं) के रूप में पहिचानता, या जानता है, और यह जानता है कि उसे क्रोधानुभूति है। सदैव यह मानते हुये भी कि वह अनुभूति को पहिचानता है यह सभव है कि वह उसे, तीव्र अनुभूति के बावजूद न पहिचाने 'अब मैंने जाना कि वह क्या थी, वह ईर्षा (या गले की खरास या त्वचा की जकडन) थी। उस समय मैंने बिल्कुल न जाना कि वह क्या थी, उसके पहले कभी मैंने ठीक वैसा अनुभव नहीं किया किंतु उसके बाद मैंने उसे ठीक-ठीक जान लिया है।

यदि मैं जानता हूँ तो गलत नहीं हो सकता मैं जानता हूँ' अभिव्यक्ति के प्रयोगकर्त्ता को चुनौती देने वाले 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न से सबधित एक और बात इस कथन पर, कि यदि तुम जानते हो तो गलत नहीं हो सकते', विचार करने से प्रकट होती है। निःसदेह, यदि अब तक जो-कुछ कहा गया वह सही है तो उन स्थितियों मे भी हमारा कहना कि हम जानते हैं प्राय ठीक है जहाँ बाद मे पता चलता है कि हमने भूल की थी—और वस्तु स्थिति यह है कि हमसे सदैव या व्यवहारत सदैव, भूल होने की सभावना बनी रहती है।

अब, हम पूर्णत इस दायित्व के प्रति सचेत हैं, और स्पष्ट ही हमें ऐसा होना चाहिये। किंतु व्यवहार मे यह उतना दुःसाध्य नहीं लगता। वस्तुत, मानव बुद्धि और ज्ञानेद्रियाँ स्व-भावत त्रुटिमूलक तथा भ्रमकारक होती हैं, किंतु सतत रूप से ऐसा वे कभी नहीं होतीं। यत्र स्वभावत ऐसे होते हैं कि टूट फूट सकते हैं, किंतु अच्छे यत्र (प्राय) नहीं टूटते फूटते। इस दायित्व से इकार करने वाली 'ज्ञान-मीमांसा' में आगे बढना व्यर्थ है ऐसी मीमांसा का अत सदैव इस दायित्व को ही स्वीकारने तथा 'ज्ञान' की उपस्थिति को अस्वीकारने में होती है।

'अब तुम जानते हो तब गलत नहीं हो सकते' बिल्कुल अच्छी तरह अर्थपूर्ण है। यह कहने की मनाही है कि 'मैं इसे इस तरह जानता हूँ, किंतु गलत हो सकता हूँ' ठीक उसी तरह जैसे इसकी मनाही है 'मैं ऐसा करने की प्रतिज्ञा करता हूँ, पर शायद कर न सकूँ'। यदि तुम्हें

इसका भान हो कि तुमसे भूल हो सकती है तो तुम्हे नही कहना चाहिये कि तुम जानते हो, उसी तरह जैसे यदि तुम्हे भान है कि तुम वैसा नही कर सकोगे तो वह करने की प्रतिज्ञा तुम्हे नही करनी चाहिये। किंतु, तुमसे त्रुटि हो सकती है इस बात के भान होने से अर्थ केवल यह भान होना नही होता कि तुम त्रुटि की सभावना वाले एक मानव हो इसका अर्थ होता है कि तुम्हारे पास यह मानने के कि इस स्थिति मे तुमसे कोई त्रुटि हो सकती है कुछ ठोस कारण हैं। उसी तरह, 'पर शायद कर न सकूँ' का अर्थ केवल यह नही होता 'पर मैं एक कमजोर मनुष्य हूँ' इसका अर्थ होता है कि वैसा न कर सकूँगा यह मानने का मेरे पास कोई ठोस कारण है। यह स्वभावत सर्वेव सभव (मानवीय रूप से' सभव) है कि मुझसे भूल हो या मैं अपनी बात न रख सकूँ, किंतु यह अपने आप मे हमारे द्वारा 'मैं जानता हूँ' और 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ' अभिव्यक्तियो के प्रयोग मे कोई बाधा नही।

जब मैं केवल यह कहूँ कि मैं सदेहरहित हूँ, और बाद मे चल कर सिद्ध हो कि मैं गलत था, तो अन्य व्यक्तियो द्वारा मुझे इसके लिये उस तरह से दोषी नही ठहराया जा सकता जिस तरह मेरे 'मैं जानता हूँ' कहने पर। मैं सदेहरहित हूँ स्वय अपने लिये, तुम चाहो तो इसे स्वीकार करो या न करो यदि समझते हो कि मैं सूक्ष्मदर्शी व सावधान व्यक्ति हूँ तो स्वीकार करो, यह तुम्हारी जिम्मेवारी है। किंतु मेरा जानना 'स्वय अपने लिये' नही है, और जब कहता हूँ 'मैं जानता हूँ' तो मेरा मतलब नही होता कि तुम चाहो तो इसे स्वीकार करो या न करो (यद्यपि यह ठीक है कि तुम उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हो)। इसी तरह, जब मैं अपने पूर्ण अभिप्राय की बात कहता हूँ, ऐसा मैं स्वय अपने लिये करता हूँ और मेरे सकल्प तथा सफलता के बारे मे तुम जो अच्छी या खराब राय कायम करते हो उसके अनुसार तुम्हारी प्रतिक्रिया उसके पक्ष या विपक्ष में होगी किन्तु यदि मैं कहूँ, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम्हें अधिकार है कि तुम अपनी प्रतिक्रिया मेरे कथन के पक्ष में व्यक्त करो, फिर चाहे उस सबध मे तुम्हारी अपनी राय जो हो। यदि मैं कहूँ कि मैं जानता हूँ या प्रतिज्ञा करता हूँ, तो इसे अस्वीकार कर तुम एक विशेष ढग से मेरा तिरस्कार करते हो। हम सभी इन कथनों 'मैं पूर्णत सदेहरहित हूँ' और मैं जानता हूँ' के बीच के अतिशय अतर को महसूस करते हैं यह अतर इन अन्य दो कथनो के बीच अतर की तरह है—'मेरा निश्चित व अटल अभिप्राय है' तथा 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ'। यदि किसी ने प्रतिज्ञा की कि वह 'अ' करेगा, तो मुझे उस पर विश्वास का अधिकार है, और उस बिना पर मैं स्वत प्रतिज्ञाएँ कर सकता हूँ और इसी तरह, जब किसी ने कहा 'मैं जानता हूँ', तो मुझे यह कहने का अधिकार है कि मैं भी जानता हूँ, साक्ष्यापेक्षा से। 'मैं जानता हूँ' कथन का अधिकार उसी तरह हस्तान्तरणीय है जैसा कि कोई अन्य अधिकार। अत, यदि मैंने बात यूँ ही कह दी, तो तुमको मुसीबत में डालने के लिये मैं जिम्मेवार हो सकता हूँ।

यदि तुम कहो कि तुम कुछ जानते हो, तो तत्काल तुम्हे चुनौती दी जा सकती है 'क्या तुम जानने की स्थिति में हो ?' अर्थात् तुम्हें यह दिखाना होगा कि तुम इस सबध में मात्र सदेहरहित नहीं, वरन् यह कि यह तुम्हारी ज्ञान-परिधि में है। इसी तरह की चुनौती प्रतिज्ञा

के संबंध में भी होती है पूर्ण अभिप्राय पर्याप्त नहीं हुआ, अतः अब यह दिखाना होगा कि 'तुम प्रतिज्ञा करने की स्थिति में हो', कि ऐसा करने में तुम समर्थ हो। इस मत में, इन दोनों स्थितियों में उठने वाली समानान्तर मदों को असंगत अनावश्यक या अप्रामाणिक करने वाली है, इस आधार पर कि मैं भविष्य दर्शन में समर्थ नहीं। कुछ कहेंगे कि मैं कभी भी, या व्यवहारतः कभी भी, यह न कहूँ कि मैं कुछ भी जानता हूँ—शायद जिस इस क्षण मैं केवल अनुभूत भर कर रहा हूँ कुछ अन्य कहेंगे मैं कभी भी, या व्यवहारतः कभी भी, यह न कहूँ कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ—शायद जो इस क्षण वस्तुतः मेरे सामर्थ्य के भीतर ही है। ये दोनों ही स्थितियाँ एक तरह से बाधा ग्रस्त हैं यदि मैं जानता हूँ मैं गलत नहीं हो सकता, इसलिये मुझे यह कहने का अधिकार नहीं हो सकेगा कि मैं जानता हूँ, और यदि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ चूक नहीं सकता, इसलिये मेरा यह कहने का अधिकार नहीं हो सकेगा कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। इन दोनों ही स्थितियों में, वस्तु स्थिति की जड़ के रूप में यह बाधा भविष्योक्ति कर सकने की मेरी असमर्थता पर छा जाती है—भविष्योक्ति, अर्थात् भविष्य को जानने का दावा। किंतु यहाँ दोनों ही स्थितियों में एक दुहरी गलती है। जैसा कि हमने पहले कहा, हमारा यह कहना कि हम जानते हैं या प्रतिज्ञा करते हैं पूर्णरूपेण युक्तियुक्त हो सकता है, फिर चाहे भले बाद की स्थितियाँ हमारे अनुकूल न 'हों' और जिनका ऐसा होना या न होना हमारे लिये कम अधिक चिंता का विषय होता है। पुनः, इस पर ध्यान नहीं दिया गया कि वे शर्तें जिन्हें मेरे यह कहने पर कि कोई वस्तु मेरी ज्ञान परिधि में है या मेरे सामर्थ्य के भीतर है पूरा करना आवश्यक है, भविष्य से नहीं, वरन् वर्तमान व भूतकाल से संबंधित शर्तें हैं भविष्य के संबंध में विश्वास से अधिक और कुछ करने की माँग नहीं है।

यह मानना कि 'मैं जानता हूँ' एक विवरणात्मक उक्ति है, दर्शन के अंतर्गत एक अति-सामान्य विवरणात्मक अयुक्ति (Descriptive fallacy) का उदाहरण-मात्र है। यदि कोई वर्तमान भाषा विशुद्धतः विवरणात्मक हो भी, अपने मूल में वह वैसी नहीं थी, और उसका बहुलांश अभी भी वैसा नहीं है। समुचित परिस्थितियों में प्रकटतः सहज उक्तियों के कथन से अर्थ हमारे द्वारा किये जा रहे कार्य का विवरण नहीं, वरन् उसे करना है ('मैं करता हूँ') अन्य स्थितियों में इसकी क्रियाविधि-स्वर व अभिव्यक्ति की तरह, या फिर विराम-चिन्हों व वाक्य-प्रकारों की तरह-यह सूचित करने के लिये होती है कि हम भाषा का उपयोग किसी विशेष ढंग से कर रहे हैं ('चेतावनी देता हूँ', 'पूछता हूँ', 'परिभाषित करता हूँ')। ये उक्तियाँ ठीक अपने आप में झूठ नहीं हो सकतीं, यद्यपि अपने 'तात्पर्य' (Implication) में झूठ हो सकती हैं, जैसे 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ' से तात्पर्य है कि मेरा पूर्ण अभिप्राय है, जो असत्य सकता है।

अब यदि उपरोल्लिखित बातें ही 'कैसे जानते हो कि यह अमुक प्रकार वस्तु स्थिति है?' के संदर्भ में उठने वाली विविध व मुख्य बातें हैं, तो संभव है कि इस कथन के संदर्भ में कि 'मैं जानता हूँ कि वह क्रोधित है' भी वे उठें। और यदि इस स्थिति में विशेष कठिनाइयाँ हों, जो कि निसंदेह हैं, तो कम से कम उनको जो विशेष कठिनाइयों के रूप में नहीं हैं हम दूर कर सकते हैं और विषय की अधिक अच्छी जाँच-परख कर सकते हैं।

यह कह देना जरूरी है कि प्रारभ मे मैं केवल अनुभूतियो और मवेगो, विशेष कर क्रोध, के प्रश्न पर विचार करूँगा। ऐसा लग सकता है कि वह स्थितियाँ जहाँ हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति सोचता है कि २ और २ मिलकर ४ होते हैं, या कि वह एक चूहा देख रहा है, इत्यादि, उस स्थिति से महत्वपूर्ण भिन्नता, यद्यपि नि सदेह कुछ समानता भी, लिये है जिसमे हम जानते हैं कि वह क्रोधित या भूखा है।

पहली बात तो यह कि निश्चय ही किन्ही अवसरो पर हम कहते है कि हम जानते हैं दूसरा व्यक्ति क्रोधित है, और इन अवसरो को उन अवसरो से भिन्न भी समझते हैं जब हम केवल यह कहते हैं कि हमे विश्वास है वह क्रोधित है। क्योकि यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है कि हम क्षणमात्र को भी यह नही मान लेते कि हम सभी व्यक्तियो के सबध मे सर्दव यह जानते हैं कि वे क्रोधित हैं या नही, अथवा यह कि हम यह तथ्य ढूँढ निकालेंगे। कई ऐसे अवसर होते है जब मुझे इसका भान होता है कि शायद मैं नही कह सकता कि उसकी अनुभूतियाँ क्या हैं फिर कई प्रकार के मनुष्य होते हैं, और कई व्यक्ति भी, जिनकी अनुभूतियो के सबध मे (अपनी और उनकी निपट भिन्नता के कारण) मैं कुछ कह नही सकता। जैसे, राजा, फकीर, वनवासी, या पागलो की अनुभूतियो के बारे मे कह सकना बडे मुश्किल का काम है जब तक इन व्यक्तियों से पर्याप्त मेल-जोल न हो, और उनसे कुछ अपनापा न हो, तुम इस स्थिति में हो ही नही सकते कि जान सको कि उनकी अनुभूतियाँ क्या हैं—विशेषकर यदि किसी कारणवश वे बताना नही चाहते या बता नही सकते। या पुन, ऐसे व्यक्ति की अनुभूतियाँ जिससे पहले कभी तुम्हारी मुलाकात नही हुई—ये कुछ भी हो सकती हैं तुम उसका चरित्र, या उसकी रुचियाँ नही जानते, उसके आचरण की विशिष्टता आदि का तुम्हे कोई अनुभव नही। उसकी अनुभूतियाँ छद्म या वैयक्तिक हैं मनुष्य एक-दूसरे से बडी भिन्नता लिये होते हैं। इस तरह के अवसर ही ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं कि हम कहने लगते हैं 'तुम कभी नही जान सकते' या 'तुम कुछ कह नही सकते'।

साराश में, मैना वाली स्थिति की तुलना मे, यहाँ हमें व्यक्ति के प्रकार की अपनी पूर्व जानकारी पर और अधिक निभर रहना पडता है। फिर, यहाँ एक विशेष परिस्थिति मे एक विशेष व्यक्ति की भी बात है। यदि हमारी जानकारी कोई बहुत अधिक नही, तो यह कहने मे कि हम जानते हैं एक झिझक होती है नि सदेह यह अपेक्षा नही की जा सकती कि हम कहेंगे कि हम जानते हैं। किंतु, दूसरी ओर, यदि हमें आवश्यक अनुभव रहा है, तो अनुकूल परिस्थितियों मे कह सकते हैं कि हम जानते हैं जब हमारा कोई निकट सबधी इतना अधिक क्रोधित दिखाई देता है कि पहले हमने उसे वैसा कभी नही देखा, हम उसे निश्चित रूप में वैसा पहिचान सकते हैं।

फिर, यह भी आवश्यक है कि हमे सवेग या अनुभूति, यहाँ क्रोध, का पूव अनुभव रहा हो। यह जानने के लिये कि तुम क्या अनुभूत कर रहे हो, आवश्यक है कि मै प्रकटत इसकी कल्पना (सोच, समझ, मन्तव्य) कर सकूँ कि तुम्हारी अनुभूति क्या है। लगता है कि अन्य व्यक्तियों में क्रोध-प्रदशन की जानकारी सीखने के अतिरिक्त भी मेरे लिये और कुछ

आवश्यक है मैं स्वयं भी अवश्य कभी क्रोधित रहा। *२ फिर, [illegible] है कि, यदि मैंने पहले किसी विशेष मनस्, जैसे महत्वाकांक्षा, का अनुभव न किया, तो यह कहने में कि उसकी प्रेरणा महत्वाकांक्षा है मुझे निश्चय ही अधिक [illegible] होगी। और इसका कारण प्रतीत होता है, अनुभूतियों का अति विशिष्ट स्वभाव (आकर्षण, डर), वह विशेष ढंग जिससे वे अपने अवसरों व अभिव्यक्तियों से संबद्ध होती हैं। इसका कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है।

श्री विसडम का अनुगमन करते हुए (१) भौतिक लक्षण तथा (२) अनुभूति के बीच अंतर करना, प्रथम दृष्टि में, तर्कसंगत लगता है। तदनुसार, जब मुझे पूछा जावे, 'कैसे कह सकते हो कि वह क्रोधित है? तो मेरा उत्तर होना चाहिये 'भौतिक लक्षणों से', जब कि यदि उसे पूछा जावे कि कैसे वह यह समझता है कि वह क्रोधित है, तो उसे कहना होगा 'अनुभव से'। किंतु यह एक अति-सरलीकरण प्रतीत होता है।

पहले यह देखें कि 'लक्षण' (साथ ही 'भौतिक' भी) का प्रयोग उसकी सामान्य प्रयुक्ति (Ordinary usage) से अलग ढंग से किया जा रहा है, जो भ्रामक है।

चिकित्सा शास्त्रीय प्रयुक्ति से लिये गये शब्द 'लक्षण' का प्रयोग केवल या मुख्यत, उन स्थितियों में होता है जहाँ वह जिसका कि वह लक्षण है कुछ अवांछित हो (लौट रहे स्वास्थ्य की अपेक्षा रोग में उसके प्रथम चरण का, आशा की अपेक्षा हताशा का, सुख की अपेक्षा दु:ख का) और इसलिये यह 'चिन्ह' या 'संकेत' की अपेक्षा अधिक भावयुक्त है। यहाँ महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हम 'लक्षण' या चिन्ह की बात तब तक नहीं करते जब तक कि हम विषय मात्र के निरीक्षण के साथ उसकी भिन्नता का तात्पर्य न लें। निःसंदेह ठीक ठीक यह कहना कि कहाँ चिन्ह या लक्षण खत्म हुआ और कहाँ विषय मात्र आरंभ होना शुरू हुआ प्रायः ही अटपटा होगा किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस भिन्नता का तात्पर्य है अवश्य। अतः 'लक्षण' और 'चिन्ह' का प्रयोग उन स्थितियों के ही संदर्भ में संभव है जिनमें विषय, जैसे रोग की स्थितियों में छिपा रह सके—चाहे फिर वह भविष्य के गर्भ में हो या भूतकाल के, त्वचा के भीतर हो या किसी और कम-अधिक कुप्रसिद्ध स्रोत के भीतर और जब स्वयं विषय ही हमारे समक्ष

*१ टिप्पणी हम कहते हैं—कि हम नहीं जानते कि राजा बन जाने में कौनसी अनिवार्य अनुभूतियाँ हैं यद्यपि हम यह जरूर जानते हैं कि जब हमारे एक मित्र ने आत्मोत्सर्ग किया तो उसकी अनिवार्य अनुभूतियाँ क्या रहीं होंगी। 'जानना कि वह क्या होगी' के इस सामान्य (अस्पष्ट और प्रकटतः अपूर्ण) अर्थ में हम प्रायः जानते हैं कि हमारे पड़ौसी द्वारा तलवार खींच लेना कैसा होगा, किंतु हम कभी नहीं जानते (सोच या कल्पित भी नहीं कर सकते) कि बिल्ली या झींगुर की अनुभूति क्या होगी। किंतु यह जरूर है कि श्री विसडम के 'जानना कि क्या' (='जो है उसका प्रत्यक्ष अनुभव) के विशेष अर्थ में हम कभी नहीं जानते कि तलवार खींचते समय हमारे पड़ौसी के मन में क्या रहता है।

हो, हम फिर चिन्हो व लक्षणो की बात नही करते । जब हम 'तूफान के चिन्हो' की बात करते हैं, हमारा आशय आ रहे तूफान या बीते तूफान, या क्षितिज के उस पार वाले तूफान के चिन्हो से होता है, सिर पर सवार हुये तूफान से नही।

इन शब्दो की क्रिया-विधि 'छाप' या 'सुराग' शब्दो जैसी होती है । एक हत्यारा को जान लेने पर और कोई सुराग नही मिलते वे केवल थे या हो सकते थे न तो स्वीकारोक्ति और न ही प्रत्यक्षदर्शी साक्षी का अपराध पर मत कोई विशेष अच्छा सुराग है—ये कुछ और ही हैं। जब पनीर न मिले या दिखाई न दे, तो वहाँ उसके छाप हो सकते हैं किंतु तब नहीं जब वह हमारे समक्ष हो । यद्यपि तब वहाँ छाप का न होना' भी नही होता ।

उक्त कारणो से, किसी भी विषय की समस्त विशेषताओ को एक साथ उसके 'चिन्ह' या 'लक्षण' मान लेना, जैसा कि सामान्यत होता है, भ्रामक लगता है यद्यपि यह जरूर होता है कि किन्ही विषयो की कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हे समुचित परिस्थितियो मे विशेषता, परिणाम, प्रकटन, अश, या और कुछ कहा जावे और साथ ही समुचित परिस्थितियो मे उन विषयो का चिन्ह या लक्षण भी । यही वह त्रुटि है जो श्री विसडम द्वारा कथित आत्म-विरोधी स्थिति मे है—जब हम रोटी के टुकडे का स्पर्श, आस्वादन, आदि करते हैं, हम रोटी के 'सभी चिन्ह' पाते हैं स्पर्श, आदि करने का अर्थ रोटी के किन्ही चिन्हो से नही है।

अब यदि 'चिन्हो' व 'लक्षणो' की यह सीमित प्रयुक्ति है तो स्पष्ट है कि हमारे इस कथन का कि हमारी पहुँच किसी विषय के केवल 'चिन्हो' या 'लक्षणो' तक है यह तात्पर्य हुआ कि हमारी पहुँच उस विषय तक बिल्कुल नही (और यही बात 'सभी चिन्हो' पर लागू होती है) । अत , यदि हम कहें कि मैं उसके क्रोध के लक्षणों तक ही पहुँच पाता हूँ, तो इसका एक महत्वपूर्ण तात्पय है । किंतु क्या सचमुच ही हम इस तरह बात करते हैं ? निसदेह, हम ऐसा नही समझते कि अन्य व्यक्ति मे क्रोध के लक्षण छोडकर और-कुछ भी का भान हमे नही हो रहा ?

क्रोध के 'लक्षणो' या 'चिन्हो' से उठते या दबे क्रोध के चिन्हो का अर्थ सकेत मिलता है । मनुष्य के उबल चुकने पर, हम किसी दूसरी चीज़ की बात करते हैं—क्रोध की अभिव्यक्ति, प्रकटन या प्रदर्शन की, स्वभाव की गरमी, आदि की । भौहों का सिकुडना, चेहरे का लाल होना, आवाज की रूक्षता, ये सब क्रोध के लक्षण हो सकते हैं किंतु वाग्युद्ध या चेहरे पर एक घूँसा जमाना ऐसे लक्षण नही, वरन् वे कार्य हैं जिनमे क्रोध फूट पडता है । साधारणत , क्रोध के 'लक्षणो' को व्यक्ति के उसके अपने आतरिक क्रोध-भाव से भिन्न नही, वरन् क्रोध के वास्तविक प्रदर्शन से भिन्न माना जाता है । सामान्यत , जहाँ हमारे मन्तव्य का आधार केवल लक्षण हो, हमे केवल यह कहना चाहिये कि हमारा विश्वास है कि व्यक्ति क्रोधित है या क्रोधित हो रहा है जब कि उसके क्रोध के फूट पडने पर हम कहें कि हम जानते हैं ।

अत स्पष्ट हुआ कि क्रोधित होने जैसी अवस्था में मात्र लक्षणो के प्रदर्शन तथा भाव की अनुभूति से अधिक और कुछ होता है, क्योंकि वहाँ क्रोध की अभिव्यक्ति या प्रकटन भी

होता है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि अनुभूति या प्रकटन से [illegible] इस प्रकार का संबंध है। जब हम क्रोधित होते हैं हम में एक तीव्र इच्छा—अनुभूत अथवा क्रियान्वित-युक्त [illegible] प्रकार के कार्य करने की होती है और यदि हम अपने क्रोध को न दबायें तो [illegible] करने को प्रवृत्त भी होते हैं। संवेग और उसके सहज प्रकटन (जिनसे हम परिचित हैं क्योंकि हमें क्रोध का अनुभव है) में एक विशिष्ट निकट संबंध होता है। जिस तरह से साधारणतः क्रोध प्रकट होता है वह क्रोध के संदर्भ में स्वाभाविक है—उसी तरह जैसे कई संवेगों का प्रकटन किन्हीं स्वरों द्वारा स्वाभाविकतः होता है। साधारणतः क्रोध के स्वाभाविक प्रकटन के लिये भाव से अलग 'क्रोधित होना' जैसी किसी चीज (चाहे जितनी अस्पष्ट) की अवधारणा नहीं होती।

फिर, क्रोध के स्वाभाविक प्रकटन के अतिरिक्त, क्रोध के स्वाभाविक अवसर भी होते हैं। इनका भी हमें पूर्व-अनुभव होता है, और 'क्रोधित होने' से इनका निकट संबंध होता है—जैसे क्रोधानुभूति और क्रोधाभिव्यक्ति के बीच। इन अवसरों को किसी प्रकट या 'बाह्य' कारण के अर्थ में कारण-रूप मान लेना अर्थहीन होगा, क्योंकि तब क्रोधाभिव्यक्ति (क्रोध के प्रकटन) को भी हमें, प्रकट या 'बाह्य' परिणाम के अर्थ में संवेग के परिणाम-रूप में मानना होगा। इसी तरह यह कहना भी अर्थहीन होगा कि (१) कारण या अवसर (२) भाव या संवेग और (३) परिणाम या प्रकटन तीन परस्पर भिन्न घटनायें हैं जो क्रोध के आवश्यक तत्वों के रूप में 'परिभाषा द्वारा' परस्पर संबद्ध हैं—यद्यपि यह कहना दूसरे कथन की अपेक्षा कम भ्रामक होगा।

यदि हम कहें कि 'क्रोधित होना' बहुतकुछ 'उपकरणशोथ होना' की तरह है तो यह ठीक ही मालूम होता है। यह घटनाओं के समग्र ढाँचे, जिसमें अवसर, लक्षण, अनुभूति, प्रकटन, आदि तत्व आते हैं, का निरूपण होता है। यह पूछना कि 'क्रोध वस्तुतः अपने-आप में है क्या ?' उसी तरह की विवेकहीनता है जैसे 'रोग' के समूचे अर्थ को चुने हुये किसी एक तत्व में केंद्रित कर देना। यह तथ्य स्पष्ट है कि अन्य व्यक्ति की अनुभूति कभी भी स्वयं हमारी अनुभूति नहीं होती (इस अर्थ में कि वह क्रोध अनुभव करता है किंतु हम नहीं), और इसमें ऐसा कुछ नहीं जिसकी 'उलझन' के रूप में शिकायत की जावे किंतु हम यह नहीं कहते कि 'वह (अनुभूति) क्रोध है। स्पष्ट है कि घटनाओं का ढाँचा, उसका ठीक ठीक स्वरूप चाहे जो हो, 'अनुभूतियों' (संवेगों) की स्थिति से विशिष्ट है—रोगों की स्थिति से तो इसकी किसी भी तरह समानता नहीं और शायद इसी विशिष्टता के आधार पर हम यह कहने में प्रवृत्त होते हैं कि जब तक स्वयं हमें किसी संवेग का अनुभव न रहा हो, हम नहीं जान सकते कि अन्य व्यक्ति को उसकी अनुभूति हो रही है। फिर, इस सामान्य ढाँचे में हमारा विश्वास ही हम में, उसके अंश मात्र के निरीक्षण के आधार पर, यह तत्परता प्रकट करता है कि हम कहें कि हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है क्योंकि इस ढाँचे के घटक परस्पर अत्यधिक घनिष्ट होते हैं।

यह ढाँचा इतना अधिक सशक्त है कि कभी-कभी मनुष्य स्वयं अपने ही संवेगों के बारे में अन्य व्यक्ति द्वारा सुझाया गया निरूपण स्वीकार कर लेगा। उसे स्वीकार्य हो सकता है

हो, हम फिर चिन्हो व लक्षणो की बात नही करते । जब हम 'तूफान के चिन्हो' की बात करते हैं, हमारा आशय आ रहे तूफान या बीते तूफान, या क्षितिज के उस पार वाले तूफान के चिन्हो से होता है, सिर पर सवार हुये तूफान से नही।

इन शब्दो की क्रिया-विधि 'छाप' या 'सुराग' शब्दो जैसी होती है। एक हत्यारा को जान लेने पर और कोई सुराग नही मिलते वे केवल थे या हो सकते थे न तो स्वीकारोक्ति और न ही प्रत्यक्षदर्शी साक्षी का अपराध पर मत कोई विशेष अच्छा सुराग है—ये कुछ और ही हैं। जब पनीर न मिले या दिखाई न दे, तो वहाँ उसके छाप हो सकते हैं किंतु तब नहीं जब वह हमारे समक्ष हो। यद्यपि तब वहाँ छाप का न होना' भी नही होता।

उक्त कारणो से, किसी भी विषय की समस्त विशेषताओ को एक साथ उसके 'चिन्ह' या 'लक्षण' मान लेना, जैसा कि सामान्यत होता है, भ्रामक लगता है यद्यपि यह जरूर होता है कि किन्ही विषयो की कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हे समुचित परिस्थितियो मे विशेषता, परिणाम, प्रकटन, अश, या और कुछ कहा जावे और साथ ही समुचित परिस्थितियो मे उन विषयो का चिन्ह या लक्षण भी । यही वह त्रुटि है जो श्री विसडम द्वारा कथित आत्म-विरोधी स्थिति मे है—जब हम रोटी के टुकडे का स्पर्श, आस्वादन, आदि करते हैं, हम रोटी के 'सभी चिन्ह' पाते हैं स्पर्श, आदि करने का अर्थ रोटी के किन्ही चिन्हो से नही है।

अब यदि 'चिन्हो' व 'लक्षणो' की यह सीमित प्रयुक्ति है तो स्पष्ट है कि हमारे इस कथन का कि हमारी पहुँच किसी विषय के केवल 'चिन्हो' या 'लक्षणो' तक है यह तात्पर्य हुआ कि हमारी पहुँच उस विषय तक बिलकुल नही (और यही बात 'सभी चिन्हो' पर लागू होती है)। अत, यदि हम कहे कि मैं उसके क्रोध के लक्षणों तक ही पहुँच पाता हूँ, तो इसका एक महत्वपूर्ण तात्पर्य है। किंतु क्या सचमुच ही हम इस तरह बात करते हैं ? निसदेह, हम ऐसा नही समझते कि अन्य व्यक्ति मे क्रोध के लक्षण छोडकर और-कुछ भी का भान हमे नही हो रहा ?

क्रोध के 'लक्षणो' या 'चिन्हो' से उठते या दबे क्रोध के चिन्हो का अर्थ सकेत मिलता है। मनुष्य के उबल चुकने पर, हम किसी दूसरी चीज की बात करते हैं—क्रोध की अभिव्यक्ति, प्रकटन या प्रदर्शन की, स्वभाव की गरमी, आदि की । भौहों का सिकुडना, चेहरे का लाल होना, आवाज की रुक्षता, ये सब क्रोध के लक्षण हो सकते हैं किंतु वाग्युद्ध या चेहरे पर एक घूँसा जमाना ऐसे लक्षण नही, वरन् वे कार्य हैं जिनमें क्रोध फूट पडता है। साधारणत, क्रोध के 'लक्षणो' को व्यक्ति के उसके अपने आतरिक क्रोध-भाव से भिन्न नही, वरन् क्रोध के वास्तविक प्रदर्शन से भिन्न माना जाता है। सामान्यत, जहाँ हमारे मन्तव्य का आधार केवल लक्षण हो, हमे केवल यह कहना चाहिये कि हमारा विश्वास है कि व्यक्ति क्रोधित है या क्रोधित हो रहा है जब कि उसके क्रोध के फूट पडने पर हम कहें कि हम जानते हैं।

अत स्पष्ट हुआ कि क्रोधित होने जैसी अवस्था में मात्र लक्षणो के प्रदर्शन तथा भाव की अनुभूति से अधिक और कुछ होता है, क्योंकि वहाँ क्रोध की अभिव्यक्ति या प्रकटन भी

होता है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि अनुभूति का प्रकटन से एक विशेष प्रकार का संबंध है। जब हम क्रोधित होते हैं हम में एक तीव्र इच्छा—अनुभूत अथवा क्रियात्मक—कुछ विशेष प्रकार के कार्य करने की होती है और यदि हम अपने क्रोध को न दबायें तो वे कार्य करने को प्रवृत्त भी होते हैं। संवेग और उसके सहज प्रकटन (जिनसे हम परिचित हैं क्योंकि हमें क्रोध का अनुभव है) में एक विशिष्ट निकट संबंध होता है। जिस तरह से साधारणतः क्रोध प्रकट होता है वह क्रोध के संदर्भ में स्वाभाविक है—उसी तरह जैसे कई रागों का प्रकटन किन्हीं स्वरों द्वारा स्वाभाविकतः होता है। साधारणतः क्रोध के स्वाभाविक प्रकटन के लिये भाव से अलग 'क्रोधित होना' जैसी किसी चीज (चाहे जितनी अस्पष्ट) की अवधारणा नहीं होती।

फिर, क्रोध के स्वाभाविक प्रकटन के अतिरिक्त, क्रोध के स्वाभाविक अवसर भी होते हैं। इनका भी हमें पूर्व-अनुभव होता है, और 'क्रोधित होने' से इनका निकट संबंध होता है—जैसे क्रोधानुभूति और क्रोधाभिव्यक्ति के बीच। इन अवसरों को किसी प्रकट या 'बाह्य' कारण के अर्थ में कारण-रूप मान लेना अर्थहीन होगा, क्योंकि तब क्रोधाभिव्यक्ति (क्रोध के प्रकटन) को भी हमें, प्रकट या 'बाह्य' परिणाम के अर्थ में संवेग के परिणाम-रूप में मानना होगा। इसी तरह यह कहना भी अर्थहीन होगा कि (१) कारण या अवसर (२) भाव या संवेग और (३) परिणाम या प्रकटन तीन परस्पर भिन्न घटनायें हैं जो क्रोध के आवश्यक तत्वों के रूप में 'परिभाषा द्वारा' परस्पर संबद्ध हैं—यद्यपि यह कहना दूसरे कथन की अपेक्षा कम भ्रामक होगा।

यदि हम कहें कि 'क्रोधित होना' बहुत-कुछ 'उपकरणशोथ होना' की तरह है तो यह ठीक ही मालूम होता है। यह घटनाओं के समग्र ढाँचे, जिसमें अवसर, लक्षण, अनुभूति, प्रकटन, आदि तत्व आते हैं, का निरूपण होता है। यह पूछना कि 'क्रोध वस्तुतः अपने आप में है क्या?' उसी तरह की विवेकहीनता है जैसे 'रोग' के समूचे अर्थ को चुने हुये किसी एक तत्व में केंद्रित कर देना। यह तथ्य स्पष्ट है कि अन्य व्यक्ति की अनुभूति कभी भी स्वयं हमारी अनुभूति नहीं होती (इस अर्थ में कि वह क्रोध अनुभव करता है किंतु हम नहीं), और इसमें ऐसा कुछ नहीं जिसकी 'उलझन' के रूप में शिकायत की जाये किंतु हम यह नहीं कहते कि 'वह (अनुभूति) क्रोध है। स्पष्ट है कि घटनाओं का ढाँचा, उसका ठीक ठीक स्वरूप चाहे जो हो, 'अनुभूतियों' (संवेगों) की स्थिति से विशिष्ट है—रोगों की स्थिति से तो इसकी किसी भी तरह समानता नहीं और शायद इसी विशिष्टता के आधार पर हम यह कहने में प्रवृत्त होते हैं कि जब तक स्वयं हमें किसी संवेग का अनुभव न रहा हो, हम नहीं जान सकते कि अन्य व्यक्ति को उसकी अनुभूति हो रही है। फिर, इस सामान्य ढाँचे में हमारा विश्वास ही हम में, उसके अंश मात्र के निरीक्षण के आधार पर, यह तत्परता प्रकट करता है कि हम कहें कि हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है क्योंकि इस ढाँचे के घटक परस्पर अत्यधिक घनिष्ट होते हैं।

यह ढाँचा इतना अधिक सशक्त है कि कभी-कभी मनुष्य स्वयं अपने ही संवेगों के बारे में अन्य व्यक्ति द्वारा सुझाया गया निरूपण स्वीकार कर लेगा। उसे स्वीकार्य हो सकता है

कि वह क्रोधित उतना नही था जितना तिरस्कार-भाव या ईर्ष्या से आविष्ट, और यह भी कि उसे पीडा नही थी, वरन् केवल उसका भ्रम था। और इसमे कोई आश्चय नहीं, विशेष कर इसलिये क्योकि यह तथ्य है कि हम सब की तरह उसने भी 'मैं क्रोधित हूँ' अभिव्यक्ति का अपने सबध मे उपयोग, प्रारंभिक तौर पर इस तरह सीखा (अ) उन स्थितियो के अवसर, लक्षण, प्रकटन, आदि पर ध्यान देकर जिनके अतगत अन्य व्यक्ति स्वय अपने सबध मे कहते हैं 'मैं क्रोधित हूँ', (ब) अन्य व्यक्तियो, जिन्होंने किन्ही अवसरों पर उसके सबध मे जितना-कुछ निरीक्षण-योग्य है उस पर ध्यान दिया, द्वारा यह कहे जाने पर कि 'तुम क्रोधित हो'—अर्थात्, तुम कहो 'मैं क्रोधित हूँ'। सक्षेप मे, मात्र 'अनुभूतियो' या 'सवेगो' के सबध में सदेहरहित हो सकना बडा कठिन है, यदि ऐसी वस्तु-स्थितियाँ सचमुच हो तब भी।

फिर, सवेगो के लिये प्रयुक्त शब्दो के दो तरीको से अस्पष्ट होने से भी, हमें क्रोधित व्यक्ति के लिये कह सकने में भिभक होती है कि उसका क्रोधित होना हम 'जानते' हैं। इन शब्दो का विस्तार विभिन्न प्रकार की स्थितियो तथा अस्पष्ट प्रकारों वाली स्थितियो तक होता है और इनकी परिधि में आने वाले ढाँचो मे से प्रत्येक जटिल (यद्यपि सामान्य और इसलिये पहिचाने जा सकने योग्य) होता है, जिसमे कि कम-अधिक आवश्यक विशिष्टताओ मे से किसी एक का परित्याग सरल हो जाता है, और इस तरह यह कहने मे झिझक होने लगती है कि ऐसी अपारपरिक स्थिति के बारे मे क्या कहे। हम यह अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम कहे कि हम जानते हैं तो हमें सिद्ध करने की चुनौती स्वीकार करना होगा, और इस सबध मे शब्दो की अस्पष्टता मुख्य बाधा है।

अब तक यह स्पष्ट करने के लिये सभवत हमने काफी-कुछ कहा कि हमारे इस कथन की कि हम जानते हैं कि अमुक चीज कोमल है अधिकाश कठिनाइयाँ हमारे उस कथन में और अधिक मुखर हो उठती हैं जब हम कहना चाहते हैं कि हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है। किंतु लगता है, और ऐसा लगना सही है कि बाद वाले कथन की स्थिति में कोई अतिरिक्त व विशिष्ट कठिनाई है।

यह कठिनाई सभवत वही है जो श्री विसडम ने अपने 'अन्य मनस्' पर लेख-माला के आरभ मे ही उठाया है। प्रश्न है, क्या सभव नही कि व्यक्ति क्रोध के सभी लक्षण (अभिव्यक्ति और बाकी सब-कुछ), प्रदर्शित तो करे, और अतहीन ढग से प्रदर्शित करता भी रहे, किंतु फिर भी (वस्तुत) क्रोधित न हो ? वहाँ याद रखना चाहिये कि श्री विसडम इस कठिनाई को, केवल एक पूर्व-मान्यता के रूप मे किसी भी 'भौतिक पदार्थ' की वास्तविकता के सबध में उठने वाली कठिनाई की तरह समझते हैं। किंतु वस्तु-स्थिति यह है कि इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।

यहाँ तीन शकायें उठती प्रतीत होती हैं

(१) सभी तरह से क्रोधित दिखाई पडने पर भी, क्या यह सभव नही कि वह किसी अन्य सवेग से आविष्ट हो—इस तरह कि यद्यपि साधारणत. वह उसी सवेग का अनुभव व

प्रदर्शन करता है जो हम उसकी स्थिति में होने पर करते, फिर भी इस विशेष स्थिति में उसका व्यवहार असाधारण है ?

(२) सभी तरह से क्रोधित दिखाई पड़ने पर भी, क्या यह संभव नहीं कि वह किसी अन्य संवेग से आविष्ट हो—इस तरह कि उन अवसरों पर जब हम उसकी स्थिति में होने पर क्रोधित अनुभव करेंगे तथा क्रोधानुभव होने पर जैसा व्यवहार करेंगे, उसकी अनुभूति साधारणतः ऐसी होती है जिसका अनुभव यदि हमें हो तो हम उसे क्रोध से अलग समझेंगे ?

(३) सभी तरह से क्रोधित दिखाई पड़ने पर भी, क्या यह संभव नहीं कि उसे किसी संवेग की अनुभूति न होती हो ?

हमारे दैनिक जीवन में ये सभी समस्यायें विशेष स्थितियों में उठती हैं और परेशानी पैदा करती हैं । हमारी परेशानी हो सकती है (१) यह हमें कोई धोखा तो नहीं दे रहा—अपने संवेगों को दबा कर या अननुभूत संवेग का बहाना कर, (२) हम कभी किसी को (या वह हमें) गलत तो नहीं समझ रहे यह गलत मान्यता कर कि वह 'हमारे ही जैसा अनुभव' करता है, कि हमारे ही जैसे संवेग उसके हैं, अथवा (३) क्या अन्य व्यक्ति का व्यवहार ऐच्छिक है, या अनैच्छिक या केवल प्रमाद-जन्य । ये तीनों प्रकार की परेशानियाँ उन व्यक्तियों के व्यवहार के संबंध में उठ सकती हैं, और प्रायः उठती हैं, जिन्हें हम अच्छी तरह जानते हैं । हमारे अकेलेपन के अनुभव में ये तीनों संयुक्त रूप में कार्यरत होती हैं । ...

वास्तविकता' से संबंधित इन तीनों में से एक भी कठिनाई कोयल और रोटी के संबंध में नहीं उठती । कोयल को पूर्व-मान्य नहीं किया जा सकता है और न ही रोटी को मन के अन्दर दबाया जा सकता है । मरुद्यान के रूप से हमें धोखा हो सकता है, या हम मौसम के लक्षणों से गलत अर्थ समझ सकते हैं, किंतु मरुद्यान हमारे अंदर नहीं हो सकता और न ही हम तूफान को उस तरह गलत समझ सकते हैं जैसा कि व्यक्ति को समझते हैं ।

यद्यपि ये कठिनाइयाँ विशिष्ट हैं, उनसे निपटने का ढंग, प्रारंभिक तौर पर, उसी तरह है जैसे कि कोयल के संबंध में प्रयुक्त होता है । धोखा या गलत समझ या असावधानी की संभावित स्थितियों से निपटने के स्थिर तरीके हैं । इन तरीकों द्वारा हम प्रायः ही स्थापित करते हैं (यद्यपि सर्वंथ ऐसा कर सकने की आशा नहीं करते) कि कोई केवल नाटक कर रहा है, या कि हम उसे गलत समझ रहे थे, या कि किसी विशेष संवेग के संबंध में वह बिलकुल अभेद्य है, या कि उसका व्यवहार ऐच्छिक न था । ये विशिष्ट स्थितियाँ, जिनमें शंकायें उठती हैं और जिनका निराकरण करना होता है, उन सामान्य स्थितियों से अलग समझी जाती हैं जिन्हें तद्रूप में सही समझा जाता है, जब तक कि कोई ऐसा विशेष सुझाव न हो कि उनमें धोखा, आदि, की आशंका है—ऐसा धोखा जो उन परिस्थितियों में समझा जा सके, अर्थात् प्रस्तावित प्रेरक तत्व, आदि, की बिना पर जिसकी छानबीन की जा सके । यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि मैं कभी नहीं जान पाता कि अन्य व्यक्तियों के संवेग क्या हैं, और न ही यह कि विशेष स्थितियों में मैं बिना विशेष कारण के या बिना विशेष ढंग से गलत हो सकता हूँ । ......

अन्य व्यक्ति की मन स्थिति को जानने के सबध मे उसके एक और विशेष लक्षण की चर्चा आवश्यक है जो उसे कोयल वाली स्थिति से बिल्कुल पृथक् करती है । जैसाकि हमने पहले कहा, कोयल, एक भौतिक वस्तु, लेखा-और भाषा विहीन है किंतु मनुष्य की भाषा है। परिस्थितियो के उस समिश्रण लक्षण-समुदाय, अवसर, प्रदान, आदि–मे, जो हमे यह कहने को प्रेरित करता है कि हम जानते हैं कि दूसरा व्यक्ति क्रोधित है, स्वय व्यक्ति के अपनी अनुभूतियो सबधी कथन का एक अपना स्थान होता है । साधारणत हम बेहिचक यह कथन स्वीकार कर लेते है, और फिर कहते हैं कि हम जानते हैं (साक्ष्यापेक्ष) कि उसकी अनुभूतियाँ क्या हैं यद्यपि यहाँ 'साक्ष्यापेक्षा से' जानने का यह तात्पय लेना बिल्कुल ठीक नही कि उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति का जानना प्रत्यक्ष या स्वत अनुभूत हो सकेगा, और इसीलिये शायद व्यवहार मे इसका उपयोग नही होता । असाधारण स्थितियों में, जहाँ उसका कथन उस विवरण से मेल नहीं खाता जो हम स्वय उस स्थिति का देना चाहते, हमे उसके कथन को स्वीकारने की बाध्यता नही होती, यद्यपि उसे अस्वीकारने मे हमे सदैव कुछ असुविधा होती है । यदि व्यक्ति आदतन झूठा या आत्म-प्रवचक हो, या यदि इसके अकाट्य प्रमाण हो कि क्यो वह इस अवसर पर झूठ बोल रहा या स्वत से छल कर रहा, तो फिर हमे असुविधा नही होती किंतु यदि हम ऐसी स्थिति की कल्पना करें जहाँ व्यक्ति अपने जीवन भर यह दिखाने की कोशिशो के बाद कि उसने एक अधकचरी मान्यता पर हृदय से विश्वास किया, अपनी वैयक्तिक डायरी मे लिख जाये कि उस मान्यता पर सचमुच उसका विश्वास कभी नहीं रहा, तब शायद हम कभी न जान पायेंगे कि क्या कहे ।

निष्कष के रूप मे, अन्य व्यक्ति के स्वय अपनी अनुभूतियों के कथन पर हमारे विश्वास के महत्वपूर्ण विषय पर एक बात और । मुझे अच्छी तरह ज्ञात है कि यहाँ मेरा माग सुगम नही, तथापि मेरा पक्का विश्वास है कि, प्रस्तुत प्रसग मे, समग्र विषमावस्था के लिये यह आधारभूत है । इसकी स्पष्टता ही इस पर पर्याप्त ध्यान न दिये जाने का कारण रही है ।

व्यक्ति का स्वय अपना कथन मुख्यत चिन्ह या लक्षण नही, यद्यपि परोक्षत या कृत्रिम तौर पर उसे वैसा समझा जा सकता है । वस्तु स्थिति के तथ्यों के योग मे उसका एक विशिष्ट स्थान है । तब प्रश्न है · 'उस व्यक्ति पर विश्वास क्यों करें ।

इस प्रश्न का उत्तर सभव है । यहाँ प्रश्न को केवल 'अभी उस पर क्यो विश्वास करें ?' जैसा न समझ 'कभी भी उस पर क्यों विश्वास करें ?' के सामान्य अथ में लेना होगा । हम कह सकते हैं कि भूतकाल मे उसकी अपनी अनुभूतियो को छोड अन्य विषयों पर उस व्यक्ति के कथन लगातार हमारे समक्ष रहे, और सदैव ही हमने उन्हें अपने निरीक्षणों के आधार पर सत्य पाया इस तरह सामान्य रूप में उसकी विश्वासपात्रता के हमारे अनुमान का एक वास्तविक आधार है । या कहा जा सकता है कि उसके व्यवहार की अति सरल 'व्याख्या' यह है कि वह हमारे ही जैसे सवेगों की अनुभूति करता है—उसी तरह जैसे मनोविश्लेषक, 'अचेतन इच्छाओं' की शब्दावली का प्रयोग करते समय, असाधारण व्यवहार की व्याख्या साधारण व्यवहार से उसकी सादृश्यता के आधार पर देते हैं ।